आनन्द उल्लास



स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती

संकलनकर्त्री- श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

श्री गुरवे नमः

श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गु
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
श्री गुरवे नमः
गुरवे नमः
गुरवे नमः
गुरवे नमः
गुरवे नमः
गुरवे नमः
गुरवे नमः

श्री गुरवे नमः

आनन्द उल्लास

•

अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

•

संकलन-कर्त्री

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६, बी. जी. खेर मार्ग
मालाबार हिल, बम्बई–४०० ००६

•

प्रथम संस्करण ३०००
आनन्द-जयन्ती : ५–८–८६
सम्वत् : २०४३ वि०

•

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
सीके. ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी–२२१००१

श्रीहरिः

शुभाशीर्वाद !

भगवान्‌ने चराचर जगत्‌को स्वसत्तासे और स्वसत्तामें ही जीवनदान किया है। सत्‌से सदाचार, चित्‌से ज्ञान और आनन्दसे सुखानुभूति। उसकी अद्वितीयता ही सबको प्रेमरससे सिक्त करती रहती है। इस सम्बन्धमें मैं कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा लिखता रहा हूँ। कुछ विभिन्न लोगोंके प्रश्नोंके उत्तर भी हैं— श्रीमती कुन्तीदेवी धर्मचन्द जालानने बड़ी सावधानी, लगन और प्रेमसे इसका संकलन किया है। उन्हींके उत्साहसे यह प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रेमपूर्ण शुभकार्यके लिए मैं उन्हें बहुत-बहुत शुभाशीर्वाद देता हूँ और प्रेरणा देता हूँ कि सत्साहित्यके द्वारा वे इसी प्रकार दीर्घकालतक मनुष्य-जातिकी सेवा करती रहें।

बम्बई

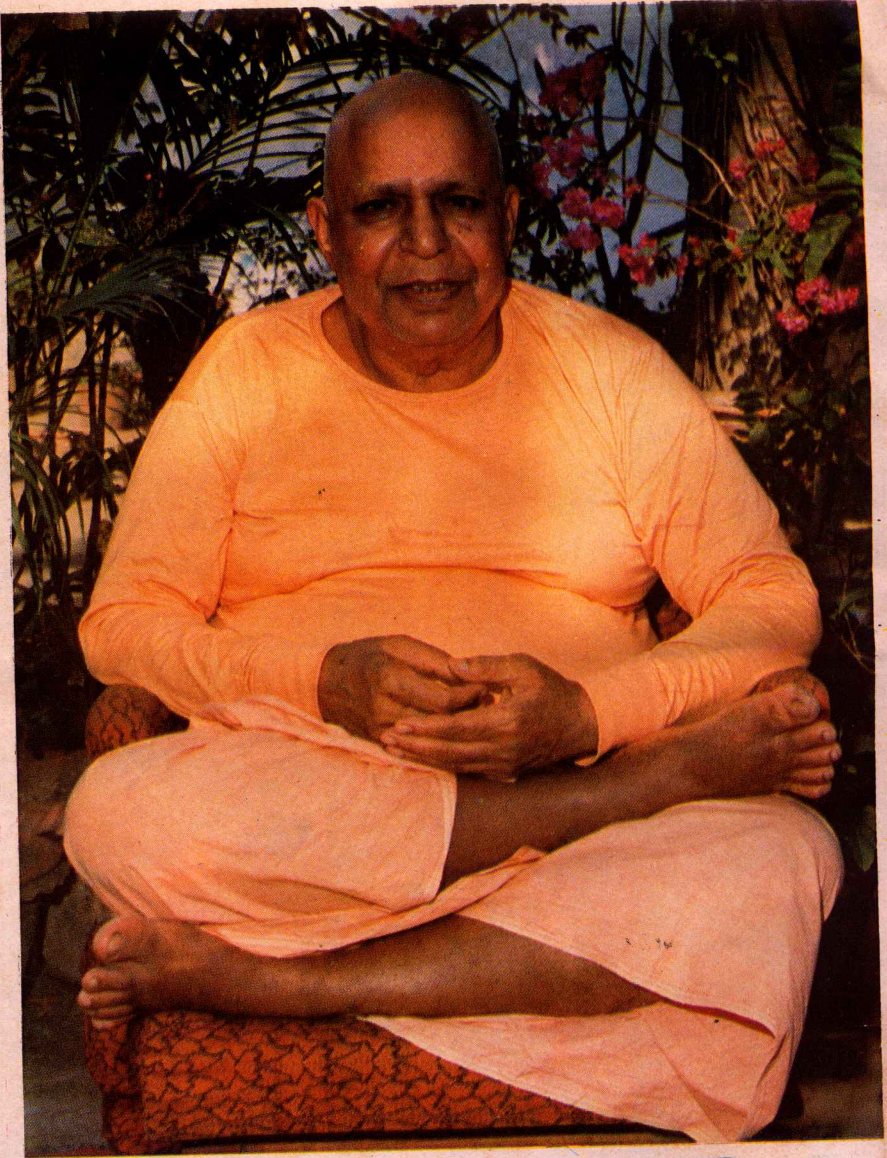
१६-७-१९८६

अखण्डानन्द (सरस्वती)

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
४७.	दीक्षा : जीवनका आवश्यक अंग	१[illegible]५
४८.	जीवनमें स्थिरता	१३८
४९.	आस्तिकता	१४६
५०.	प्रेम	१५४
५१.	ईर्ष्या मिटानेका सरल उपाय	१५८
५२.	कड़वी और मीठी दवा !	१६१
५३.	गोपियोंका प्रेम	१६५
५४.	अनुकूल भावसे चिन्तन कीजिये !	१६८
५५.	सब रोगोंकी औषधि : गुरु	१७१
५६.	बुद्धि और मन	१७८
५७.	लक्ष्मी-प्राप्तिका उपाय	१८१
५८.	श्रद्धा	१८४
५९.	व्रज-महिमा	१८५
६०.	जिज्ञासा	१९०
६१.	ईश्वरके कानून बिलकुल अलग	१९४
६२.	भागवत—आसक्तिकी दवा	१९५
६३.	संसार-वृक्ष	१९९
६४.	बनावट छोड़ दीजिये !	२०३
६५.	प्रशंसकोंसे सावधान !	२०७
६६.	वाणी-दोषसे छूटनेका उपाय	२११
६७.	आप अच्छे रास्तेपर चलिये !	२१६
६८.	भगवान्‌को अपना रिश्तेदार बनाइये !	२२२
६९.	वासुदेवः सर्वमिति	२२६
७०.	तीर्थयात्रा क्यों ?	२३२
७१.	सुखी रहनेकी युक्ति	२३९
७२.	काम-निवृत्तिका उपाय	२४२
७३.	बुद्धियोग और कर्मयोगका विवेक	२४८
७४.	मानस रोगकी अचूक चिकित्सा : पुराण	२५४
७५.	विलक्षण माँग	२५७
	• हृदय-रत्नाकरके सीकर	२६५-२७४
	• कभी-कभी	२७७



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

आशीर्वाद

आशीर्वाद

• गुरुपूर्णिमा

(१)

ब्रह्मज्ञान होनेसे जिसके सारे अभिमान निवृत्त हो चुके हैं, जिसका व्यक्तिगत जीवन भक्तिभावसे भरपूर है एवं जिसका चरित्र धर्मानुष्ठानसे निर्मल ओर उज्ज्वल है, जिसके सान्निध्य, आलाप और स्मरणसे लोगोंके जीवनमें पवित्रता, सद्भावना तथा उत्साहकी स्फूर्ति होती है—उसको महात्मा कहते हैं।

(सन् १९६२ ई०)

(२)

जिसको व्यवहारमें सत्यसे प्रेम नहीं है, वह सत्यका जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। जिसको व्यवहारके लिए सत्य-भाषण, सदाचरण आदिके रूपमें सत्यकी आवश्यकता होती है, उसे ही सत्यकी जिज्ञासा होती है और अनुभव होता है। सत्य अविनाशी तो है ही, पूर्ण एवं अद्वितीय चेतन भी है। इसीके नाम हैं—ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा। उसीका व्यावहारिक रूप है महात्मा।

(सन् १९६३ ई०)

(३)

आयान्तु सर्वे पुत्रा ये पृथिव्याः पश्यन्तु देवमभितो भ्राजमानम्।
अमृतं ज्योतिर्यद्‌ दिवोऽतीत्य तिष्ठत् तदस्मिन् दहरेऽसंवृतं सं चकास्ति॥

'पृथिवीके सभी पुत्र यहाँ आयें और सभी ओरसे प्रकाशमान परमेश्वरका दर्शन करें। जो अमृतमय ज्योति तीनों लोकोंसे परे विराजमान है, वही इस हृदय-मन्दिरमें बिना किसी आवरणके भली-भाँति जगमग-जगमग झलक रही है।

(सन् १९६४ ई०)

(४)

अपनी निष्ठा सम्पूर्ण क्लेशोंके नाशके लिए पर्याप्त समर्थ है। प्रत्येक परिस्थितिमें धर्मात्माका धर्माचरण, भक्तका भगवद्विश्वास और वेदान्तीकी ब्रह्मदृष्टि उसका योगक्षेम वहन करती है। आप अपनी निष्ठाको असमर्थ कभी न मानें। सबसे बड़ा ब्रह्मास्त्र है।

(सन् १९६६ ई०)

(५)

ॐ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।

अथर्ववेद ३.६.३०.१

मैं आप लोगोंमें सहृदयता, मानसिक पवित्रता और रागद्वेष-राहित्यकी प्रतिष्ठा करता हूँ। जैसे अवध्य गाय अपने छोटे-से बछड़ेसे स्नेह करती है, वैसे ही आप परस्पर एक दूसरेसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें।

(सन् १९६७ ई०)

(६)

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ।।

ऋ. मं. १०, सू. ६० मन्त्र १२

यह मेरा हाथ भगवान् अर्थात् दुष्करसे दुष्कर कार्य करनेमें भी समर्थ है। यह मेरा हाथ भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है अर्थात् इन हाथोंके द्वारा कर्म करनेपर भगवान्‌को भी फल देनेके लिए बाध्य होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्वके सम्पूर्ण रोगोंका औषध और समस्त समस्याओंका समाधान है। यह मेरा हाथ जिसका स्पर्श कर देता है, वह परम मङ्गलमय शिव हो जाता है।

(सन् १९६८ ई०)

(७)

ॐ ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि योष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमन सस्कृणोमि ।।

अ. ३.३०

'सज्जनो ! बड़ोंके प्रति सम्मान, आत्मीयोंके प्रति कोमलता एवं अपने प्रति निरीक्षणकी दृष्टि रखें। भेदभाव—फूटको प्रश्रय न दें। व्यवहारमें अपने उत्तरदायित्वको समझें। दूसरोंको भी आनन्द एवं सफलताका अवसर दें। परस्पर एक दूसरेसे हित-मधुर भाषण करें। एक दूसरेसे मिल-जुलकर रहें। आइये ! मैं आप सबमें श्रेष्ठता और सौमनस्यकी प्राण-प्रतिष्ठा करता हूँ।

(सन् १९७० ई०)

(८)

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥
अ. ३.३०

मैं आप सबमें सद्भावनाके साथ श्रेष्ठ जीवन और हितकारी मनकी प्राणप्रतिष्ठा करता हूँ। आप सब अपने उत्कृष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए पूर्ण मेल-मिलापके साथ प्रगतिशील बनें, जैसे अमृतकी रक्षाके लिए देवता सदा एकमत रहते हैं, ठीक वैसे ही आप सब प्रातः-सायं अर्थात् सर्वदा परस्पर हितके भावसे संयुक्त रहें।

(सन् १९७१ ई०)

(९)

ॐ कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥
ऋ. १०. ११७. ७

हल खेतकी जुताईमें लगे रहनेपर ही किसानको भोजन देता है, घरमें रखे रहनेपर नहीं। सच्चरित्रतासे चलते रहनेपर ही प्रगति होती है और अपने लक्ष्य—धनकी प्राप्ति होती है, घरमें बैठे रहनेपर नहीं। शास्त्रका अभिप्राय न बतानेवालेकी अपेक्षा बतानेवाला विद्वान् श्रेष्ठ एवं प्रियकारी होता है। न देनेवाला किसीका मित्र नहीं होता। दान करने-वाला उससे आगे बढ़कर सबका मित्र हो जाता है।

(सन् १९७२ ई०)

(१०)

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋ. १०.१९१-२

आप सब संघटित हो जायें। कदमसे कदम मिलाकर चलें। एक स्वरमें बोलें। परस्पर विरोध न करें। आप सबका मन एक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए एक-सा ज्ञान और प्रयत्न स्वीकार करे। हमारे पूर्वज, विद्वान् एवं देवगण इसी प्रकार एकमत होकर अपना लक्ष्य प्राप्त किया करते थे। आप भी मतभेद छोड़कर ठीक ऐसा ही करें।

(सन् १९७३ ई०)

(११)

मधुमन् मे निक्रमणं मधुमन् मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

अथर्व. १.३४.३

मधुमय प्रभो, आपकी प्रेरणासे सामने उपस्थित योगक्षेम-सम्बन्धी कर्त्तव्योंमें मेरी प्रवृत्ति मधुमयी हो। अर्थात् उससे अपनेको और दूसरोंको सुख मिले। मेरे दूरगामी कर्त्तव्य भी मधुमय हों। मैं वाणीसे मधुमय ही बोलूँ। सभी लोग मुझे मधुमयी दृष्टिसे प्रेमपूर्वक देखें।

(सन् १९७४ ई०)

(१२)

ॐ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ऋ. १.१.९

एक सत्-पिता अपने पुत्रको आगे बढ़ाता है, सुलभ होता है और पुत्रके कर्ममें सहयोग करता है। इसी प्रकार हे परमेश्वर, आप मुझे आगे बढ़ाइये, सुलभ हो जाइये और संकल्पपूर्त्तिमें हमारी सहायता कीजिये।

(सन् १९७५ ई०)

(१३)

ॐ पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः ।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥

शुक्लयजुर्वेद १८.३६

सम्पूर्ण उन्नति एवं प्रगतिके निधान अग्निरूप गुरुदेव, पृथिवीमें, ओषधियोंमें, द्युलोकमें एवं अन्तरिक्षमें मेरे लिए पुष्टि-रस-रूप पय स्थापित कर दो। सब दिशा-विदिशाएँ मेरे लिए पयसे परिपूरित हो जायें।

(सन् १९७६ ई०)

(१४)

मनका एकाग्र होना, निरुद्ध होना या किसी अच्छे काममें लग जाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उसका अपने वशमें रहना। सम्पूर्ण साधनोंका सार मनकी उच्छृङ्खलता और स्वच्छन्दता हटाकर उसे आज्ञाकारी बनाना है। यह बात केवल गुरुजनोंके सत्सङ्गसे ही आ सकती है।

(सन् १९७७ ई०)

(१५)

आत्मा-परमात्मा या ब्रह्मका स्वभाव सहिष्णु है। उसका चाहे कोई कुछ नाम रखे या किसी रूपमें देखे, वह न किसीको मना करता है और न प्रसन्न होता है। अच्छा देखो या बुरा, जड़ देखो या चेतन, वह एकरस ज्यों-का-त्यों रहता है। क्या सदा आप अपने स्वभावमें रहते हैं? क्या सब कुछ एकरस रहकर सह लेते हैं? ऐसा है तो वस्तुतः आप सत्यमें प्रतिष्ठित हैं।

(सन् १९७८ ई०)

(१६)

अपने ग्रहण किये हुए नियमको कष्ट सहन करके पालनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। भगवत्-प्रीत्यर्थ लोकहितकारी दीर्घकालिक योजना बनाकर उसको पूर्ण करनेका इमानदारीसे प्रयत्न करनेपर आयुकी वृद्धि होती है। सब परमात्मा ही है—यह अनुभव करनेसे अन्तःकरणके राग-द्वेष पूर्णतः निवृत्त हो जाते हैं।

(सन् १९७९ ई०)

(१७)

आप विचारके अनुसार बोलते हैं या विकारके अनुसार। जब आप चुप रहते हैं तब, आपके मनमें किस प्रकारका चिन्तन होता है, शत्रुका या

मित्रका, अनुकूल या प्रतिकूल या सर्वथा चिन्तन-रहित हो जाते हैं ? आपके हृदयमें परमात्माका निवास है। जब आपका संसार-चिन्तन बन्द हो जाता है तब परमात्माकी वाणी सुनायी पड़ती है। सावधान ! कल्पवृक्षके नीचे बैठे हो, शुद्ध चिन्तन करोगे तो शुद्ध सत्यका साक्षात्कार होगा।

(सन् १९८० ई०)

(१८)

क्षमा पृथिवीका स्वाभाविक गुण है। कोई खोदे, पीटे, गन्दा करे—वह सबको समान रूपसे क्षमा करती है। अपराधीको क्षमा करनेसे अपराध सीमित–एक स्थानमें ही रह जाता है। क्रोध करनेसे अपराधकी वृद्धि होती है। संसार-चिन्तनसे मुक्त रहकर आतम-चिन्तनके लिए क्षमा परमावश्यक है। क्षमा-शक्ति केवल सत्पुरुषोंकी सेवासे मिल सकती है। मिट्टीसे बने शरीरमें क्षमा सहज हो जानी चाहिए।

(सन् १९८१ ई०)

(१९)

वेदोंके अनुसार सूर्य चराचर जगत्का आत्मा है, अर्थात् जैसे व्यवहारमें लोग अपना-अपना हित चाहते और करते हैं, वैसे ही सूर्य सबका हित करते रहते हैं। वे सबके जीवन-निर्वाह, प्रकाश-दान और आनन्दमें सहायक होते हैं। उनके जीवनमें विश्राम नहीं है। सर्वदा अपने कर्तव्यमें तत्परता है। भगवान्के प्रथम कर्मयोगी शिष्य वही हैं। क्या आप उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करते हैं ?

(सन् १९८२ ई०)

(२०)

चरित्रशुद्धि धर्म, भक्ति एवं ज्ञानका मूल है। चरित्रशुद्धिके बिना अन्तःकरणशुद्धि, मोक्ष, भगवद्-दर्शन और भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। आप निरन्तर चरित्रशुद्धिकी ओर बढ़ रहे हैं, ऐसा मेरा विश्वास है। आप मेरे विश्वासको और दृढ़ बनाइये !

(सन् १९८३ ई०)

(२१)

आप अपने जीवनमें श्रद्धा एवं दृढ़ताके साथ किसी नियमका पालन करते हैं ? यह नियम आपके जीवनमें तपस्या, सहन-शक्ति, चरित्र शुद्ध रखनेकी शक्ति तथा जीवन्मुक्ति प्रदान करेगा। नियम शास्त्र, सत्-सम्प्रदाय एवं सद्‌गुरुके आदेशानुसार होना चाहिए। उसका पालन करनेके लिए आपको जितना कष्ट सहना पड़े, सहते चलिये। भगवान् आपका मङ्गल करेंगे !

(सन् १९८४ ई०)

(२२)

सब सद्‌गुणोंका सार है शान्ति ! शान्ति जिन दोषोंको निवृत्त करती है, उनकी प्रधानतासे शान्तिके अलग-अलग नाम हो जाते हैं। लोभकी शान्ति सन्तोष। क्रोधकी शान्ति अहिंसा। कामकी शान्ति ब्रह्मचर्य। अभिप्राय यह है कि यदि आपका चित्त शान्तिसे भरपूर रहे तो आपके जीवनमें कोई दोष नहीं आयेगा।

(सन् १९८५ ई०)

* **दीपावली**

(२३)

ॐ असतो मा सद् गमय
ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय
ॐ मृत्योर्मा अमृतं गमय

वृहदारण्यक १-३-२८

आविराविर्म एधि

हमें असत्‌से मुक्त करके सत्‌का अनुभव दीजिये।
अज्ञान तमसे मुक्त करके परमानन्दमय अमृतका अनुभव दीजिये।
हमें मृत्युसे मुक्त करके परमानन्दमय अमृतका अनुभव दीजिये।
हमारे सम्मुख निरावरण प्रकट होकर सर्वत्र दर्शन दीजिये।

(सन् १९७५ ई०)

(२४)

ॐ सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा।
अथा नो वस्यसस्कृधि।

ऋ. ९.४.२ सामवेद १०४८

पवित्र, मधुर एवं प्रिय सोमरूप परमेश्वर! हमें सदा प्रकाश, ज्योतिका दान करो। सदा सुख दो। सदा सम्पूर्ण सौभाग्य दो और अन्ततः हमें श्रेय और निःश्रेयस प्रदान करो!

(सन् १९७६ ई०)

(२५)

हृदय मन्दिर है, आत्मज्ञान दीपक है। उसके प्रकाशमें अन्तर्यामी परमात्माका दर्शन होता है। आत्माकी जगमग ज्योतिमें ही परमात्मा भरपूर है। ज्योति अनेक हैं, परमात्मा एक है। वही सबका आत्मा है। सबकी पूजा ही परमात्माकी पूजा है। आत्मज्ञानकी ज्योति सदा प्रकाशित रहे!

(सन् १९७७ ई०)

(२६)

माका अर्थ है—वस्तुका यथार्थ ज्ञान। अमाका अर्थ है—अज्ञान-अन्धकार। अज्ञानमयी प्रकृतिमें जगमगा रहे हैं—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, तारे, इन्द्रिय, मन एवं जीव। ये अलग-अलग दीपक हैं। इनमें एक अद्वय प्रकाश है। वही सर्वावभासक एवं स्वप्रकाश है। वस्तुतः वही परमसत्य परमात्मा और आपका आत्मा है।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः। मु. २.२.९

(सन् १९७८ ई०)

(२७)

सम्पूर्ण व्यवहारका मूलाधार है—विश्वास। इसीमें स्नेह—प्रेमका निवास है। प्रेमसे किया हुआ काम अमृतमयी सेवा बन जाता है। इसीसे अन्तर्ज्योति प्रकाश-दीपका आवरण भङ्ग होता है। ऐसा अनुभव होने लगता है, मानो स्वयं भगवान्‌की पूर्णता अनन्त ज्ञान-दीप लेकर प्रकट हो गयी है। परमानन्द अनुभवके लिए दृढ़ विश्वास ही मूल साधन है।

(सन् १९७९ ई०)

(२८)

'दीप'का अर्थ है—दीप्ति या चमक देनेवाला—चमचम चमकनेवाला। मनमें, तनमें, भवनमें जगमग ज्योति झिलमिलाये। आन्तर एवं बाह्य शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके उत्साहसे उत्सव मनाइये। कृषिलक्ष्मी एवं स्वर्णलक्ष्मीका सत्कार कीजिये। मनकी मलिनता धो डालिये। इस प्रकार-के पावन पर्वपर आत्मा एवं परमात्माके मध्यमें आये हुए मिथ्या आवरणको भङ्ग कर दीजिये। बाहर प्रकाश, भीतर प्रकाश!

(सन् १९८० ई०)

(२९)

जैसे पात्ररूप दीपक, घृत-तैलादिरूप स्नेह, वर्त्तिका और लौ—इन सबकी चमक अलग-अलग होती है, परन्तु सबमें प्रकाश एक ही होता है, वैसे ही मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष आदिमें भी चमक अलग-अलग है। नाम, रूप, गुण, धर्म भी अलग-अलग है। परन्तु सबमें एक ही महा प्रकाशरूप परमात्माका पृथक्-पृथक् प्रकाश जान पड़ता है। उसीके प्रकाश-से सब प्रकाशित होता है। वही सब ज्योतियोंमें एक ज्योति है। दीपावली उसीका दर्शन है।

(सन् १९८१ ई०)

(३०)

सभी इन्द्रियोंमें—आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रिय और वाणी, हाथ आदि कर्मेन्द्रियोंमें एक दिव्य ज्योति चमकती है तथा अपने-अपने विषयों-को प्रकाशित करती है। सभी मनोवृत्तियोंमें उनका रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो, दिव्य मनोज्योति झिलमिलाती रहती है। सभी जीवोंमें, अवस्थाओंमें, मनोंमें और कर्मोंमें एक ही ब्रह्म-ज्योतिकी छटा छलक रही है। इस अनेकतामें एकता ही सच्ची आत्मज्योति, ब्रह्मज्योति है। इसीका अनुभव दीपावली देती है।

(सन् १९८२ ई०)

(३१)

दीपक अनेक हैं। नेत्र भी अनेक हैं। रूप भी अनेक हैं। परन्तु तेजस्-तत्त्व एक है। इसी प्रकार विषय, करण एवं जीवोंके अलग-अलग होनेपर भी एक ही ज्योतिस्तत्त्व जगमगा रहा है, झिलमिला रहा है। उसी एक को देखिये। आप सभी दुःखों, अनर्थोंसे मुक्त हो जायेंगे।

(सन् १९८३ ई०)

(३२)

लोक-परलोककी सभी सुख-सम्पदा दान कर देनेपर भी बलिका समर्पण पूर्ण नहीं हुआ। वह तब सम्पूर्ण हुआ, जब उन्होंने अपना अहं अर्थात् कर्ता-पुरुष परमात्माको समर्पित कर दिया। अहंकार समर्पित करते ही परमात्माका तुरीय-पद उनके सिरपर आगया। 'शरणागति-बोध' ही अवधि है, यही महा-बलिदानका बलिपर्व है। घर-घर दीपावली मनाइये !

(सन् १९८४ ई०)

(३३)

दीपक अनेक हैं। उनमें अलग-अलग ज्योति जगमगा रही है। तेजस् तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। प्राणी मात्रका शरीर दीपक है। वासना घी-तेल है। वृत्ति बत्ती है। चेतन-ज्योति सबमें एक ही है—झिलमिल झिलमिल झलक रही है। प्राणियोंके शरीर, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदिकी सीमा अलग-अलग होनेपर भी परमात्म-ज्योति एक ही है। आप अलगाव मत देखिये, एकता देखिये, राग-द्वेष मिट जायेंगे, आपका जीवन चमाचम चमक उठेगा !

(सन् १९८५ ई०)

• संन्यास-जयन्ती

(३४)

वैदिक आश्रम-व्यवस्थाका अन्तिम रूप है संन्यास। त्याग-वैराग्य ही इसका प्राण है। संन्यासीका जीवन देखकर धनियोंको त्यागकी प्रेरणा मिलती है कि बिना धनके भी सुखी रहा जा सकता है। निर्धनोंकी धन-वासना घटती है। विकारोंकी निवृत्तिके लिए कल्पित संस्कारोंकी निवृत्ति होती है। संन्यासी-जीवन अर्थात् त्यागमय निर्वासन सहज जीवन ! सुखी जीवन !

(सन् १९८२ ई०)

(३५)

'संन्यास' पदका अर्थ है भगवान्के प्रति सम्पूर्ण शरणागति। जीवनका

समग्र भार, खान-पान, वस्त्रनिर्वाह, ममतास्पद, अहंकार, व्यष्टि-समष्टि एवं व्यक्तित्वको पुरुषोत्तम प्रभुपर निर्भर कर देना ही संन्यास है। सम्पदा, शरीर, समग्र अन्तःकरण—जो कुछ भी है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रभुका है, प्रभुमें है, प्रभु ही है। सत्में न्यास, सत्-न्यास अथवा सम्यक् न्यास। न्यास माने जिसका है, उसीका रहे—जो है, वही रहे।

(सन् १९८३ ई०)

(३६)

जैसे संविधानके अनुसार विवाह होता है और संविधानके ही अनुसार उसका परित्याग होता है—स्वच्छन्द नहीं होता, वैसे ही जब शास्त्रीय संस्कारके द्वारा कोई कर्त्तव्य-निष्ठा धारण की जाती है, तो शास्त्रीय विधिसे ही उसका परित्याग होता है। ग्रहण अध्यारोप है और परित्याग अपवाद। यही संन्यासकी उपयोगिता और आवश्यकता है।

(सन् १९८४ ई०)

(३७)

जीवन और उसकी प्रवृत्ति-निवृत्तियोंको सर्वात्मा परमात्माके प्रति सर्मर्पित कर देना ही संन्यास है। प्रभु, अपनी इच्छा नहीं, तेरी इच्छा; जोड़ दे, तोड़ दे, मोड़ दे। तेरी इच्छाका यन्त्र है; सुला दे, चला दे, मिला दे। सदा-सर्वदाके लिए बन्द कर दे। धन्य है! धन्य !!—यही है संन्यासीका मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र। चिन्ता रख दी तुम्हारे पास, स्वयं निश्चिन्त हो गये। न ऊधोका लेना, न माधोका देना। जैसे राखौ, वैसे रहौं।

(सन् १९८५ ई०)

(३८)

ब्रह्मचर्य-आश्रममें सेवा करनेका एवं ज्ञान प्राप्त करनेका स्वभाव बनाया जाता है। गृहस्थाश्रममें उनको व्यावहारिक रूप दिया जाता है। वानप्रस्थ आश्रममें त्याग, निवृत्ति एवं तपस्याका अभ्यास होता है और संन्यास-आश्रममें उनकी पूर्णताका अनुभव किया जाता है। संन्यास अर्थात् अपने अनुभवका जीता-जागता मूर्तिमान् जीवन!

(सन् १९८६ ई०)

(३९)

प्रेरणाका स्रोत

१-१-८५

आपको अन्तःप्रेरणा कहाँसे प्राप्त होती है—क्या बाहरके देखे-सुने विषयोंसे ? तब तो निश्चय ही आपकी प्रेरणा सर्वदा बदलती रहेगी। क्योंकि दर्शन, श्रवणमें अन्तर पड़ता रहेगा, प्रेरणाके रूपमें भी परिवर्तन होता रहेगा। संकल्प, विचार, निश्चय और प्रवृत्तिके भी अनेक आकार आते-जाते रहेंगे। परन्तु, यदि आप बाह्य पदार्थोंके संस्कारसे मुक्त अन्तर्यामीसे प्रेरणा प्राप्त करेंगे और उस अन्तर्यामीसे ही अपनेको और अपनी मतिको मिलाकर रखनेका प्रयास करेंगे तो आपकी इच्छाओंमें एकरूपता आ जायेगी और आपको स्थिरता तथा उस अन्तर्यामी, जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है—से एकता प्राप्त हो जायेगी तथा आप स्वयं सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ताके भण्डार हो जायेंगे।

(४०)

सेवा-निरभिमान

२-१-८५

आपके मनमें दूसरोंकी सेवा करनेकी आकांक्षा अवश्य है, क्योंकि आप दूसरेसे सेवा लिये बिना रह भी तो नहीं सकते। विचारणीय यह है कि आप दूसरोंकी कैसी सेवा करना चाहते हैं—अपने मनकी पसन्दकी या उसके मनकी पसन्दकी ? सुख पहुँचाना चाहते हैं या हित करना चाहते हैं ? यह दोनों अलग-अलग वस्तु है। कभी-कभी एक होती हैं। विवेक करना कठिन है। अपनी वासना सेवामें जुड़ जाती है। आप सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये। अपने द्वारा की हुई सेवासे आप अपनेको गौरवान्वित करते हैं कि नहीं ? यदि ईश्वरकी, सर्वात्माकी, मानवताकी, समाजकी, जातिकी, मजहबकी, वर्गकी या किसीकी भी सेवा करके आपको यह अनुभव होता है कि मैंने एक बहुत बड़ा काम किया तो, वह सेवा दूसरेकी

न होकर आपकी अपनी सेवा हो जाती है। चन्दन अपने सिरमें लगा, माला अपने गलेमें पड़ी, भोग-सुख अपनेको मिला। इसमें सावधान रहनेकी बात इतनी ही है कि सेवामें अभिमानका उदय न हो जाये।

विश्व बहुत बड़ा है। उसकी आवश्यकताएँ और माँग बहुत बड़ी है। आपकी सेवा समुद्रमें एक सीकरके समान भी नहीं है। आप अपने ही भीतर बैठे हुए ईश्वरके ज्ञान, उसकी शक्ति और उसके अद्भुत क्रिया-कलापका अनुभव कीजिये, देखेंगे—ईश्वरसे अलग आपका कोई सत्त्व-महत्त्व नहीं है। आप ईश्वरके यन्त्रके रूपमें बस सेवा करते रहिये!

(४१)

अधिकार

३-१-८५

आपके मनमें कोई कार्य करनेकी रुचि है? सोच-विचार कर लीजिये, आप कौन-सा कार्य करना चाहते हैं! कार्य करनेका निश्चय और आरम्भ करनेसे पूर्व आपको अपनी योग्यता एवं शक्तिकी जाँच-पड़ताल कर लेना चाहिए। आप इन्जीनियर हैं तो डाक्टरीका काम मत कीजिये, वैज्ञानिक हैं तो दार्शनिक मत बनिये। जिस विषयकी विशेष योग्यता आपने प्राप्त की है, उसीमें हाथ डालिये! आप क्या चाहते हैं, आपमें क्या करने का सामर्थ्य है, आप उस विषयको अच्छी तरह समझते हैं कि नहीं, आपके लिए वह निषिद्ध अर्थात् गैर-कानूनी तो नहीं है—इन सब बातों पर विचार करके निश्चय कीजिये!

आप जो काम करने जा रहे हैं उससे आप अपनी कौन-सी कामना पूरी करने जा रहे हैं? कामना पूरी होनेके बाद निवृत्त हो जाती है; उसके विषयमें अरुचि हो जाती है, कभी-कभी तो ग्लानि भी हो जाती है—इसलिए जो कामना हो वही काम करना—यह प्रवृत्ति युक्तिसङ्गत नहीं है! कार्य करनेका प्रयोजन होता है, वह कामसे विलक्षण है। प्रयोजन-पूर्तिका अर्थ है कि उससे जो वस्तु मिले वह अपने साथ रहे, वह अपने साथ मिल जाये! जो छूट जाता है सो काम है, जो अपने साथ मिलकर रहता है वह प्रयोजन है! अपने अधिकार, कार्यकी रूप-रेखा, सामर्थ्य, समझदारी, विहित और प्रयोजन पर ध्यान रखकर ही कोई कार्य करना चाहिए।

आप जो कार्य कर रहे हैं उससे आपका प्रयोजन पूर्ण हो जायेगा ना ? क्यों ? प्रयोजन क्या है ? सदाचारके संस्कार, सद्भाव, भगवद्भक्ति या तत्त्वज्ञान ? ये मिलेंगे तो अपने साथ रहेंगे।

(४२)

संकल्प

४-१-८५

वैदिक संस्कृतिका एक नियम है कि कोई भी काम करना हो तो सबसे पहले संकल्प करना चाहिए। संकल्प माने—सम्यक् कल्पना, साङ्गोपाङ्ग योजना। योजनाके बिना जो-जो कर्म आरम्भ किया जाता है उसमें बीच-बीचमें विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है। यह बात केवल वैदिक कर्मोंपर ही नहीं, व्यावहारिक कर्मोंपर भी लागू होती है।

संकल्पमें क्या होता है—

१. विघ्नेश्वर श्रीगणेशका स्मरण।
२. भगवत्-स्मरण।
३. वह कार्य करनेके लिए कौन-सा स्थान उपयोगी होगा।
४. वह कार्य किस समय करना ठीक रहेगा अर्थात् परिस्थितिका विचार कर लेना चाहिए।
५. करनेवाले ब्राह्मण या श्रमिक कहाँ मिल सकेंगे।
६. मुझे स्वयं क्या-क्या करना पड़ेगा।
७. सामग्रीकी सुलभता कहाँ रहेगी।
८. यह कार्य कितने दिनोंमें सम्पूर्ण होगा।
९. इससे हमारी वासनाकी पूर्ति या निवृत्ति कहाँ तक हो सकेगी।
१०. हमारी परम्परामें यह काम होता रहा है या नहीं।
११. हम यह काम बड़ोंकी आज्ञासे कर रहे हैं या मनमाने ढङ्गसे।
१२. हमारा निश्चय कितना दृढ़ है।
१३. इस कार्यसे जो फल होगा वह कितना स्थायी होगा—विनश्वर या अविनाशी ?

इन सब विषयोंका विचार हमारा संकल्प सूचित करता है। आप यज्ञ कीजिये या फैक्टरी बनाइये—सबमें यह उपयोगी होगा।

•

(४३)

सजग रहिये !

५-१-८५

निकम्मा रहना जड़तासे एक होना है, अर्थात् जड़ होना है। आलस्य, निद्रा, प्रमाद तमोगुण हैं। इसमें चेतनता और आनन्द दोनोंका लोप हो जाता है। कर्म करनेसे बुद्धि एवं रस दोनोंकी उत्पत्ति होती है। निषिद्ध-कर्म वासनाके अनियन्त्रित वेगका सूचक है। वह काम, क्रोध, लोभ या मोहकी तीव्रतामें हुआ करता है। इसी वासना-वेगको रोकनेके लिए जीवनमें धर्मकी आवश्यकता होती है। धर्म—अर्थात् अपने मन और इन्द्रियोंको रोक लेनेकी शक्ति—संयम। इसमें—क्या लेना, क्या करना, क्या भोगना और क्या बोलना—यह निश्चय होता है। आज्ञा-पालन धर्म है। आज्ञाका उल्लंघन अधर्म है। धर्मानुसार निश्चयकी स्थिरता जीवनको शक्तिशाली बनाती है।

आज्ञाका पालन वासनाको नियमित करता है। धर्म जब किसी कामनासे किया जाता है तब, वह स्वयंमें गौण हो जाता है और उससे चाही जानेवाली वस्तु मुख्य हो जाती है। सकाम व्यक्ति दीन-हीन एवं मलिन होता है। कर्मकी निष्कामता अन्तःकरणकी शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर या तो समाधि लग जायेगी या तो आत्म-चिन्तन होने लगेगा। विचारकी अन्तर्मुखता ही अन्तःकरण-शुद्धिका प्रकाश है। इसी प्रकाशमें अनात्मा, दृश्य अथवा द्वैतका भावाभाव प्रकाशित होता है, आत्माकी अद्वितीयताका बोध होता है। अतः निकम्मेपनसे बचके, निषिद्ध-कर्मका त्याग करके, कामनाओंको शान्त करके, निःसंकल्पता एवं आत्म-चिन्तन जीवनका मुख्य साधन है। आत्म-चिन्तन व्यवहारका विरोधी नहीं है, निष्काम भावसे व्यवहार करते हुए भी आत्म-चिन्तन हो सकता है। आत्म-चिन्तनके बिना व्यवहारमें दीनता, हीनता, मलिनताका भाव नहीं मिटेगा; अशान्ति दुःख और मूर्खता बनी ही रहेगी। अतः सावधान रहना चाहिए।

•

(४४)

कर्त्तापन-एक भ्रम

७-१-८५

कर्म होते हैं। उनका उपादान क्या है—प्रकृति, तीन गुण, ईश्वर, अनेक वस्तुओंका मिश्रण अथवा और कुछ ? इस विषयमें बहुत मतभेद हैं। काल, पूर्वकर्म, स्वभाव, आकस्मिकता—अनेक प्रकारके विचार हैं—कर्मोंके निमित्त और उपादानके सम्बन्धमें। मुख्य बात यह नहीं है कि कर्म हो रहे हैं या नहीं, यह भी मुख्य नहीं है कि वे सकाम हो रहे हैं या निष्काम—मुख्य बात यह है कि आप अपनेको उनका कर्त्ता मानते हैं कि नहीं ? अनिर्वचनीय कारणसे हुए कर्मका अपनेको कर्त्ता बताना आकाशमें चमकते हुए तारोंको अपनी रचना बतानेके समान है। अभिमान कर लीजिये, प्रारब्धको दोष दे लीजिये, वासनाओंके नचाये नाच लीजिये, समाजकी उठती-बहती, बदलती, छलकती, इठलाती, इतराती लहरमें बह जाइये !

ठीक है, परन्तु आप यथार्थको पहचानते हैं कि नहीं ? अपनेको कर्मका कर्त्ता मानना अज्ञान है। कर्मके फलका भोक्ता मानना भी अज्ञान है। वह भोक्ता चाहे इस लोकमें बने चाहे परलोकमें—कर्त्ता-भोक्ता भ्रम है। नरक-स्वर्ग अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार मिलते हैं। आत्माकी परिच्छिन्नता भी दृश्य है, वह आत्माका स्वरूप नहीं हो सकती। दृश्यसे द्रष्टा अनोखा, अनूठा, विलक्षण होता है। अपनी अद्वितीयता; पूर्णताके बोधसे परिच्छिन्नताका भ्रम मिटता है। अतः अपनेको जानिये। भ्रान्ति-मूलक कर्त्तापन, भोक्तापन, संसारीपन एवं परिच्छिन्नपनका बाध कर दीजिये। कर्म होते हैं तो होने दीजिये। नहीं होते हैं तो जाने दीजिये। आपका व्यक्तित्व मस्त-मौला है, परमानन्द है, जीवन्मुक्त है—चाहे जैसे रहिये !

•

अनिर्वचनीय

८-१-८५

अनिर्वचनीय माने क्या ? जो एक दृष्टिसे कुछ और, दूसरी दृष्टिसे कुछ और जान पड़े—उसको क्या कहेंगे ? एक दृष्टिसे उसको सही नहीं कह सकते, दूसरी दृष्टिसे उसको झूठ नहीं कह सकते। तब अनिर्वचनीय हो गया ना ? निर्वचन अर्थात् पूरी तरहसे किसीका निरूपण है कि नहीं—क्या बोलें ? जो एक स्थानसे पश्चिम होता है वही दूसरे स्थानसे पूरब होता है। जो एक स्थानसे ऊपर होता है वही दूसरे स्थानसे नीचे होता है, तब वह क्या है ? पूर्व या पश्चिम ? ऊपर या नीचे ? बोलो ना ! जो एककी दृष्टिसे माँ है, व ी दूसरेकी दृष्टिसे बेटी है। जो एककी दृष्टिसे बाप है, वही दूसरेकी दृष्टिसे बेटा है। माँ कि बेटी ? बाप कि बेटा ? अपनी-अपनी दृष्टि ही एकको अनेक करके दिखाती है। तब, क्या दृष्टि अलग-अलग होती है ? नहीं। विषयके भेदसे दृष्टिमें भेद होता है। तब, एक दृष्टिसे वस्तु है, दूसरी दृष्टिसे दृष्टि ही है। हो गया ना अनि-र्वचयीय !

अपनेको देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, शान्ति अर्थात् व्यक्तित्वसे तादात्म्य करके—मिलाकरके जब दृश्यको देखोगे, तो उसे झूठ नहीं कह सकते। परन्तु, जब इनका अपवाद करके, इन्हें बट्टेखातेमें डालकर—देश, काल, कल्पनासे मुक्त होकर स्वयं अपनेको ब्रह्म जानकर जब देखोगे, तब, दृश्यको सत्य नहीं कह सकते। यही है अनिर्वचनीयता। तुम कहाँ बैठकर देख रहे हो ? क्या बनकर देख रहे हो ? कितने पहले-पीछे तक देख रहे हो ? बस, भ्रमके चक्रवातमें फँस गये।

अज्ञानीकी दृष्टिसे जो सत्य है, ज्ञानीकी दृष्टिसे वह सत्य नहीं कहा जा सकता और ज्ञानीकी दृष्टिसे जो सत्य है, वह अज्ञानीकी दृष्टिसे सत्य नहीं कहा जा सकता। बस, वह हो गया अनिर्वचनीय। संसारी लोग इसीमें फँसे हैं।

झूठै ही लेना, झूठै ही देना।
झूठै ही भोजन, झूठ चबेना ॥

(४६)

आसक्ति कहाँतक ?

९-१-८५

आरम्भमें ऐसा मालूम पड़ता है कि अपनी मौजसे जो काम मैं कर रहा हूँ, उसको जब चाहूँ, छोड़ सकता हूँ। मेरा बुलाया हुआ है। माना हुआ है, वशमें हैं। परन्तु थोड़े दिनोंका अभ्यास होनेपर उसकी आदत पड़ जाती है और उसको छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है। यदि उस काममें दूसरोंका सहयोग हो तब तो और भी कठिन बन्धन हो जाता है। अतः जिस कर्मको कम-से-कम जीवन-भर निभा सकते हों, उसमें निष्ठा रख सकते हों, उसीकी आदत पड़ने दीजिये। आप जिससे प्रेम करते हैं, जीवन-भर कर सकें। आप जो काम करते हैं, वह अन्तिम क्षणतक अपनी निष्ठाके रूपमें रह सके। जो आजीवन निष्ठाके रूपमें न रह सके, उस निषिद्ध कर्मको मत कीजिये। चाहे मना करनेवाला शास्त्र हो, गुरुजन हों, समाज हो, अपनी बुद्धि हो—मना किया हुआ काम छोड़ दीजिये। हिचकिये मत। विचकिये मत। लचकिये मत। उसे छोड़ दीजिये। जो काम आप कर रहे हैं, क्या वह करनेसे ही आपको सन्तोष या तृप्ति नहीं है ? उसका कुछ फल चाहते हैं ? तब, वह दो कौड़ीका काम हो गया। फल मुख्य, कर्म गौण। अच्छा, मान लिया कि आप फल नहीं चाहते हैं, आपके कर्ममें फलासक्ति नहीं है, बहुत बढ़िया। धन्यवाद ! परन्तु, क्या आप उस कर्मको पूरा करना चाहते हैं ? उसको पूरा कर लेना आपके हाथमें है ?

कर्म पूरा करनेके लिए नहीं किया जाता। कर्म पूरा करना अपने हाथमें नहीं है। वह समय भरनेके लिए है। कर्म करते जाइये बस, आगे बढ़िये। आप समझते हैं कि कर्म पूरा करना आपके हाथमें नहीं है, फिर भी करते जा रहे हैं—करनेका अभ्यास है। बिना किये रह नहीं सकते। आपका कर्त्तापन बहुत दृढ़ है। यही आपको तब दुःखी करेगा, जब आप कर नहीं सकेंगे। फिर तो अपनेको अकर्त्ता समझना आवश्यक है। परन्तु, अकर्त्तापनको बोझ बनाकर अपने सिरपर मत थोपिये। अकर्त्तापन भी एक अभिमान ही है। फलासक्ति, कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति, अकर्तृत्वासक्ति—इन चारोंसे आप तब छूटेंगे, जब आत्माकी पूर्णताका बोध होगा। आ जाइये हमारे साथ। आप पूर्ण हैं।

सच-झूठ !

१०-१-८५

आप जब किसी शब्दका उच्चारण करते हैं, जैसे घट—तो पहले 'घ'का उच्चारण होता है, वह नष्ट हो जाता है और फिर 'ट'का उच्चारण होता है—वह भी नष्ट हो जाता है। इन दोनों वर्णोंको जोड़नेसे अन्तःकरणमें जो घट शब्दका संस्कार डाला गया है, वह जागकर घट पदार्थका बोध कराता है। यदि आपके अन्तःकरणमें घट-पदार्थका संस्कार न हो, भारतीय-भाषाओंका ज्ञान न हो तो एक जङ्गली, पहाड़ी या विदेशी व्यक्तिको घट-पदार्थका बोध नहीं हो सकता। घट क्या है ? नीचे पेंदी, बड़ा पेट, छोटा गला, ऊपर मुँह—जब यह संस्कार पहलेसे रहेगा तभी घटका शब्द-बोध होगा।

इसी प्रकार जो कर्म हम करते हैं, वह क्षण-क्षण नष्ट होता जाता है। कर्म नहीं रहता है, द्वितीय क्षणमें ही नष्ट हो जाता है। परन्तु, उस कर्मके सम्बन्धमें अच्छा बुरा, पाप-पुण्य, सुख-दुःखकी कारणता—जैसी अन्तःकरणमें डाली हुई है—उसीके अनुसार फलवृत्तिका उदय होता है। इसी संस्कारको अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं, जो तत्काल भी या बहुत विलम्बसे भी फलाकार परिणामको प्राप्त होता है। इसी संस्कारके अनुसार अन्तःकरणमें कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी पुनर्जन्म बन जाता है और स्थूल देह छूट जानेपर भी बिना देशान्तरमें गये, बिना कालान्तर हुए, बिना द्रव्य-परिवर्त्तनके ही मनमें वैसा-वैसा अनुभव होने लगता है। वह सब होता स्वप्नके समान ही है, परन्तु इससे उसको झूठ समझना भूल है।

यह जाग्रत भी वैसा ही है, परन्तु सच लगता है। जबतक आत्माको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें नहीं जाना जाता, तबतक जैसे जाग्रत सत्य हो, वैसे ही नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, वैकुण्ठ, गोलोक—सब सत्य हैं। ब्रह्म-ज्ञानके पूर्व क्षणतक ये सत्य ही रहते हैं। यह सब व्यावहारिक सत्य है और आत्माकी ब्रह्मरूपता परमार्थ सत्य है। व्यवहारमें गड़बड़ नहीं करना चाहिए, सब ठीक-ठाक करते चलना चाहिए। सदाचारको मिथ्या कभी नहीं कहना चाहिए।

•

आप जो चाहते हैं !

१२-१-८५

आप क्या चाहते हैं—धन, भवन, ऐश्वर्य, परिवार, प्रतिष्ठा, यश, कीर्त्ति, धर्म, कर्म, भोग, योग, मोक्ष, संयोग, वियोग—कुछ भी तो बताइये? यदि आपको ऐसा लगता है कि इनमें-से कुछ आप चाहते हैं, तो वह आपका भ्रम है। आप इनमें-से कुछ भी नहीं चाहते हैं। आप इनसे होनेवाला सुख चाहते हैं। ये सब अलग-अलग हैं और सुख एक है। सब पुरुषार्थोंका सार वही है। वह सुख है, सुख है, सुख है—और कुछ नहीं है।

आप कैसा सुख चाहते हैं—जो कभी रहे, कभी न रहे? नहीं-नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो सदा-सर्वदा रहे, हमेशा रहे, टूट-टूटकर न हो, लगातार रहे। याद रखिये—ऐसा सुख क्या है?

आप ऐसा सुख चाहते हैं क्या—जो यहाँ रहे, वहाँ न रहे? नहीं। यहाँ भी रहे, वहाँ भी रहे—ऐसा सुख चाहते हैं। सब जगह रहे—ऐसा सुख क्या है—ध्यान दीजिये।

क्या आप ऐसा सुख चाहते हैं—जो इससे मिले, उससे न मिले? नहीं। आप ऐसा सुख चाहते हैं, जो इससे, उससे, सबसे, सब समय, सब जगह मिले, मिलता ही रहे।

अच्छा, यह बताइये कि क्या आपको ऐसा सुख चाहिए जो पराधीन हो? दाता कभी दे, कभी न दे। कुछ दे, कुछ न दे। कहीं दे, कहीं न दे। सचमुच ऐसा पराधीन, गुलामीका सुख आप नहीं चाहते हैं। आप स्वतन्त्र सुख चाहते हैं।

अच्छा, तो आप जो बहुत परिश्रमसे मिले, वह सुख चाहते हैं? ना-रे-ना, आप सुख चाहते हैं, जिसमें परिश्रम न करना पड़े अथवा कम-से-कम परिश्रम करना पड़े। हाँ, तो आप ऐसा सुख चाहते हैं।

आपको यह मालूम है कि सुखकी ज्ञात सत्ता ही होती है, अज्ञात-सत्ता नहीं। अर्थात् सुख चमचम चमकता हुआ, झिलमिल झलकता हुआ, जगमग जगमगाता हुआ अपनी बाँकी झाँकीकी झलक आपको दिखाता रहे। आप अज्ञात-सुख नहीं चाहते हैं, ज्ञात सुख ही चाहते हैं।

आइये, आप सबको जोड़ लीजिये। सुख-ही-सुख। सब समय। सब जगह। सब चीजमें। स्वतन्त्र। परिश्रम-रहित और मालूम पड़ता हुआ—ऐसा सुख आप चाहते हैं क्यों भाई, यदि ऐसे सुखका एक नाम रखना हो तो उसके लिए परमेश्वर या भगवान्‌के सिवाय और क्या नाम हो सकता है ? वह आपका आत्मा हो, ब्रह्म हो या जगदीश्वर हो।

हम आपसे यह नहीं कहते कि आप भगवान् या ईश्वरको चाहिए। हम आपसे यह भी नहीं कहते कि आत्मा, ब्रह्मके स्वरूपका विचार कीजिये। हम तो यह कहते हैं कि वस्तुतः आप जो कुछ चाहते हैं, वह परमेश्वर ही है।

भूलसे खोटी-खोटी, छोटी-छोटी, मोटी-मोटी चीजोंको आप अपना इच्छित पदार्थ मान बैठते हैं—मुझे यह चाहिए, वह चाहिए; यहाँ चाहिए, वहाँ चाहिए; अब चाहिए, तब चाहिए; ऐसे चाहिए, वैसे चाहिए। असलमें जो चाहते हैं, उसपर पर्दा पड़ जाता है।

छोटी वस्तु महान्‌को दबा देती है। विनाशी वस्तु अविनाशीपर हावी हो जाती है। तोलाने मनको दबा लिया। हाँ, तो इस मूलको समूल चूल समझिये। इसको तूल मत दीजिये। तूर्ण-से-तूर्ण पूर्णताके बाधसे, इस भ्रान्तिको, इस अविद्याको चूर्ण-चूर्ण करके उड़ा दीजिये। आप परमार्थतः जो चाहते हैं, उसको यदि समझ जायेंगे, तो वह आपके पास ही होगा। प्रत्युत उसे पास कहना भी दूर बनाना होगा। देर न कीजिये। दूसरा मत बनाइये। वह स्वयं आप हैं। वह अनन्त-सुख आप हैं या आपके हृदयका अन्तर्यामी परमात्मा है।

मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिलै ना !



(४२)

दुःखी क्यों हैं ?

१३-१-८५

मूल प्रश्न यह है कि आप दुःखी हैं या नहीं। सर्वदा दुःखकी छायामें जीवन व्यतीत करना और कभी-कभी माया-मोहके चक्रवातमें फँसकर

हँस देना—जीवनका कोई तत्त्व या सार नहीं है। कभी आपने सोचा है कि आप दुःखी क्यों होते हैं? निश्चय ही आप कोई भोगकी सामग्री चाहते हैं। वह भोग चाहे कानसे हो, त्वचासे हो, नेत्रसे हो, रसनासे हो, नासिकासे हो या मन ही मन हो। वह भोगकी वस्तु न मिलनेपर आप अपनेको दीन, हीन, दुःखी मान बैठते हैं।

अच्छा, छोड़िये इस बातको। आप अपने 'मैं'की या अभिमानकी पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए कुछ संग्रह करना चाहते हैं? वह चाहे धन हो, जन हो, भवन हो, विद्या हो, बुद्धि हो। निश्चित ही जो-जो आपके पास नहीं है उसको इकट्ठा करके अपने व्यक्तित्वके अभिमानको बढ़ा-चढ़ा देखना चाहते हैं। जब यह पूजा नहीं हो पाती या इसमें कोई बाधा पड़ जाती है तब आप दुःखी हो जाते हैं। क्यों, है ना ऐसा?

आप वर्त्तमानमें सन्तुष्ट नहीं रहते। या तो भूतकी गयी-बीती सोचते रहते हैं—भूत-सुख सोचकर भी दुःखी होते हैं—हाय-हाय अब वह नहीं रहा और भूत-दुःख सोचकर भी दुःखी होते हैं—हाय रे, मैंने इतना दुःख उठाया या भविष्यकी सुख-कल्पना या दुःख-कल्पनासे फूलते-पटकते रहते हैं। आपका जीवन कल्पना-जल्पनाके जाल-जञ्जालमें इतना-इतना उलझ गया है कि वर्तमान व्यर्थ नष्ट होता जा रहा है। इसपर आपका ध्यान-अवधान ही नहीं जाता। तब क्या आप मनोराज्यमें जी रहे हैं? यह दिवा-स्वप्न कभी सफल होता है, कभी नहीं होता। फिर तो आप अपनेको स्वयं दुःखके बड़वानलसे जलानेका प्रयास कर रहे हैं। वर्तमानको देखिये ना! क्या आपका वर्तमान मर गया है? इसको उज्ज्वल बनाइये, निर्मल बनाइये, चमकाइये। वही आपका जीवनकाल है। उज्ज्वल वर्तमानमें-से पीछे जानेवाला भूत और सामनेसे आनेवाला भविष्य—दोनों ही रसमय, मधुमय, लास्यमय बन जायेंगे।

इधर भी देखिये। आपने बचपनसे अबतक जानमें, अनजानमें कुछ ऐसी आदतें अपने जीवनमें जोड़ ली हैं, कुछ ऐसा मोड़-तोड़ आपके दिलको फोड़ता रहता है कि जब उस आदतके अनुसार काम न हो तो आप दुःखी हो जाते हैं।

हाँ, तो आपके दुःखका कारण क्या है—भोगकी वासना, संग्रहमें लोभ-प्रवृत्ति, मनो-राज्यका जीवन और आदतोंकी गुलामी? ये चारों

ही आपको दुःखी बना रहे हैं। इनके चक्करमें आप क्यों फँसे ? अपनी मूल-भूत इच्छाके विषय—सच्चे सुखको भूलकर। छोटे-छोटे भोगों, संग्रहों, मनो-राज्यों तथा आदतोंमें बँध जानेके कारण। आप इनपर एक गम्भीर एवं तीक्ष्ण दृष्टि डालिये और इनसे बचकर जो सच्चा सुच है, जिनका नाम परमेश्वर है, आत्मा है, ब्रह्म है—उनको जानने, समझने एवं अनुभव करनेका प्रयास कीजिये। जबतक उसको नहीं जानेंगे, तबतक आप दुःखी बने रहेंगे।

•

(५०)

आपका सुख कहाँ है ?

१४--१--८५

आप आभूषण-कङ्कन-हार आदि तुड़वाकर उनको नयी रूप-रेखा क्यों देना चाहते हैं ? एक-बार साड़ी पहनकर क्यों बदल देना चाहते हैं ? एकसे मैत्री हो जानेपर फिर क्यों दूसरेके साथ जोड़ना चाहते हैं ? वस्तुमें परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु बहुत दिनोंतक एक-सी प्रिय नहीं रहती। वस्तुमें नर्तन-परिवर्तन है; बदलना ही उसका स्वभाव है। वह आपको सर्वदा सुखी नहीं रख सकती है। इन्द्रियोंमें जो भोग-उपभोगकी शक्ति है, वह भी एक-सी नहीं रहती, क्षीण होती जाती है। वस्तुएँ तो बदलती ही हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति भी बदलती है। १७-१८ वर्षकी जवानी जब २५-३५, ५५-७५को छूती है, तो सारा रूप-रङ्ग बदल जाता है। दाँत, होठ, चाम, स्वर, बल, पौरुष तो बदलते ही हैं, भोगमें पहले जैसी रुचि भी नहीं रहती है।

कोई चाहे कि मैं निरन्तर भोग और उसके लिए उद्योगमें ही लगा रहूँ तो यह भी सम्भव नहीं है। आराम चाहिए, विश्राम चाहिए, उपराम चाहिए। गाढ़ सुषुप्ति चाहिए। कबतक भोक्ता बने रहेंगे ? हाथ-पाँव शिथिल हो जायेंगे; मन विवश होकर सो जायेगा। आप इन्हीं वस्तुओंसे,

इन्द्रियोंसे, रुचियोंसे तथा भोक्तापनके अभिमानसे अपनेको सुखी करना एवं रखना चाहते हैं—यह कितनी विडम्बना है!

आप अपने सुखके लिए इन बाहरी वस्तुओंका चुनाव क्यों करते हैं? धन सर्वथा बाहर रहनेवाली वस्तु है। उसमें सुखकी कल्पना करनी पड़ती है। भोगका सुख मनमें रहता है। कुछ अन्तरङ्ग अवश्य है, परन्तु क्षणिक है। अभिमानका सुख उसकी अपेक्षा भीतर बुद्धिमें रहता है, परन्तु संसारमें जितना दुःख आता है, इस अभिमानको ही प्रभावित करता है। अभिमानी व्यक्तिपर ही चपत-पर-चपत लगती है। अभिमानको ही शोक, मोह, भयकी प्राप्ति होती है। बीते हुएके लिए शोक, वर्तमानको पकड़ रखनेका मोह और आनेवालेके लिए भय—अभिमानके ही आश्रित रहते हैं। इन सब दुःखोंसे छुटकारा और परमानन्दकी प्राप्ति—वह अपने आत्माके ही नाम हैं। इनमें वस्तु, करण, मन, बुद्धि किसीकी पराधीनता नहीं है। जहाँ है, जब है, जो है, जैसे-कैसे है, स्वयं परमानन्द-स्वरूप है। यह केवल परलोकके लिए नहीं है। इसी लोकमें, इसी जीवनमें, इसी देखने-सुननेवालेको इसका प्रत्यक्ष होता है और स्वतन्त्रताका साक्षात्कार होता है। अभी-अभी, यहीं-यहीं, यही-यही और तुम्हीं-तुम्हीं यह परमानन्द हो—यह अनुभव ही महात्माओंकी स्थिति है। क्या आप यह अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं? कहीं जाइये मत, लौट आइये अपने घरमें, अपने स्वरूपमें। बस; आप देखेंगे कि उसपर कोई आवरण नहीं है, आप ही आप हैं।

•

(५१)

लौट आइये!

१५-१-८५

जो वस्तु अपने पास नहीं होती है उसको बनाना पड़ता है। जेवर नहीं है तो बना लीजिये। अन्न नहीं है तो खेती कर लीजिये। कपड़ा

नहीं है तो बुन लीजिये। यदि स्वयं नहीं बना सकें तो जहाँ मिलता हो वहाँसे ले लीजिये। प्रेमसे लीजिये, भेंटमें लीजिये, खरीद कर लीजिये—लेना पड़ेगा। मान लो, अब वह वस्तु अपने पास हो गयी और उसमें कोई मलिनता है, तो संस्कारके द्वारा उसको स्वच्छ कर लीजिये, सँवार लीजिये, चिकना लीजिये। यदि वह वस्तु कच्ची है तो पका लीजिये, कुछ मिला लीजिये, स्वादु बना लीजिये—सुन्दर, मधुर, सुकुमार, सुगन्धित कर लीजिये। यदि कामको न हो तो उसे नष्ट कर दीजिये—फेंक दीजिये, जला दीजिये। यह पाँचों प्रकारकी क्रिया अपनेसे अन्य वस्तुके प्रति की जाती है।

आत्माको न बनाना है, न कहींसे लेना है, न इसका संस्कार करना है, न पकाना है और न नष्ट करना है। वह स्वतः सिद्ध है, नित्य-प्राप्त है, शुद्ध है—उसे परिपाककी आवश्यकता नहीं। न आत्मा फेंका जा सकता है, न नष्ट किया जा सकता है। तब इसके लिए कर्मका उपयोग कहाँ है? इसको तो ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा, जो है सो, जानना भर है। दूसरी वस्तु होती है तो जाननेके बाद पानी पड़ती है, पकड़कर रखनी पड़ती है, परन्तु, अपना-आपा—आत्मा तो मिला-मिलाया है। उसको जाननेके बाद कुछ करना नहीं पड़ता, कुछ सँवारना भी नहीं पड़ता। और किसीको जानना दूसरी बात है और अपनेको जानना दूसरी बात है। स्वर्ग-वैकुण्ठको जानकर पाना पड़ेगा। ईश्वरको जानकर भक्ति करनी पड़ेगी, परन्तु आत्म-ज्ञान प्राप्त होनेपर, आत्माके साक्षात्कार या अनुभवके लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता। यह साक्षात्कार न कर्मका फल है, न कर्मका हेतु। इस साक्षात्कारसे तो कर्म-फल, कर्त्ता और भोक्ता—ये सब-के-सब स्वप्नके समान ही केवल दृश्य-मात्र रह जाते हैं। जैसे स्वप्नमें कोई कर्त्ता, कोई भोक्ता, कोई पाप, कोई पुण्य, कोई सुख-दुःख न होनेपर भी मालूम पड़ते हैं, वैसी ही यह जाग्रत अवस्था भी हो जाती है—वस्तुतः वैसी ही है।

•

सुख-ही-सुख है

१६-१-८५

यह तो सर्वथा निर्विवाद रूपसे निश्चित है कि आपको अपनी मृत्युका अनुभव कभी नहीं हुआ है। दूसरोंका शरीर छूटते देखकर आप अपना शरीर छूटनेकी कल्पना कर लेते हैं और उसीको मृत्यु मानते हैं। मृत्यु एक कल्पना है, अनुभव नहीं। घटकी आकृति टूटती है, मृत्तिका ज्यों-की-त्यों रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि आप अमर हैं, अमृत हैं। अब यदि आप किसी मरनेवालेसे, आकारसे, विकारसे, संस्कारसे, किसी विशेष प्रकारसे प्रेम करेंगे तो वह पहले मर जायेगा, आप जीवित रहेंगे। देहके रूपमें नहीं, आत्माके रूपमें। आप जीवित रहें और आपका प्रेमास्पद टूट जाये, फूट जाये, छूट जाये या लुट जाये तो आपको बहुत पीड़ा होगी, कष्ट होगा। चाहे वह प्रेम गेहसे हो या देहसे हो, अनात्मासे प्रेम एक-न-एक दिन दुःखके रूपमें परिणत होकर आयेगा। मरनेवालेसे प्रेम आपको रुलायेगा। जड़से प्रेम एकाङ्गी होगा। आप हीरा, मोती, सोना, चाँदीसे प्रेम करते हैं। उनको तो पता ही नहीं है कि आप उनके प्रेमी हैं। कोई खरीद ले, लूट ले, टूट जाये, वह कभी नहीं बतायेगा कि मैं अपने इन प्रेमी महोदयका हूँ, ये मेरे प्रेमी हैं, मैं इनके पास रहूँगा।

अच्छा, तो जितनी जड़-वस्तुएँ हैं, वे स्वातिकी जल-बिन्दु हैं और आप उनके चातक। वे चन्द्रमा हैं, आप चकोर। भले मानुष! आपने क्या सोच-विचारकर उससे प्रेम किया है? इन गद्दारोंसे जो आपको पहचानते तक नहीं, अपनेको फँसा देना मूर्खता नहीं तो और क्या है? हाँ, तो मरनेवालेसे प्रेम, जड़-वस्तुसे प्रेम—आपके लिए घातक है, पातक है। यह तो अपने दुःखकी उपज बढ़ानेवाले बीजकी खेती है। प्रीति कीजिये उससे, जो आपके आत्माके समान ही अजर-अमर हो, चेतन हो और आपको पहचानता हो। आपको कभी धोखा न दे, दूर न हो, देर न करे, दूसरा न हो, अपना आपा ही हो। बस, आपको दुःखका मुँह नहीं देखना पड़ेगा। सारी विवशता-परवशता मिट जायेगी। आपका प्रेमास्पद आपके हृदयमें ही है। आप ही हैं। आपके जीवनमें कोई तनाव नहीं रहेगा। सुख-ही-सुख है।

सावधान !

१८-१-८५

स्वच्छता आपको बहुत प्रिय है। घर, बिस्तर, वस्त्र, भोजन, शरीर सब स्वच्छ रहें—इसके लिए आप यथाशक्ति प्रयास करते हैं। धरती, पानी, दृश्य, स्पृश्य, ध्वनि—सभी स्वच्छ, निष्कलंक मिलें—ऐसा हम सब, आप एक रायसे चाहते हैं। शरीरपर मिट्टी लग जाये, कोई दाग पड़ जाये तो उसको छुड़ानेके लिए आप भरसक प्रयत्नशील रहते हैं। मैं इस पसन्द-को-पसन्द करता हूँ। यह बनी रहे, बढ़ती रहे।

थोड़ा-सा अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश कीजिये ! वहाँ आपके संकल्पमें, इच्छाओंमें, विचारोंमें और स्थितियोंमें स्वच्छता कितनी रहती है—इसपर कभी ध्यान दिया है आपने ? जैसे ऊपर-ऊपर कपड़ा बहुत स्वच्छ हो और उसके भीतर शरीरपर मैल लगी हो—ऐसी ही स्थिति है उन लोगोंकी, जो अपने अन्तःकरणकी गन्दगीको दूर करनेका प्रयास नहीं करते। उसपर एक पैनी दृष्टि डालिये !

आपका मन क्या-क्या करना चाहता है ? क्या-क्या भोगना चाहता है ? क्या-क्या पाना चाहता है और क्या-क्या बोलना चाहता है ? आप गिननेका प्रयास कीजिये। यह गिनती कभी पूरी नहीं होगी। बाजारमें जितने शो-रूम हैं, जितनी दुकानें हैं, जो कुछ उपलब्ध है—उसको पानेकी इच्छा कभी-न-कभी आपके मनमें आती है; आती रहेगी।

आपका मन क्या है ? भानुमतीका पिटारा। उसमें चाहे जो देख लीजिये—भला-बुरा। ईश्वर देखिये, जीव देखिये, पत्थर देखिये। चोरी, व्यभिचार, हिंसा, झूठ—सबकी झलक वहाँ मिलती रहती है। तो क्या आप बाहरका सब कुछ स्वच्छ चाहते हैं, भीतरका नहीं ? आप वहीं तो रहते हैं। अन्तर्देश ही आपका मकान है, वस्त्र है, भोग है, कर्म है, वचन है। यदि मन ही गन्दा है तो आपकी बाहरी स्वच्छता किस काम की ?

क्या आप इसी पोशाकमें रहना चाहते हैं ? या यही पोशाक लेकर ईश्वरके सामने जाना चाहते हैं ? सावधान !

●

(५४)

चिन्तन शुद्ध कीजिये

१९-१-८५

कान, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, हाथ, पाँव—ये सब बाहरके करण मानने, जानने व करनेके साधन हैं। इनका नाम है—बहिःकरण। इसी प्रकार शरीरके भीतर अन्तःकरण है। वह बाहरकी वस्तुओंका संस्कार—अन्तः अर्थात् अन्दर, करण अर्थात् करनेका साधन, कर लेता है—इसलिए उसको अन्तःकरण कहते हैं। उसमें अन्न, कर्म, भाव, विचार शान्ति, अशान्ति सबका निवास है। वह कोई स्थूल वस्तु नहीं है कि उसे मिट्टी-पानीसे स्वच्छ किया जाये। उसको स्वच्छ करनेके लिए शुद्ध भोजन चाहिए। अभिप्राय यह है कि सुनना, छूना, देखना, स्वाद लेना, सूँघना, चिन्तन करना—सब शुद्ध होना चाहिए। कोई आहार-शुद्धि, कोई कर्म-शुद्धि, कोई भाव-शुद्धि और कोई निःसंकल्प स्थितिको अन्तःकरण-शुद्धिका साधन मानते हैं। यदि सब हों तब तो कहना ही क्या ? तत्काल अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा।

गम्भीर निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि अन्तःकरण चिन्तनरूप ही है। आप जैसा चिन्तन करेंगे, अन्तःकरण शरीर वैसा ही हो जायेगा—कभी भेड़के काले बालके कम्बल जैसा, कभी सफेद बालके कम्बल जैसा, तो कभी वीर-बहूटीके रङ्ग जैसा, तो कभी धूप-छाँह जैसा। यह सब आपके तमोगुणी, सत्त्वगुणी, रजोगुणी या मिश्रित अन्तःकरणके ही रूप हैं। यह रूप-परिवर्तन चिन्तनके परिवर्तनका ही द्योतक है। क्योंकि वृत्ति-ज्ञानरूप अन्तःकरण अपने विषयोंके भेदसे ही अनेक वृत्तिवाला होता है। यदि आप अपना अन्तःकरण स्वच्छ, पवित्र निष्कलंक, निश्चल या सूक्ष्म-वस्तुग्राही बनाना चाहते हैं, तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुका ही चिन्तन कीजिये।

अन्तःकरण न लम्बा होता है, न चौड़ा; न सेर, न सवा सेर, न क्षण, न कल्प। वह तो है केवल चिन्तनमात्र। वस्तुका भान ही अन्तःकरणका स्वरूप है। ऐसी स्थितिमें यदि आप चिन्तनकी दिशा मोड़ देते हैं, शुद्ध वस्तुका चिन्तन करने लगते हैं, तो आपका अन्तःकरण शुद्ध है—ऐसा

समझना चाहिए। शुद्ध वस्तु केवल परब्रह्म परमात्मा है, जो कि अपना आत्मा ही है। आप अपने जाने हुए अनात्माका चिन्तन छोड़ दीजिये और शुद्ध आत्मा, परमात्माका चिन्तन करने लगिये। आपका अन्तः-करण शुद्ध है और परमात्माके साथ एक होनेके योग्य है! ●

(५५)

सहज-कठिन

२३-१-८५

सत्य बोलना सुगम है। कहना हो तो कह दिया, अनावश्यक हो तो चुप हो गये। जो बोलकर हम अपना और सुननेवालेका समय नष्ट करते हैं, उसका कुछ उपयोग भी है कि नहीं? श्रोताका वह क्या हित करेगा? अपने मनकी भडांस भले ही निकाल लीजिये। देखिये, हम यह कहना चाहते हैं कि सत्यका मस्तिष्कपर कोई भार नहीं होता। ज्यों-का-त्यों बोल दीजिये, मत बोलिये। जब आवश्यकता होगी, बोल देंगे। सत्यका कोई बोझ, भार सिरपर नहीं रहता है। असत्य बोलें तो किससे, कब, क्या बोला है—कहीं उसके विपरीत न बोल दें, इसका बोझ बुद्धिमें रखना पड़ता है। सत्य अप्रयत्न-सिद्ध है एवं असत्य कृत्रिम तथा अनेक रूप है। सत्य अपने स्वरूपमें रहता है और असत्य बनावटमें। क्या कोई सर्वदा असत्य भाषण कर सकता है? यदि वह अपनी भाषाके नियम और शब्द निश्चित कर लेगा, तो वह भी सत्य हो जायेगा। लोग यह समझने लग जायेंगे कि यह थालीको लोटा कहता है या लोटाको थाली कहता है। बार-बार अपनी भाषा भी बदलनी पड़ेगी। असत्य जीवनमें एक भार हो जायेगा। सत्य हल्का-फुल्का है। अपने स्वरूपमें स्थितिका मार्ग है।

यही स्थिति अहिंसा की भी है। क्या कोई निरन्तर हिंसा करते रह सकता है? क्रोधका आवेश या द्वेषकी जलन निरन्तर अपने हृदयमें बनाये रखना सम्भव है क्या? परन्तु, अहिंसा तो सर्वदा रह सकती है। न तो

उसका भार है, न कुछ करना है। है न हिंसासे सुगम अहिंसा? सहज-स्वभाव। इसीसे सत्य, अहिंसा सद्गुण है, असत्य तथा हिंसा दुर्गुण है। दु माने दुष्ट, दुःखदायी। जैसे गुण्डा घरमें रखने योग्य नहीं होता, वैसे ही असत्य एवं हिंसा भी हृदयमें रखने योग्य नहीं होते। ये बाहरसे आते हैं। इनको स्थान न देना ही श्रेयस्कर है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। सद्वस्तु, चिद्वस्तु, आनन्द वस्तु न कहीं चोरी जा सकती है और न तो उसे हम चोरीसे ला सकते हैं। बिना चोरीके हम अनन्त कालतक रह सकते हैं। क्या चोरीको भी निरन्तर कोई अपने जीवनमें रख सकता है? चोरी अस्वाभाविक है, भयावह है, दुःखदायी है, तनाव उत्पन्न करनेवाली है। आप चोरी न करनेके व्रतको जीवन भर रख सकते हैं, परन्तु निरन्तर चोरी करनेका व्रत नहीं रख सकते। तब आप सहज स्वभावमें रहिये ना! सत्स्वरूपके निकट होनेके कारण, सदाकार होनेके कारण, सत्य, अहिंसा, अस्तेय सद्गुण हैं।

अच्छा, ब्रह्मचर्यकी बात लीजिये। इसको भी उसी तराजूपर तौलिये। ब्रह्मचर्य सर्वदा रह सकता है। परन्तु ब्रह्मचर्यका भङ्ग अत्यन्त अल्प समयतक ही रह सकता है। ब्रह्मचर्य शाश्वत है और उसका भङ्ग क्षणिक है। भोगके निमित्त न मिलनेपर दुःख देते हैं। भोगाकार-वृत्तिमें अपूर्णता रहती है। अधिक भोगवालोंसे स्पर्धा होती है। ईष्या भी आ जाती है। न मिलनेका भय होता है। आदत पड़ जानेसे हम उसके गुलाम हो जाते हैं। ब्रह्मचर्यमें न छल है, न कपट। सदा सरल, निर्विकारका उपलक्षण। आपने भोगका रस बहुत ले लिया, आइये लौट आइये। इस ब्रह्मचर्यका विकार-रहित रस लीजिये। वृत्ति निर्विकार नहीं होगी तो महात्मा भी निर्विकार नहीं होगा। महात्मा निर्विकार नहीं होगा तो ब्रह्मका अनुभव ही नहीं होगा। ब्रह्मचर्यके शारीरिक, मानसिक व वाचिक रूपोंकी पोशाक धारण कीजिये। आप ब्रह्मचारी नहीं, ब्रह्म हैं।

आपके चारों ओर जो वस्तुएँ रक्खी रहती हैं, आती-जाती रहती हैं या बदलती रहती हैं—वे क्या आपके लिए अनिवार्य हैं? जैसे शरीरपर मैल, घरमें धूल, वैसे ही मनमें परिग्रहका ढेर। आप यह मत कहिये कि यह मेरी कमायीका है, मेरे हकका है, मेरा है—मैं क्यों न रक्खूँ? आप अपने सिरपर बोझ लाद रहे हैं। ऊँटपर चढ़कर चल रहे हैं, परन्तु

पोटली अपने सिरपर रखते हैं। धन्य है आपकी बुद्धिको। मेरा-मेरा करके, अपना कल्पित स्वत्व स्थापित करके, आप अपनेको बोझिल बना रहे हैं और बनावटी वस्तुओंसे एक सत्य वस्तुको ढक रहे हैं। आप ही सत्य हैं। ये राशि-राशि वस्तुएँ आपके यथार्थ स्वरूपकी आवरक हैं। आप इनसे पिण्ड छुड़ाइये। आपको अपनी ओर देखनेका सुखमय, सौभाग्यमय, मधुमय, रसमय क्षण प्राप्त होगा। आप देख सकेंगे कि आपने कितने कीमती हीरेको कचरेके ढेरमें डाल दिया था।

सद्‌गुण सहज, दुर्गुण कठिन।

●

(५६)

साधन एक, नाम अनेक

२४-१-८५

साधन दो प्रकारके होते हैं। एक वह—जिसके द्वारा हम अपने लक्ष्यको पहचानते या प्राप्त करते हैं। दूसरा वह—जो प्राप्त होता है, अनुभव होता है या लक्षित होता है। अर्थात् लक्ष्यका शोधन। अन्तःकरण परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। अतः उसको शुद्ध करनेके लिए जो कुछ किया जाता है, उसको बहिरङ्ग साधन कहते हैं। जैसे बन्दूकसे लक्ष्यपर गोली चलानी हो तो बन्दूककी सफाई—करणकी शुद्धि है और लक्ष्यको ठीक-ठीक देख लेना—यह लक्ष्यकी शुद्धि है। करणकी शुद्धि बहिरंग है, लक्ष्यकी शुद्धि अन्तरंग है। परमात्माके लिए क्रमशः विवेक-वैराग्य तथा श्रवण-मननादि बहिरंग-अन्तरंग होते हैं।

अच्छा, तो अब आइये, विवेक कीजिये। आपको अपने ही ज्ञानसे जो अपना स्वरूप न मालूम पड़े, उसी ओरसे मनको हटा लीजिये। आपकी दृष्टिसे जो अनित्य है, जड़ है, दुःख है—उसमें मन लगानेकी प्रवृत्तिको रोकिये। आप स्वयं तो रहेंगे ही। बस, शान्ति है।

इस आत्मा और अनात्माके विवेकसे अर्थात् पृथक्करणसे अनात्माके प्रति वैराग्यका उदय होगा। विवेकसे स्वरूप-स्थिति भी शान्ति है और वैराग्य यानि राग-द्वेषकी निवृत्ति भी शान्ति ही है। अतः विवेक और वैराग्यके फलमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि पहले विवेक होगा, पीछे वैराग्य। दोनों साथ-साथ भी हो सकते हैं। परन्तु ये दोनों दो नहीं हैं, फलरूपसे शान्ति ही है।

आप यह मत सोचिये कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए अथवा सत्यके साक्षात्कारके लिए बहुत-से साधन करने पड़ते हैं अथवा बड़े कठिन-कठिन साधन करने पड़ते हैं। गम्भीरतासे अनुभव कीजिये—मनमें काम-क्रोधका न आना शम है, वह शान्ति ही है; इन्द्रियोंका चंचल न होना दम है, वह भी तो शान्ति ही है; कर्म-विक्षेपकी निवृत्ति उपरति है, वह भी शान्ति है; दुःख-विक्षेपकी शान्ति तितिक्षा है। अभिमान-विक्षेपकी शान्ति श्रद्धा है। अपने संकल्पों या विचारोंको समेट लेनेका नाम समाधान है। इनके नाम अलग-अलग हैं, परन्तु इनका स्वरूप शान्ति है। इसलिए साधकको बहुत-से नाम सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिए। निराश मत हो, उदास मत हो—यह तो सब एक ही निःसंकल्प जाग्रतके नाम हैं। इनमें एक ही वस्तु है—केवल शान्ति, शान्ति, शान्ति। यह शान्तिकी दशा जब निरन्तर नहीं रहती और यह निश्चय हो जाता है कि चित्त सदा एक स्थितिमें नहीं रह पाता, नहीं रह सकता, तब चित्तसे ही मुक्त होनेकी तीव्र आकांक्षा जाग्रत होती है। आने-जानेवाले विनश्वर पदार्थोंसे मुक्त होकर अपने परमानन्द अद्वितीय स्वरूपके अनुभवकी इच्छा, अर्थात् मुमुक्षा।

हाँ, तो अब यह विचार कीजिये कि जब सब साधनोंका अन्तिम स्वरूप शान्ति ही है तो, उनके नाम अनेक क्यों हैं? अनेक इसलिए हैं कि शान्ति एक होनेपर भी उसके कार्य पृथक्-पृथक् हैं। काम-क्रोधको मिटानेवाली शान्ति, इन्द्रियोंके विक्षेपको मिटानेवाली शान्ति इत्यादि। इसको संस्कृत-भाषामें ऐसे बोला जायेगा—व्यावर्त्यके भेदसे व्यावर्तकका भेद है, वस्तुतः शान्ति ही शान्ति है। अतः बहिरंग-साधन इतना सुगम, इतना सरल है कि थोड़ी-सी सावधानता आपको सम्पन्न बना देगी और आप सद्गुणके पास पहुँचकर अन्तरंग-साधन श्रवण-मननादिके योग्य हो जायेंगे।

•

(५७)

चित्त-वित्तका त्याग

२८-१-८५

सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाये तो चित्तकी आदि नहीं मिलती है। पहले कर्म हुआ या पहले चित्त हुआ ? कर्मसे चित्त बनता है। चित्तसे कर्म होता है। दोनोंसे शरीर होता है। शरीरमें दोनों रहते हैं। ऐसी स्थितिमें चित्त, कर्म, शरीरकी परम्परा अनादि है। इसमें इतने संस्कार भरे हैं, इतने आकार-प्रकार धरे हैं कि एक-एक करके यदि उनका अन्त करना चाहें तो कोई भी उनका अन्त नहीं कर सकता। अच्छेसे भी गहराईमें बुरे हैं, तो बुरेसे भी गहराईमें अच्छे हैं। कौन, कब प्रकट हो जाये इसका नियम नहीं है, क्रम नहीं है। यहाँतक कि भगवदाकार वृत्ति भी सुषुप्तिमें लुप्त हो जाती है। तो वह सुषुप्तिमें स्थित अनादि संस्कारोंको कैसे मिटा पायेगी। जाग्रत-स्वप्नमें वृत्त्यन्तर ही कर सकती है।

यद्यपि निरोध-दशामें सुषुप्तिका भी निरोध हो जाता है, परन्तु व्युत्थान होनेपर फिर पूर्ववत् संस्कारानुसार वृत्ति-प्रवाह ही होता है। यहाँ तक कि निरोध-दशामें भी संस्कारोंकी प्रवाह-वाहिता बनी रहती है। ऐसी परिस्थितिमें चित्तगत स्थिति, ज्ञान और सुख स्थायी नहीं हो सकते। चित्त-दशाके परिवर्त्तनसे उनमें परिवर्त्तन होता ही रहेगा। ऐसी स्थितिमें चित्तका भी त्याग होना चाहिए। साधारण मुमुक्षुके लिए देहा-भिमानका त्याग ही कठिन है। चित्तका त्याग तो नितान्त असम्भव है। विषय एवं चित्त घुल-मिलकर ऐसे एक हो गये हैं जैसे दूध और पानी। इनको अलग-अलग करना किसी भी साधना एवं प्रयासके द्वारा नहीं हो सकता। तब इस चित्तसे पिण्ड कैसे छूटे ? इसमें दीखते हैं विषय, इसमें सोते हैं विषय, इसमें बदलते हैं विषय। वे चाहे शान्त हों चाहे उदित, वे चित्तसे निकालकर फेंके नहीं जा सकते।

तो, आइये, फिर हम इस चित्तको ही वित्त-त्यागी संन्यासीके समान त्यागकर—हम चित्त-त्यागी, महात्यागी क्यों न हो जायें ? यही तो सर्व-त्याग है। परन्तु, यह किसी क्रिया, उपासना या योगसे त्यागा नहीं जा सकता। फिर इसका त्याग कैसे हो ?

हाँ, तो क्या आप सचमुच इस चित्त-वित्तसे मुक्त होना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो मुमुक्षाकी प्राप्ति हो गयी। आप मुमुक्षु हो गये। आइये,

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निवृत्ति-परायण सद्‌गुरुके चरणोंकी शरणका वरण कीजिये। अपने स्वरूपका बोध हुए बिना चित्तका त्याग नहीं हो सकता। असङ्गताकी भावना या स्थिति भी तात्कालिक होती है। अतः अपने स्वरूपको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानना आवश्यक होता है और वह सद्‌गुरुके बिना नहीं हो सकता है। •

(५८)

गुरु क्यों ?

३०-१-८५

अच्छाजी, यह तो बताइये कि आपका कोई गुरु है कि नहीं ? क्या आप इतने विद्वान, बुद्धिमान, प्रतिभाशाली तथा अनुभवी हैं कि आपको गुरुकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ? यदि हाँ, तो आपसे बड़ा अभिमानी और कौन होगा ? क्या आप दुःखी नहीं हैं ? क्या आपको कभी कोई संशय नहीं होता ? क्या आप कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होते ? क्या आपको कभी दिशा-निर्देशकी आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती ? भाई मेरे, यह अभिमान आपको कहीं-न-कहीं पटक देगा, आपको ले डूबेगा। आप अत्यन्त भार-ग्रस्त होते जा रहे हैं।

अच्छा, यह तो बताइये कि इस संसारमें क्या आपका कोई सच्चा हितैषी नहीं है जिसपर विश्वास करके आप अपनी जीवन-नौका ठीक दिशामें ले चलें ? आप अपनी माताकी बातपर विश्वास करते हैं कि यह तुम्हारे पिता हैं; नाईपर विश्वास करते हैं; रसोइया, डाक्टरपर विश्वास करते हैं, परन्तु आप अपने सच्चे हितैषीपर विश्वास नहीं करते। यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है ? आप तो सर्वथा अपनेको असहाय बना रहे हैं, असहाय हैं—विशेष करके तब जब आप बुद्धिके पीछे रहकर उसके संचालन करनेवालेके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहते हैं। नेत्र रूपको देखते हैं परन्तु रूप नेत्रको नहीं देख पाता। आप बुद्धिको देखते हैं परन्तु बुद्धि आपको नहीं देख पाती।

तब केवल अपने बौद्धिक अभिमानके द्वारा आप आत्म-सत्यका साक्षात्कार नहीं कर सकते। आइये, वाद-विवादसे ऊपर उठ जाइये। मतिको सोने-जागने दीजिये। आने-जाने दीजिये। मतिसे परे, मतिका साक्षी, मतिका अधिष्ठान, मतिका प्रकाशक, मतिसे रहित जो अद्वितीय तत्त्व है, उसके स्वरूपको सद्‌गुरुके द्वारा श्रवण कीजिये। श्रवणके अतिरिक्त आत्मतत्त्वके निश्चयका और कोई मार्ग नहीं है। •

(५९)

अगली सीढ़ीपर चढ़िये, पिछली सीढ़ी छोड़िये !

३१-१-८५

आप संसारके व्यवहारमें कहाँतक आगे बढ़ गये हैं ? क्या-क्या सत्य मानने लगे हैं ? नेक अन्तर्दृष्टिसे देखिये तो ! बाल्यावस्थामें बालकोंके साथ खेलते समय घर-घरौंदे बनाते थे; मिट्टी, मोम, आटाके पुतले बनाते थे; कोई बालक तोड़ देता तो उससे लड़ पड़ते थे—तुमने मेरी रचना क्यों बिगाड़ दी ? है ना ?

इसी प्रकार अनेक मन-गढ़न्त बातें मनमें बैठ जाती हैं और उनको निकालनेके लिए युक्ति करनी पड़ती है। मन बैठ गया—घरमें भूत-प्रेतका निवास है। डर रहे हैं, ताबीज बाँध दी, डर मिट गया। न भूत था, न तो भागा। भ्रान्ति थी, भाग गयी। भूत-प्रेत अध्यारोप था, ताबीज अपवाद। कल्पित संख्याओंके द्वारा यथार्थका गणित निकल आता है।

यही है शैली श्रवणकी। आप एकबार फिर इसे अच्छी तरह समझ लीजिये। गोबरकी गौरी और सुपारीके गणेश। आवाहन किया, स्थापना की, पूजा की, विसर्जन कर दिया। आवाहन अध्यारोप है, विसर्जन अपवाद है। माँ-बापसे प्रेम है, ममता है—अध्यास है ! विवाह हो गया। पति-पत्नीका प्रेम हो गया। बाधा डालनेवाले माँ-बाप छूट गये। अपवाद हो गया। वर-कन्याका विवाह हुआ। पति-पत्नीका अध्यारोप हो गया। तलाक हुआ। पति-पत्नीका अपवाद हो गया। संसारकी वस्तुओंसे प्रेम है—अध्यारोप हो गया। भगवान्‌से प्रेम हो गया तो, पहले प्रेमका अपवाद हो गया। अपास्यका अपवाद उपास्यका अध्यारोप। समाधिका अभ्यास किया, संसारसे वैराग्य हुआ। अभ्यास अध्यारोप है, वैराग्य अपवाद है। संप्रज्ञात समाधिका अपवाद हुआ, असंप्रज्ञात समाधिका अध्यारोप हुआ। इसी प्रकार क्रमशः अन्नमय कोष, प्राणमय कोष इनका अध्यारोप-अपवाद होता है।

एकको पकड़कर दूसरेको छोड़ा जाता है। इसी प्रकार देह-भावसे छुड़ानेके लिए जीवभावका अध्यारोप होता है। जीव-भाव आनेसे देहाभिमान और तत्-सम्बन्धी ममतास्पदोंका अपवाद हो जाता है। साक्षीभावके अध्यारोपसे कर्त्ता, जीवका भी अपवाद हो जाता है। परन्तु सबका

अपवाद कर देनेपर जो जीवका स्वरूप शेष रह जाता है, वह क्या है ? वह बुद्धिका विषय नहीं है। वहाँ धर्म, उपासना, योगकी गति नहीं है। वहाँ वाणी, मन आदिकी पहुँच नहीं है। तब वह क्या है ? धर्माधर्मसे परे, कार्य-कारणसे परे, भूत-भविष्यसे परे—क्योंकि यह सब तो बुद्धिके विषय हैं—वह अमत तत्त्व क्या है—इसको आप श्रुति-स्मृति, पुराण-प्रोक्त सद्गुरुके वचनके बिना कैसे अनुभव कर सकते हैं ? तो, फिर आइये, श्रवण कीजिये !

●

(६०)

श्रवणका चमत्कार

१-२-८५

सभी इन्द्रियोंका अपना-अपना विषय अलग-अलग होता है—जैसे कानका शब्द, त्वचाका स्पर्श, नेत्रका रूप, रसनाका रस और नासिकाका गन्ध। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण नहीं करती है। सब अपने-अपने विषयके ज्ञानमें शूर-वीर हैं, फिर भी अपने विषयको पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। जैसे दूरका शब्द या रूप, जैसे सूक्ष्मतम शब्द या रूप; जैसे दूसरे समयका शब्द या रूप—अर्थात् इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है। यहाँतक कि वे अपनेको भी ग्रहण नहीं कर पाती हैं। नेत्र-नेत्रको देख नहीं सकते। ऐसी स्थितिमें इनके द्वारा नाम-रूपके प्राकट्यसे पूर्व जो तत्त्व है, उसका ग्रहण या न ज्ञान कैसे हो सकता है ? इन्द्रिय अपने-अपने स्वरूपमें चक्कर काटती रहती है। तेजस्-तत्त्वका अध्यात्म नेत्र, अधिदैव सूर्य, अधिभूत रूप। तेज ही तेजसे तेजको देखता है। कोई भी इन्द्रिय अपने प्रकाशकको, अधिष्ठानको, अनन्त-तत्त्वको देखनेकी शक्ति नहीं रखती। फिर इनसे क्या आशा रक्खी जाये ? क्या ये तत्त्वका साक्षात्कार करा देंगी ? छोड़िये भी !

अच्छा तो मनसे चिन्तन करें। इन्हीं इन्द्रियोंने अपने-अपने ज्ञानके संस्कार मनमें भर दिये हैं। संस्कार वासनाके बिना मन किसी शुद्ध

वस्तुका चिन्तन नहीं कर सकता। देखे-सुनेका संस्कार मनको रङ्ग देत है। जैसा शीशा आँखपर लग जाता है, सूर्यकी रोशनी उसी रङ्गकी दीखती है। वस्तुतः सूर्यकी रोशनीमें कोई रङ्ग नहीं होता। ऐसे ही जब हम सत्यका चिन्तन करने लगते हैं, तो मनमें जैसा संस्कार हैं, उसके अनुसार अनुभव होने लगता है। साकार है, निराकार है, दूसरे लोकमें है, सृष्टिके आदि-अन्तमें है—ये सब संस्कारोंके खेल हैं। चित्तकी एकाग्रता-से थोड़ी देरके लिए आकार तो हट सकते हैं, परन्तु संस्कार नहीं मिट सकते। इसलिए शुद्ध मनसे ही शुद्ध-तत्त्वका चिन्तन हो सकता है। क्या आप अपने मनको शुद्ध करनेका प्रयास कर रहे हैं ?

रही बात बुद्धिकी। सबकी बुद्धि अलग-अलग होती है। दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता, गर्भ, खान-पान, सङ्ग-साथ—सबका प्रभाव बुद्धिमें रहता है। बुद्धि सामने देख सकती है, पराक (बाहर)को देख सकती है, प्रत्यक्को नहीं। अर्थात् अपने प्रेरक, प्रकाशक, अधिष्ठानके सम्बन्धमें केवल कल्पना कर सकती है। पहले इन कल्पनाओंका त्याग करना पड़ता है। कल्पित सत्य वास्तविक सत्य नहीं नहीं होता। अकल्पित सत्य ही वास्तविक सत्य होता है। कल्पना-जल्पनाके जालसे छूटना बहुत कठिन है। इसके लिए अपनी पूर्णता एवं अद्वितीयताका अनुभवी सद्गुरु चाहिए। परमार्थमें अद्वितीयता और व्यवहारमें पूर्णता। पूर्णतामें ही समता होती है। उसमें अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अहं-ममका भेद-भाव नहीं होता। बिना ऐसा अनुभव हुए समता नहीं आ सकती। समता आये बिना दुःख नहीं मिट सकता। जो अकल्पित, अमत, स्वयं-प्रकाश तत्त्व है, वही अपने आत्माका वास्तविक स्वरूप है—यह अनुभव ही परमार्थका अनुभव है। यह बात इन्द्रियोंसे, मनसे या बुद्धिसे अनुभव नहीं की जा सकती। इसके लिए एकमात्र उपाय है—श्रवण।

घोर अन्धकारमें, जहाँ नेत्र काम नहीं करते, जहाँ मनसे अनुमान नहीं हो पाता, वहाँ वाग्-ज्योति अर्थात् शब्दका प्रकाश काम करता है। देवदत्त, यज्ञदत्त ! मैं तुमको नहीं पहचानता हूँ। मैं मनसे अनुमान भी नहीं कर पाता हूँ कि तुम कौन हो ? उसने बोलकर बताया—मैं अमुक हूँ। अन्धकारमें भी पहचान गये। इस अज्ञानान्धकारमें भटकते हुए जीवके लिए श्रवण ही एकमात्र सहारा है। आइये, श्रवण कीजिये !

•

ज्ञानका अद्भुत स्वरूप !

५-२-८५

जो वस्तु जैसी है उसको ठीक-ठीक वैसी ही जाननेका नाम ज्ञान है। अन्य वस्तुको जनना हो तो उसके लिए श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि करणोंका उपयोग करना पड़ता है। आप देखेंगे कि विषय अनेक होते हैं, परन्तु उन्हें देखनेके लिए प्रकाश एक होता है। अबतक आपने कितने रूप देखे हैं ? नेत्रेन्द्रिय वही-का-वही है। विषय अनित्य होते हैं, ज्ञान नित्य होता है। घट, पट आदि विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता है।

जिस आँखसे मैंने कल नीली-पीली साड़ी देखी थी, उसीसे आज लाल, सफेद साड़ी देख रहा हूँ। साड़ी अलग-अलग हुईं, नेत्र एक हुए। जिस ज्ञानसे कानके द्वारा मैंने शब्द सुने थे, उसी ज्ञानसे नेत्रके द्वारा रूप देख रहा हूँ। नेत्र भी किसीके तेज होते हैं, किसीके सामान्य होते हैं, किसीके मन्द होते हैं। सभी इन्द्रियोंकी यही दशा है। विषयके भेदसे ज्ञानमें भेद जान पड़ता है, परन्तु ज्ञान रहता है एक ही।

अच्छा, तो आइये। दूसरी वस्तुको जाननेमें और अपनेको जाननेमें क्या अन्तर पड़ता है ? दूसरेको जानेंगे—वह अच्छा होगा, भला होगा, उपयोगी होगा तो उससे मिलनेका, उसे पानेका मन होगा; बुरा होगा तो छोड़नेका मन होगा। इसका अभिप्राय यह है कि दूसरी वस्तुका ज्ञान पाने या छोड़नेके लिए होता है, परन्तु अपना ज्ञान पाने या छोड़नेके लिए नहीं होता। आत्मा नित्य प्राप्त है, इसको पाना नहीं है। आत्मा छोड़ा नहीं जा सकता। तब, आत्म-ज्ञान केवल यथार्थको प्रकाशित करता है। यथार्थको प्रकाशित करना माने आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो भ्रम है—उसको मिटाना।

जो वस्तु ज्ञान होकर भूतमें रह गयी है, उसकी स्मृति होती है। जो भविष्यमें ज्ञानका विषय होनेवाली है, उसकी कल्पना होती है। अपना आत्मा न भूत हुआ, न भविष्य होगा। वह इसी समय, यहीं अधिष्ठान चेतनके रूपमें प्रकाश रहा है। उसमें स्मृति और कल्पना नहीं जुड़ती है। इसका अर्थ यह है कि एक ज्ञान संस्कारके रूपमें रहकर स्मृतिका हेतु

बनता है और एक ज्ञान कल्पनामें रहकर प्रेरक बनता है; परन्तु अपने स्वरूपका ज्ञान न स्मृतिका विषय है, न कल्पनाका। वह ज्यों-का-त्यों है। वहाँ 'है' और 'ज्ञान' अलग-अलग नहीं है।

यह बात इतनी सीधी-सादी है कि ध्यान देनेपर एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है। वह यह है कि ज्ञान किसीके बनाये बनता नहीं है। यदि किसी जीवने या ईश्वरने ज्ञानका निर्माण किया तो उस निर्माणके पहले क्या ज्ञान नहीं था? ज्ञानका निर्माण भी तो ज्ञानसे ही होगा। ज्ञानसे ही ईश्वर ज्ञात होगा। ज्ञानसे ही जीव ज्ञात होगा। ज्ञानसे ही जगत ज्ञात होगा। बिना ज्ञानके तो कुछ सिद्ध ही नहीं हो सकता। भगवान्का दर्शन होगा तो उसका ज्ञान होगा। भगवान्की पहचान पहलेसे ही होगी। इसलिए ज्ञान, जीव, ईश्वर, प्रकृति, भूत, चित्त, शून्य किसीका भी बनाया हुआ नहीं है। ज्ञान स्वयं है और इसीसे सब कुछ प्रतीत होता है। आप यह चिन्तन करें कि इस ज्ञानसे क्या आप अलग रह सकते हैं या यह ज्ञान क्या आपसे अलग रह सकता है?

अच्छा, तो आइये अब श्रवण कीजिये! यह तो आपको ज्ञात ही है कि अपने माँ-बापको भी आप बतानेसे और विश्वाससे ही पहचानते हैं, इसलिए ज्ञानके स्वरूपपर भी आपको किञ्चित् विश्वासकी और बतानेकी आवश्यकता पड़ेगी। हाँ, तो आप जो भी श्रवण कीजिये, उसके पहले अनुकूल चिन्तन कीजिये। अनुकूल चिन्तन श्रद्धासे ही होता है।

इस ज्ञानसे मुझे क्या मिलेगा—यह तो आप देख नहीं सकते, जान नहीं सकते! हाँ, इतना अवश्य जान सकते हैं कि इस ज्ञानसे मेरी बुद्धिका कौन-सा दोष दूर होता है, कौन-सा भ्रम मिटता है। यदि आपका ज्ञान आपके जीवनका कोई-सा दोष भी मिटता है तो वह आपके लिए उपयोगी है। जैसे यज्ञोपवीत-संस्कारसे अभक्ष्यका भोजन निवृत्त होता है; विवाहसे पर-स्त्री, पर-पुरुषका सङ्ग निवृत्त होता है, वैसे ही बुद्धिमें ज्यों-ज्यों सत्यके ज्ञानकी निकटता आती है, त्यों-त्यों भ्रम दूर होता है। आप देखेंगे कि आपके श्रवणके साथ सुखका समावेश हो गया है।

मिलनेका सुख मत लीजिये, भ्रमके मिटनेका सुख लीजिये। वही ज्ञान सत्य तक पहुँचा सकता है, जो आपके जीवनकी गलतियोंको और भ्रान्तियोंको मिटानेमें समर्थ हो। आपकी एक-एक जानकारी एक-एक

परदा फाड़ती जायेगी और आप उस महान् प्रकाशके निकट होते जायेंगे, जो आपका अपना स्वरूप ही है। बुद्धिके सम्बन्धसे ही वह अन्तर्यामी है। सम्बन्धके बिना तो अपना स्वयं ही है।

परन्तु यह बात सद्गुरुसे श्रवण किये बिना समझमें नहीं आ सकती। कितने बन्धन हैं अपने जीवनमें ? अहंके बन्धन हैं, ममके बन्धन हैं, पाप-पुण्यके बन्धन हैं, राग-द्वेषके बन्धन हैं, सुख-दुःखके बन्धन हैं, ज्ञान-अज्ञानके बन्धन हैं—यह सब बन्धन सद्गुरुसे श्रवण करनेपर ही टूटते हैं। आइये, श्रवण कीजिये ! ●

(६२)

निवृत्ति—एक आश्चर्य !

६-२-८५

अपने मन एवं इन्द्रियोंके द्वारा दूर अथवा बाहरकी वस्तुओंका दर्शन, चिन्तन प्रवृत्ति है। बाहरसे लौटकर अपने समीप आनेका नाम निवृत्ति है। मान लो कि अनेक वस्तुएँ दीख रही हैं—यह प्रवृत्ति है। सब ओरसे नेत्रको हटाकर एकमें स्थिर करना—निवृत्ति है। अब बाहरके उस एक विषयको भी छोड़कर नेत्रमें आजाइये। बिना किसी रङ्ग, रूप, विषयके नेत्रको देखिये। हो गयी ना विषयसे निवृत्ति ? अब नेत्र-वृत्तिको छोड़कर मनोवृत्तिमें आजाइये। मनोवृत्तिको छोड़कर बुद्धि-वृत्तिमें आजाइये। हाँ, तो बुद्धिवृत्ति और मनोवृत्तिमें क्या अन्तर है ? बुद्धिवृत्तिमें ज्ञान है। यह अच्छा है, यह बुरा है। मनोवृत्तिमें इच्छाएँ हैं। अच्छा-बुरा समझते हैं, हित-अहित समझते हैं—यह बुद्धि है। किसी वस्तुको पाना या त्यागना चाहते हैं—यह मन है। मनसे ऊपर उठिये। ज्ञानमें जो बुराई-अच्छाईका भेद है, उससे भी ऊपर उठिये। ऊपर उठना अर्थात् और अन्दर, और अन्दर। अपने और पास, अपने और पास। हुई ना निवृत्ति ? निवृत्ति-पूर्ण होते ही आप अपने शान्त स्वरूपमें बैठ जायेंगे।

आपके पास कोई सुवर्णका आभूषण है ? उस आभूषणमें—जो ढालके या गढ़के रूप-रेखा बनायी हुई है, उसका अलगसे कोई भार नहीं है। भार नहीं है तो रूप-रेखा कोई वस्तु भी नहीं है। रह गयी सुवर्णकी एक सिल्ली। उसको चूर-चूर कर दिया या गला दिया, नाम-रूप बदल गया और सूक्ष्म किया तो नेत्रसे नहीं दीखेगा, खुर्दबीनसे दीखेगा। थोड़ा और सूक्ष्मतामें ले जाइये, वह निराकार हो जायेगा, केवल मानसिक कल्पनाका

विषय। इस कल्पनाको भी छोड़ दीजिये। अब आप हैं—शुद्ध सत्, शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध आनन्द। यहाँ हो गयी निवृत्तिकी पराकाष्ठा। यह सच्चिदानन्द क्या है, इसको जाननेके लिए श्रवणकी आवश्यकता होती है।

आप तृणको किस रूपमें देखते हैं? नेत्र बताते हैं कि यह पीला है। त्वचा बताती है कि कड़ा-कड़ा है। नासिकासे उसके गन्धका एवं रसनासे उसके स्वादका ज्ञान होता है। उसको तोड़िये तो चुरमुर शब्द होगा, जो कानसे मालूम पड़ेगा। आपने तृणको कहाँ देखा? उसके गुण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दको भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे जाना। तृणका वास्तविक स्वरूप अर्थात् उसका वस्तुरूप, परमार्थ-रूप तो आपके अनुभवका विषय हुआ ही नहीं। हाँ, तो वह कैसा है? एक कल्पना बना लीजिये। अब, आपकी जो सत्ता है और कल्पनामें तृणकी जो सत्ता है, उसमें क्या भेद है? सत्ता-सत्तामें भेद नहीं होता, कल्पनामें ही भेद होता है।

आप एक मनुष्यको देख रहे हैं। जैसे चित्र लेते समय कैमरे में छाया आ जाती है, वैसे नेत्रोंके द्वारा देखा हुआ मनुष्य छायाके रूपमें अन्तः-करणमें आजाता है और वहीं आप उसको देखते हैं। माता-पिताका भाव भी अन्तःकरणमें होता है, उस छायामें जुड़ जाता है। अब आप सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये कि उस अन्तःकरणमें पीछेसे झाँकनेवाला, उसको रोशन करनेवाला जो आत्म-चैतन्य है, उससे अलग क्या उस मनुष्यका चैतन्य है, जिसको आप अपते अन्तःकरणमें ही देख रहे हैं? चेतन तो वही है जो देख रहा है, देखे जानेवालेमें चेतनकी कल्पना ही होती है। स्वप्नमें दीखनेवाले पाँच वर्षके पुत्र, तीस वर्षके पिता, साठ वर्षके पिता-मह—तीनोंकी उम्र एक ही है कि नहीं? दीखना—मात्र ही उनकी उम्र है। क्या वे पूर्व जन्ममें कुछ और थे, अब कुछ और हैं? क्या वे अपने कर्मानु-सार पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग, बैकुण्ठमें जायेंगे? वे जो आपसे अलग दीख रहे हैं, उनकी चेतना क्या आपकी चेतनासे अलग है? दो व्यक्ति लड़ रहे हैं, दो व्यक्ति प्यार कर रहे हैं; कोई पैदा हो रहा है, कोई मर रहा है।

यह सब क्या झमेला है? क्या वे अलग-अलग जीव हैं? नहीं। वह आपका ही मन है। जो जीत गया सो भी, जो हार गया सो भी। दोनोंमें चैतन्य आपका ही है। मन आपका ही है। सत्ता आपकी ही है। स्थान, काल और व्यक्तियोंका भेद आपसे निराला कहाँ है? है ना अद्भुत! यह अनूठा, यह अनोखा ज्ञान श्रवणके बिना क्या कभी कोई स्वयं सोच सकता है? हाँ, तो आइये श्रवण कीजिये! •

(६३)

ज्ञानात्मा—नित्य-मुक्त

७-२-८५

व्यवहारमें जितना भी ज्ञान होता है, वह एक त्रिपुटी बनाता है—जैसे नेत्रसे रूपका ज्ञान हुआ। ज्ञान—एक; ज्ञानका विषय-रूप—दो; और जाननेवाला मैं—तीन। हो गयी त्रिपुटी। ऐसा ही प्रत्येक विषय-ज्ञानके साथ होता है। ज्ञानके पीछे ज्ञाता अहं, ज्ञेयके सामने विषय इदं। तो क्या प्रत्येक ज्ञानके पीछे रहनेवाला अहं अर्थात् मैं क्या अलग-अलग सुननेवाला, छूनेवाला, देखनेवाला, चखनेवाला, सूँघनेवाला होता है? नहीं-नहीं, वह तो सबमें एक ही होता है। इसी त्रिपुटीसे अल्पज्ञ एवं सर्वज्ञका भेद बनता है। अल्पज्ञ जीव, सर्वज्ञ ईश्वर। अब मैं और यह, अर्थात् अहं और इदं—दोनोंको बट्टे खातेमें डाल दीजिये। ज्ञान शुद्ध हो गया। इस शुद्ध ज्ञानमें देश, काल, वस्तुका कोई भेद नहीं रहता। अहंका भेद भी मिट जाता है। केवल ज्ञान, केवल ज्ञान। न विषय, न विषयी। यह ज्ञान ही आत्माका परमार्थ-स्वरूप है। महावाक्य द्वारा यही बोध होता है। अर्थात् अपने ज्ञान-स्वरूपको अहं-इदसे मुक्त जान लेनेपर अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूपका अज्ञान मिट जाता है। अद्वितीयपनेको घट-पटके समान ज्ञानका विषय नहीं बनाना होता, बल्कि उसका अज्ञान दूर करना होता है। घटको देखना और मैं घटको जानता हूँ—यह दो वृत्ति हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें मैं ब्रह्मको जानता हूँ—यह वृत्ति उदय नहीं होती। क्योंकि वह स्वयं है। वह जाननेवाला और जाना जानेवाला, दो रूप नहीं हो सकता।

अच्छा, तो सच-सच बताइये, क्या कभी आपने सोचा है कि ज्ञानका ऐसा स्वरूप होता है—ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञान ही ब्रह्म है अर्थात् आत्मा ब्रह्म है? है ना यह ज्ञानका अद्भुत चमत्कार! आपने अपने मनसे जितने बन्धन गढ़ रक्खे हैं, सब छिन्न-भिन्न होकर ढह जायेंगे। आपकी परतन्त्रता मिट जायेगी। जीवन-मरणका भय भाग जायेगा। राग-द्वेष टिक नहीं सकेंगे। सुख-दुःखका द्वन्द्व आपका स्पर्श नहीं कर सकेगा। यह है ज्ञानका चमत्कार—जिसमें धर्म, उपासना, योगतकका कोई बन्धन नहीं है।

ज्ञानको भी रखनेका तनाव नहीं है। यही है जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख। यह धर्मके समान कर्म-विशेषमें आबद्ध नहीं है। यह उपासनाके समान निरन्तर पकड़े रहनेका नहीं है। यह योगके समान अन्तर्गुहामें निरुद्ध होना नहीं है। आप व्यवहारकी प्रत्येक दशामें ज्ञान हैं, ज्ञान हैं, ज्ञान हैं—अखण्ड ज्ञान हैं।

ऐसा ज्ञान केवल अनुभवी तत्वज्ञसे ही प्राप्त हो सकता है। श्रवण कीजिये !

(६४)

उत्साहसे आगे बढ़िये !

९-२-८५

वासनाएँ प्रबल हैं। मन चञ्चल है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। प्रलोभन अगणित हैं। पाँव डगमगा जाते हैं। बाधा पिशाचीके समान सामने खड़ी हो जाती है। मनुष्यके मनमें एक प्रकारकी उदासी अथवा निराशा छा जाती है। उसको ऐसा लगने लगता है, जैसे मैं मार्गसे च्युत हो गया हूँ। बस, यही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। जो मार्गमें चलता है, उसीके पाँव फिसलते हैं। कभी-कभी गिर भी पड़ता है। यह कोई अनहोनी नहीं है। यह कोई अपराध भी नहीं है। गिरके न उठना अपराध है। आगे न बढ़ना अपराध है। इसलिए आप बाधाओंसे घबड़ाइये मत। उदास, निराश मत होइये। भविष्यकी सम्भावना अत्यन्त उज्ज्वल है, क्योंकि आपकी आत्म-शक्ति अनन्त-शक्तिके साथ जुड़ी हुई है। उसको कोई पराजित नहीं कर सकता। उत्साहके साथ आगे बढ़िये। लक्ष्यकी प्राप्ति हुई, अब हुई—ऐसा निश्चय करके प्रतिपल, प्रतिपद लक्ष्यके सामीप्यका अनुभव कीजिये। जो आप चाहते हैं—वह कोई दूसरा नहीं है। आप ही हैं। आपके प्रयासका एक क्षण या कण भी व्यर्थ नहीं जाता। वह आपको पूर्णतासे मिलता है।

हाँ, तो लक्ष्यके प्रति आप कितने सच्चे हैं, कितने सजग हैं? आपकी आकांक्षा, आपकी लालसा, आपकी उत्कण्ठा, आपकी व्याकुलता कितनी गहराईतक, सूक्ष्मताके किस स्तरतक पहुँच चुकी है? वह कौन-सा प्रतिबन्ध है जो आप और आपके लक्ष्यके बीचमें आवरण बना हुआ है? आप उन्मत्तके समान पूरी शक्तिसे एक छलांग भरिये। वह दूरी, वह

देरी, वह दूसरापन जो आप और आपके लक्ष्यमें अन्तराय बना हुआ था, मिट जायेगा। वस्तुतः वह था ही नहीं। मनका ही अटकाव है। यह भ्रमका ही एक क्रम है। इसको दूर करनेमें किसी भी श्रम या क्लम (थकान)की आवश्यकता नहीं है। जब आप इसको दूर करना चाहेंगे, तब समग्र ईश्वरीय शक्ति आपकी शक्तिके अनुकूल हो जायेगी और यह अन्धकार ही एक महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट हो जायेगा। उठिये, जागिये। तत्पर हो जाइये। सम्पूर्ण शक्तियाँ आपकी सहायताके लिए उत्सुक हैं, उन्मुख हैं।

(६५)

विचारके विपरीत आचरण क्यों ?

१९-१-८६

हमें यह ज्ञान तो है कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं परन्तु, जब सम्मुख कोई प्रलोभन या आकर्षण आ जाता है तब ज्ञानके विपरीत आचरण होने लगता है। इसका क्या कारण है ?

जबतक ज्ञान और सुख एक साथ रहते हैं तबतक अनुचित आचरण नहीं होता। जब सुख ज्ञानसे अलग हो जाता है और ज्ञान सुखके पीछे-पीछे चलने लगता है, तब अनुचित आचरण होता है। इसको यों समझिये—कि हम जानते तो हैं कि झूठ बोलना अनुचित है, पाप है; चोरी करना अनुचित है, पाप है; परन्तु झूठ बोलनेसे या चोरी करनेसे मुझे सुख मिलेगा यह कल्पना हो जाती है, तो मन सुखके पक्षमें हो जाता है और ज्ञानका पक्ष छोड़ देता है। ज्ञान स्वामी है। सुख उसका सेवक है। जहाँ ज्ञानके अनुसार आचरण होगा वहाँ सुख साथ-साथ चलेगा। परन्तु, जब सुखके पीछे-पीछे ज्ञान चलने लगता है, तब ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं रहता, विपरीत हो जाता है, अर्थात् अज्ञान हो जाता है। यही कारण है कि हमारे मनमें सुखका पक्षपात भर गया है और ज्ञानके अनुसार जीवनमें रुचि नहीं रही है। इस रुचिको उत्पन्न करनेके लिए थोड़ा कष्ट सहकर भी अपने ज्ञानके अनुसार जीवन बनाना चाहिए। सुख क्षणिक होता है। ज्ञानके विपरीत होनेपर तो वह दुःखदायी भी हो जाता है। अतः तपस्या, सहिष्णुता और निष्कामताके द्वारा अपने सुखको ज्ञानका अनुयायी बनाना चाहिए, तब पापके प्रलोभन और आकर्षण अपने अन्तःकरणपर प्रभाव नहीं जमायेंगे। ●

(६६)

भाव या विचार

२०–१–८६

जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, समय या भावको ईश्वरकी उपासनाकी दृष्टिसे देखते हैं तब उसमें विज्ञान अथवा विचार जोड़नेकी आवश्यकता नहीं रहती। वस्तु चाहे छोटी हो या बड़ी हो—शालग्रामकी बटिया हो, तुलसीका पौधा हो, पीपलका वृक्ष हो, गाय हो, हंस हो, गुरु हो अथवा आकाश, वायु, अग्नि हो—उसमें अपनी ओरसे भगवद्बुद्धि करनी पड़ती है। भाव कर्ताकी ओरसे होता है और जिस वस्तुकी उपासना की जाती है, उसमें पूर्णत्वकी बुद्धि की जाती है, प्रयोगशालामें उसकी जाँच नहीं की जाती और विचारके द्वारा ऊहोपोह करके उसकी पूर्णता जाँची नहीं जाती। वह चाहे कुछ भी हो, हमारी बुद्धि जब पूर्णताका भाव करेगी तो हमें पूर्णताका साक्षात्कार होगा। यदि उसमें किञ्चित् भी न्यूनताका भाव रहा तो पूर्णताका प्रकाश नहीं होगा।

विचारका मार्ग दूसरा है। उसमें अपनी ओरसे भाव करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वस्तुका स्वरूप कैसा है उसको साधन, युक्ति, स्थिति और अनुभवके द्वारा निरावरण करना पड़ता है। भाव कर्ताके अधीन है और विचार वस्तु-स्वरूपके अधीन। संसारकी वस्तुओंको देख-देखकर परमात्मा, परमार्थ सत्यके बारेमें तरह-तरहके अध्यारोप होते हैं, कल्पनाएँ की जाती हैं। यहाँ तक कि कालकी वासनासे ही हम परमात्माकी नित्यता मानते हैं—देशकी वासनासे व्यापक मानते हैं और वस्तुकी वासनासे उपादान। जब इन वासनाओंसे मुक्त होते हैं तब अपने स्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है, जिस आत्मासे सबका भान होता है उसीमें सबका अभाव भी होता है। अतः सावधान रहकर भाव और विचारकी खिचड़ी बनानेसे बचना चाहिए। भाव करो तो पूर्ण-रसमें, विचार करो तो अत्यन्त निष्ठुर !

•

(६७)

ज्ञानका अनादर मत कीजिये

२१-१-८६

आप अपने ज्ञानका अनादर तो नहीं करते ? यदि आपका ज्ञान कुछ कहेगा और आप उसकी उपेक्षा करके दूसरा कुछ कहेंगे-करेंगे तो, आप स्वयं अपने ज्ञानका अपमान करेंगे। अपमानित ज्ञान संकुचित हो जाता है। ज्ञानके संकुचित होनेपर नयी-नयी स्फुरणा, नये-नये विचार नहीं उठते, प्रतिभाका प्रकाश मन्द हो जाता है। आप अपने ज्ञानका आदर कीजिये। अपनी दृष्टिसे ही जो अनुचित हो वह मत कीजिये।

आपका ज्ञान दूसरोंको समझानेके लिए है कि स्वयं अपने समझनेके लिए है ? यदि दूसरोंको समझानेके लिए है तो दूसरेको अज्ञानी मानना पड़ेगा, साथ ही अपनेको ज्ञानी। दूसरेके प्रति हीन भाव और अपने प्रति उच्च होनेका भाव, अर्थात् अभिमान आनेकी सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए, ज्ञानका उपयोग स्वयं अपने आपका ही ठीक-ठीक समझनेमें करना चाहिए।

संसारमें प्रायः सभी वस्तुएँ और उनकी श्रेष्ठता-कनिष्ठता देश, काल, अधिकारी, अवस्था, शक्ति, परम्परा आदिके अनुसार मानी हुई हैं। वे अलग-अलग होती हैं, बदलती जाती हैं और स्थानान्तरित भी होती हैं। इसलिए, उनके आधारपर किसीको श्रेष्ठ-कनिष्ठ माननेका कोई कारण नहीं है। अपने साथ जो मान्यताएँ जुड़ी हुई हैं उनमें भी अधिकांश अविचार अथवा रूढ़िके कारण ही है ! ज्यों-ज्यों उनकी पोल-पट्टी खुलती जाये या या बखिया उघड़ती जाये, त्यों-त्यों उनके प्रति आस्था शिथिल कर देना चाहिए। भले वे जीवनमें रहें परन्तु बुद्धिमें उनके प्रति महत्त्वकी धारणा नहीं रहनी चाहिए।

हमारे अहंके साथ जो मलिनता जुड़ गयी है, उसका त्याग करना चाहिए और जो अच्छाइयाँ जुड़ गयी हैं, उनके परिवर्तन, नर्त्तन और वर्तनको समझना चाहिए। जैसे वस्त्र, आभूषणके फैशन बदलते हैं, वैसे ही अच्छाइयोंके, व्यवहारके फैशन भी बदलते हैं। अपने साथ कुछ भी नहीं

रहता। सुषुप्ति-कालमें सब कुछ छूट जाता है अथवा विस्मृतिके गर्भमें लीन हो जाता है। यदि हम चाहें तो जाग्रत दशामें भी अपने उदात्त एवं स्वस्थ ज्ञानके द्वारा सबको त्याग सकते हैं। अपने ज्ञानका आदर कीजिये। अज्ञानसे मानी हुई सारी रूढ़ियाँ अपने आप ही खिसक जायेंगी! सरक कर गिर जायेंगी। ज्ञानका आदर ही परमार्थ सत्यके साक्षात्कारका मार्ग है।

•

(६८)

सुख-दुःख दृष्टि-मात्र है

२२-१-८६

एक था कुम्हार। पत्नी, पुत्र परिवार संयुक्त। प्रतिदिन घड़े-सकोरे बनाता, पकाता, बेचता। गृहस्थी भली-भाँति चल रही थी! अब उसको एक स्वप्न आने लगा। निद्रा आते ही वह सम्राट् हो जाता। राज्य, महल, रानी, राजकुमार, सेनापति, सम्पदा, अनुकूल प्रजा—उसके पास सब कुछ हो जाता। बहुत सुखी रहता। नींद टूटनेपर फिर कुम्हार-का-कुम्हार। लगातार बहुत दिनों तक एक ही स्वप्न आनेपर उसके मनमें स्वाप्निक पदार्थोंसे आसक्ति हो गयी। अब, उसका दिन भरके काममें मन नहीं लगता। यही चाहता रहता कि कब रात हो, नींद आये और मैं सम्राट् हो जाऊँ। स्वप्नका स्वभाव है कि वह जितनी देर मालूम पड़ता है उतनी ही देर रहता है। प्रत्युत् उसका देर-सबेर भी स्वप्नका ही होता है। वहाँ दीखना और वस्तुका भेद नहीं होता। दीखना ही वस्तु है और वस्तु ही दीखना है। दृष्टि ही सृष्टि है।

आप अपने वर्त्तमान जीवनकी ओर दृष्टि डालिये। सुख-दुःख क्या

है ? उसका स्थान, समय गुरुत्व-लघुत्व क्या और कितना है ? वह आया है कि गया है, बनता है कि बिगड़ता है, दर्पणमें दीखनेवाली छाया है। मालूम पड़ना ही सुख-दुःखका अस्तित्व है। अज्ञात-रूपसे सुख-दुःख नहीं होते। तब उनकी सत्ता क्या है ? केवल प्रतीति, केवल प्रतीति ! यह एक भ्रान्ति है कि सुख-दुःख सत्य हैं, कहींसे आये हैं, रहेंगे या जायेंगे। सिनेमाके पर्देपर जो कुछ दीख रहा है—छाया है। अन्तःकरणके पर्देपर जो कुछ दीख रहा है—वह माया है। वह—न देखनेवालेमें है, न पर्देपर है। उसको सत्य मत बनाइये। देखिये और देखिये ! सुख-दुःखकी छाया छाया ही है, वह सत्य नहीं है। उसको बोझ मत बनाइये ! वह बिना भित्तिका चित्र है, बादलोंमें चलनेवाली देवताओंकी बरात है। उसको सत्त्व मत दीजिये, महत्त्व मत दीजिये। अपनेको उसके साथ मिलाइये मत ! देखिये बस देखिये !

•

(६९)

सुख-दुःखका रहस्य

२३-१-८६

एक था बादशाह। पत्नी, पुत्र, महल, सम्पदा, प्रसन्न-प्रजा—सब प्रकारसे भरपूर। परन्तु प्रतिदिन कोई-न-कोई खुट-पिट लगी रहती थी—बेगम रुठी हैं, बेटा किसीपर अत्याचार कर रहा है, सेनामें गड़बड़ी है, शत्रुका भय है, कहीं कोई रोग न हो जाये—एक-पर-एक अगणित। कभी चैनकी नींद नहीं आती। प्रवाहमें संसारका अन्त नहीं है।

एक दिन वह महलकी छतपर घूम रहा था। उसकी दृष्टि पड़ी—किलेके नीचे चहारदीवारीके पास, एक झोपड़ीपर। उसमें कोई गरीब रह रहा था। पति, पत्नी, पुत्र, मिट्टीके बर्त्तन, खाने-पीनेकी कोई सामग्री नहीं। कहकहे लग रहे थे, हँसी-खुशीसे खा-पीकर सब-के-सब आरामसे

सो गये। एक दिन, दो दिन, तीन दिन—बादशाह देखता रहा। आश्चर्य होता—इनके पास कुछ नहीं है, फिर ये इतने सुखी कैसे रहते हैं ?

समय मिलनेपर अपने मन्त्रीसे उसने इसकी चर्चा की—ये दरिद्र इतने सुखी कैसे रहते हैं ? मन्त्रीने कहा—'अच्छा जाँहपनाह, मुझे आप निन्नानबे रुपये दे दीजिये। उसने एक पोटली बनायी, छतपरसे नीचे गरीबके घरमें डाल दी ! दूसरे दिन गरीबके परिवारने वह पोटली देखी, उठायी, खोली। आवांछित रूपसे इतने रुपये प्राप्त हो गये। उसके घरमें तो कुछ भी नहीं था—एक छदाम भी नहीं था। अब सबने मिलकर यह सलाह की कि एक-एक पैसा रोज बचाकर निन्नानबेको सौ कर दिया जाय। जिस दिन नहीं बचा पाते उस दिन परस्पर एक दूसरेके साथ कलह आरम्भ हुआ। एक दूसरेपर आरोप लगाता—तुमने अधिक खर्च कर दिया—आज बचा क्यों नहीं ? धीरे-धीरे मन-मुटाव हो गया। एक दूसरेसे बोले नहीं, हँसे नहीं, लड़े-झगड़े—दुःख आ गया।

मन्त्रीने बादशाहसे निवेदन किया—'सरकार, इसका नाम है—निन्नानबेका चक्कर। जिसके मनमें वासना होगी—और, औरकी—वह कभी सुख-शान्तिसे रह नहीं सकता, चैनकी नींद सो नहीं सकता। यही सुख-दुःखका रहस्य है।'

जिसके मनमें जितनी वासना, उतना ही दुःख। वासनाकी जितनी न्यूनता उतना ही अधिक सुख। सावधान ! आप वासना बढ़ा रहे हैं कि घटा रहे हैं ?

•

आसक्ति या भ्रम

२९-१-८६

इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके पदार्थोंका ज्ञान होता है, जैसे, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द। जिस इन्द्रियके द्वारा जिस विषयका ज्ञान होता है, वही उसको होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता। जैसे—नेत्र गन्ध, रस आदिके बारेमें कुछ नहीं जान सकता। अर्थात् दूसरे विषयोंके सम्बन्धमें वह अज्ञानी है। अब रही अपने विषयकी बात। उसको भी पूरी तरहसे नहीं जानता। दूर, निकटमें भेद होता है और रूप बदलनेपर भी भेद होता है। नेत्रका कोण या शक्ति बदलनेपर भी भेद होता है। दूरबीन, खुर्दबीन लगानेपर भी अन्तर पड़ जाता है। चश्मेके नम्बर भी अलग-अलग होते हैं। यह कहना कि मेरे नेत्र-प्रमाणके द्वारा ज्ञात किसी विषयमें हमारी सर्वदाके लिए पूर्ण रूपसे आसक्ति हो गयी है—यह बात कभी सही नहीं हो सकती। अबतक नेत्रने कितने पुष्प, फल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य देखे हैं—उनमें-से वह कहाँ अटका ? इन्द्रियाँ एकके बाद दूसरा देखती जाती हैं, भूलती जाती हैं, नया-नया चाहती हैं। है कहीं इन्द्रियोंकी आसक्ति ? अपने रूपमें या दूसरेके रूपमें ? सर्वथा भ्रम है।

सम्बन्धको लीजिये। क्या आपके जीवनमें आपका कोई ऐसा सम्बन्धी है—व्यक्ति या मनुष्य—जिससे आप निष्कपट व्यवहार करते हैं ? कहीं-न-कहीं छिपाव-दुरावकी मात्रा होती ही है। माँसे पत्नीकी और पत्नीसे माँकी कितनी ही बातें छिपानी पड़ती हैं। हम अपनी पूरी-की-पूरी बात किसीको नहीं बता पाते। आसक्तिमें अनुसन्धान करनेपर कहीं-न-कहीं कपटकी कुछ मात्रा मिलेगी। तब आसक्ति सच्ची कहाँसे हुई ?

क्या अपका मन बाल्यकालसे अबतक कहीं, किसी एक वस्तु, व्यक्ति या स्थानमें आसक्त होकर स्थिर हो सका है ? अजी, पहले जिनसे बहुत आसक्ति जान पड़ती थी, अब उनकी याद भी नहीं आती। मन ज्ञान है, इन्द्रियाँ भी ज्ञान ही हैं। अतः वे अपने विषयोंको देखते तो जाते हैं, परन्तु, कहीं भी इस प्रकार नहीं फँसते कि वहीं-के-वहीं रह जायें। ज्ञान

होता ही वह है जो विषयोंमें परिवर्त्तन होनेपर भी स्वयं अपने स्वरूपमें एकरस स्थिर रहता है। सपने बदलते हैं, मैं नहीं बदलता। आपका मन सचमुच कहीं भी आसक्त नहीं हुआ है, केवल भ्रम ही हुआ है कि इसमें मनकी आसक्ति है।

अच्छा, बुद्धिको लीजिये। आकाशमें जितने तारे हैं, वायुमें जितने झोंके हैं, आगमें जितनी चिन्गारियाँ हैं, जलमें जितने सीकर हैं और पृथिवीमें जितने कण हैं, उतने ही विचार बुद्धिमें रहते हैं। आकाशमें शब्दके समान ही बुद्धिमें विचार बिखरे रहते हैं। कभी कोई आया, कुछ समय तक अच्छा लगा, फिर बदल गया। बुद्धि भी ज्ञान है। वह किसी विचारमें अटकती नहीं है, चिपकती नहीं है, आसक्त होती नहीं है। आसक्ति एक भ्रम है, जो मालूम तो पड़ती है, परन्तु उसमें असलियत नहीं है।

यदि ज्ञानमें आसक्ति रहे तो वह कभी असङ्ग नहीं हो सकता। राग-द्वेष बने रहेंगे। वासनाएँ अपनेको कंगाल दिखाती रहेंगी। पराधीनता बनी रहेगी। ज्ञानके सच्चे स्वरूपमें न इन्द्रियमें, न मनमें, न बुद्धिमें और न तो आत्मामें ही कभी, कहीं, किसीसे आसक्ति होती है। आसक्ति एक भ्रम है।

इस भ्रमके दो रूप हैं। एक मैं किसीपर आसक्त हूँ—यह तो भ्रमका छिछला रूप है, परन्तु, दूसरा—कोई मुझपर आसक्त है—यह भ्रमका बहुत गहरा रूप है। यह पहलेसे अधिक दुःखदायी है। हम किसीके लिए मर जाँय यह तो हमारी मौज है, परन्तु, दूसरा कोई मुझपर मर रहा है—ऐसा सोचना तो अपनेको पशु बना देना है। बस, अब तुम उसके कठपुतली हुए। नचावेगा, नाचेगा।

अतः, आसक्ति भ्रमके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचारवानको सदा इससे सावधान रहना चाहिए।



(७१)

विश्लेषण

३१-१-८६

स्मृति बासी हो जाती है। अर्थात्, पहले अनुभव की हुई वस्तुकी बादमें स्मृति होती है। एक ही अन्तःकरणमें, एक ही समयमें एक ही वस्तुका अनुभव और स्मृति नहीं होते। भूतकालका अनुभव चाहे यथार्थ हो, चाहे अयथार्थ, उसकी पूरी या अधूरी स्मृति होती है।

प्रमाण पहलेसे अज्ञात वस्तुका ज्ञापक होता है। यह अपने विषयका ज्ञान करानेके पश्चात् निष्प्रयोजन हो जाता है। किसी भी वस्तुको बार-बार प्रमाणका विषय बनानेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रमाण भविष्यमें मर जाता है।

भावना अपनी ओरसे की जाती है। दीखेगी मूर्ति, मानेंगे देवता। वह अपनी ओरसे अपने ही ऊपर या किसी दूसरेके ऊपर आरोपित की जा सकती है, उसका यथार्थतासे कोई सम्बन्ध नहीं होता। सङ्ग, रुचि, दूसरोंका प्रभाव भावनामें काम करते हैं। वह की जा सकती है, छोड़ी जा सकती है, बदली जा सकती है, विपरीत सङ्ग मिलनेपर मूर्खताका एक रूप भी मानी जा सकती है।

श्रवण—जैसा परोक्ष या अपरोक्ष वस्तुके सम्बन्धमें होगा, वैसा ही परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करेगा। आत्माके स्वरूपके श्रवणसे आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होगा। परोक्ष ईश्वरके श्रवणसे उसका परोक्ष ज्ञान होगा। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है! वह जिस विषयमें होगा, उसके आवरणको भङ्ग कर देगा। इसीसे भक्ति और वेदान्त दोनों ही श्रवणसे फलप्रद होते हैं। भक्तिका प्रथम साधन भी श्रवण है, ज्ञानमें सर्वश्रेष्ठ प्रमाण श्रवण है।

मननमें संशय निवृत करनेकी शक्ति है और उसमें नवीन-नवीन युक्तियोंका उत्थान भी होता है। प्रमाणमें और उसके विषय प्रमेयके सम्बन्धमें जितने भी सन्देह होते हैं उनको मनन निवृत्त करता है। तर्क-वितर्क श्रवणके प्रतिकूल जाते हैं और मनन श्रवणके अनुकूल रहता है। मननमें चंचलता बनी रहती है एकरूपता नहीं आती।

निदिध्यासनमें विषयकी एकरूपता होनेपर भी वृत्तियोंका प्रवाह बना रहता है। एक धारा होती है जो एक ही ओर बहती रहती है। उसमें

गति है, वेग है, कालका सम्बन्ध है, अन्तर्देश है और विपर्यय रूप प्रतिबन्ध को निवृत्त कर रहा है। निवर्त्य-निवर्त्तक भाव है, अतएव, भेद बना ही रहता है।

ध्यान कर्त्ताके अधीन होता है। उसका विषय चाहे सच्चा हो, चाहे झूठा—इच्छा प्रयत्नसे सम्पन्न होकर वह अपना फल उत्पन्न करता है, जो ध्यानका अभ्यास छूट जानेपर नष्ट हो सकता है। वह कल्पनामें आये हुए विषयका होता है और उसका फल भी अविनाशी नहीं होता।

ज्ञान प्रमाणसे होता है। लौकिक ज्ञान नेत्र आदि लौकिक प्रमाणोंसे होता है। परन्तु अपने आत्माका ज्ञान लौकिक प्रमाणोंसे नहीं हो सकता। क्योंकि लौकिक प्रमाणोंका मुख बाहरकी ओर होता है। अतः स्व-विषयक ज्ञान अर्थात्, आत्माका ज्ञान वेदान्त प्रमाणसे होता है और वह आत्माको घट-पटादिके समान अपना ज्ञेय नहीं बनाता और न तो स्वर्गादिके समान साध्य। प्रत्युत् वह आत्माके अज्ञानका नाश कर देता है। वह विषयको उत्पन्न नहीं करता, स्वर्गादिकी रचना नहीं करता, जो वस्तु जैसी होती है उसको उसी रूपमें निरावरण कर देता है।

ज्ञानका स्वरूप वस्तुके अधीन है और ध्यानका स्वरूप इच्छा-प्रयत्नवान कर्त्ताके अधीन है। ध्यानमें विश्वासकी मुख्यता है, ज्ञान साक्षात्कार-स्वरूप है। ध्यानसे ध्येय वस्तु बनती है, परन्तु ज्ञानसे बनता-बनाता कुछ नहीं, केवल अविद्यावरण भङ्ग होता है। ध्यानसे कुछ पैदा होता है, ज्ञानसे कुछ पैदा नहीं होता। नित्य ज्ञातका ही ज्ञान होता है, नित्य-निवृत्तिकी ही निवृत्ति होती है और नित्य-प्राप्तकी ही प्राप्ति होती है।

वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि अज्ञानसे जो वस्तु पैदा हुई है या रहेगी—इस प्रकार मालूम पड़ती है, वह मिथ्या होती है, पहलेसे होती ही नहीं और जो वस्तु ज्ञानसे मिलती है, वह पहलेसे ही मिली-मिलायी होती है। उसके लिए तो ऐसा समझना चाहिए—जैसे गोदमें बालक शहरमें ढिंढोरा, अथवा कण्ठमें हार और तिजोरीमें ढूँढ़ना। ज्ञानके हेतु, स्वरूप और फलकी यही विलक्षणता है। यह स्वयं स्वप्रकाश है, अजन्य है और अजन्यकी प्राप्तिका बोध करानेवाला है।

•

आत्मा-परमात्मा

३–२–८६

१. आत्मा-परमात्मा अस्ति-नास्ति इन दोनों प्रत्ययोंका अधिष्ठान, स्वयं प्रकाश एवं प्रकाशक है। अस्ति-नास्ति—है-नहीं, ये प्रत्यय हों या न हों—उसपर कोई प्रभाव नहीं है।

२. आत्मा-परमात्मा अविनाशी है। उसके अभावका अनुभव नहीं हो सकता। अनुभवके क्षेत्रमें अपने स्वरूपका अभाव है ही नहीं।

३. आत्मा-परमात्मा किसी देश, काल या वस्तुकी गोदमें नहीं है। देशका अधिष्ठान व्यापक, कालका अधिष्ठान नित्य और वस्तुका अधिष्ठान परिणाम-रहित अद्वैत तत्त्व है।

४. यह अणु, मध्यम या विभु परिमाण नहीं है। परिमाण माने माप-तौल। अणु माने छोटा, मध्यम माने शरीर-बराबर और विभु माने व्यापक। ये सब अपेक्षाकृत हैं। व्याप्य-व्यापक भाव भी सापेक्ष ही है। आत्मा-परमात्मा निरपेक्ष है।

५. आत्मा-परमात्मा निर्विकार है। क्योंकि वह जड़ नहीं है, दृश्य नहीं है, ज्ञान-स्वरूप है।

६. जो स्वप्रकाश, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है उसमें दुःख कहाँसे आवेगा ? वह परम प्रेमास्पद परमानन्द स्वरूप होनेके कारण निर्दुःख है।

७. आत्मा-परमात्मामें विषय-विषयी भाव-रूप द्वैत नहीं है।

८. आत्मा-परमात्माको कोई निर्गुण-सगुण कहे, कोई निराकार-साकार कहे, कोई देशवासी बतावे अथवा देशातीत कहे—वह किसीका विरोध नहीं करता।

९. अच्छाई-बुराई, जुँआ-मच्छर, हाथी-पहाड़ सबमें आत्मा एक-सा है, सरल है।

१०. कोई कुछ कहे, कोई कुछ करे, कोई कुछ सोचे–परमात्मा किसीका परित्याग नहीं करता।

११. दूसरेकी चाह नहीं है। •

इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि परिपूर्णतम परमात्माका मूर्तरूप महात्मा है—यह परमात्माके स्वरूपका एक उदाहरण है। पर-

महात्मा

१. महात्माको कोई सन्त समझे या असन्त, उसपर कोई प्रभाव नहीं है। अस्तिसे सन्त बनता है, नास्तिसे असन्त। ये दोनों अज्ञानियोंको दृष्टि है, महात्मा ज्ञान-स्वरूप है।

२. महात्मामें अपने जन्म, जरा, मरणकी कल्पना है ही नहीं।

३. महात्मा किसी भी देश, काल या वस्तुमें आसक्त या आग्रही नहीं होता।

४. महात्मामें जीव-भाव नहीं होता। इसलिए, उसका अहं अणु, मध्यम या विभुसे आबद्ध नहीं होता। उसकी दृष्टिमें ये तीनों औपाधिक हैं, कल्पना-मात्र हैं। औपाधिक अर्थात् अन्तःकरणसे तादात्म्यके कारण अपनेमें कल्पित हैं।

५. महात्मामें काम-क्रोधादि विकार नहीं है, क्योंकि वह परिच्छिन्न जड़ देह नहीं है, ज्ञान-स्वरूप चेतन निरावरण होनेके कारण उसमें विकार सम्भव ही नहीं है।

६. महात्मामें दुःखके बाहरके निमित्त तो मिथ्या हैं ही, दुःखाकार वृत्ति भी मिथ्या ही है। मिथ्या वस्तुसे तादात्म्य करके—मैं दुःखो हूँ। यह अभिमान महात्मामें कभी आ नहीं सकता।

७. महात्मामें भी विषय-विषयी-भाव-रूप, द्वैत-बुद्धि नहीं है।

८. महात्माको कोई मूर्ख-पण्डित, सदाचारी-दुराचारी, कङ्गाल-धनी, दुःखी-सुखी कहे—किसीके कुछ कहनेका उसपर कोई प्रभाव नहीं है।

९. महात्मा किसीके प्रति टेढ़ी नजर नहीं करता! सरल भावसे—'हाँ बाबा यों ही!'

१०. महात्मा किसीका परित्याग नहीं करता।

११. दूसरेकी चाह नहीं है।

मात्मा अमूर्त है, महात्मा मूर्त, अर्थात् मूर्त्तिमान है। महात्माके जीवनमें परमात्माके स्वरूपसे पृथक् कोई धारणा नहीं है। परमात्मा परमार्थ है, महात्मा व्यवहार है। व्यवहारमें महात्माको देखे बिना परमार्थकी सिद्धि या अनुभूति भी नहीं हो सकती। ●

योग, भक्ति और ब्रह्मज्ञान

चित्तकी वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे एक, जैसे—घट-पट, धूम-अग्नि आदि और सादृश्यसे गाय, नील-गाय इत्यादि। भूलसे दो, जैसे—सीपको चाँदी समझ लेना। झूठे सम्बन्धसे तीन, जैसे—बन्ध्या-पुत्र। निद्रासे चार, जैसे—सुषुप्ति और स्वप्न और स्मृतिसे पाँच, जैसे—देखी-सुनी अनुभवकी हुई वस्तुओंकी स्मृति। ये पाँचों प्रकारकी वृत्ति क्लेश देनेवाली भी होती हैं और क्लेश छुड़ानेवाली भी होती हैं। संसार बढ़ानेवाले क्लेश देते हैं और संसारसे मुक्त करनेवाले क्लेशको मिटाते हैं। योगाभ्यासके द्वारा इन सबका निरोध हो जाता है। द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसी वृत्ति निरोधकी अवस्थाको योग या समाधि कहते हैं।

परन्तु, इस समाधि दशामें न भक्ति रहती है और न ही अविद्या निवर्त्तक ब्रह्मज्ञान। इसलिए ये दोनों ही मार्ग निरोध-योगसे विलक्षण हैं। हमारे हृदयमें सद्‌गुरु शास्त्रके द्वारा भगवान्‌का एक रूप आधान किया जाता है। अब, चाहे उसके विरहकी पीड़ा हो और चाहे तदाकार वृत्तिसे रोमाञ्च, अश्रुपात आदि हो, चित्तवृत्ति गल जाती है। गलनेका अर्थ है कि अबतक चित्तमें जो आकार और राग-द्वेष आदि भरे हैं, वे भस्म हो जाते हैं और चित्तकी द्रवावस्थामें जो भगवान्‌का आकार आता है, उसमें प्रीति हो जाती है। इसीका नाम अर्थात् प्रीति विशिष्ट वृत्तिका नाम भक्ति है।

किसी-किसीकी चित्तवृत्ति शम-दमादि साधनसे राग-द्वेष रहित तो हो जाती है, परन्तु, उसमें अश्रुपात, रोमाञ्च या द्रवावस्था—ये सब नहीं आते हैं। शास्त्र सद्‌गुरुके द्वारा उस चित्तवृत्तिके साक्षीमें ज्ञान-स्वरूप ब्रह्मका आधान किया जाता है, वृत्ति भगवदाकार होती है तो भक्ति और ब्रह्माकार होती है तो ज्ञान। भगवान् सगुण है औव ब्रह्म निर्गुण है।

भक्ति और ज्ञानमें क्या अन्तर है? यह अन्तर है कि भगवदाकार वृत्ति उदय होनेके बाद आजीवन बनी रहती है और ब्रह्माकार-वृत्ति एक बार उदय होकर अज्ञान को मिटा देती है और फिर उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। रहे तो वाह-वाह, न रहे तो वाह-वाह!

भक्ति और ज्ञान दोनोंमें जो सगुण-निर्गुण ब्रह्म है, वह शास्त्र-प्रमाणके द्वारा ही बुद्धिमें आरूढ़ होता है। भक्तिमें विश्वास एवं भावनाकी प्रधानता रहती है और परोक्ष-विषयक वृत्ति बनती है। प्रीति-विशिष्ट भगवदाकार वृत्ति भक्तिका स्वरूप है, उसको कर सकते हैं, छोड़ सकते हैं, बदल सकते हैं, क्योंकि उसमें जो आकार है वह साधन-साध्य है। हाँ, भक्त लोग उसको कृपा-साध्य मानते हैं। ब्रह्मज्ञानमें जो प्रमाण है—महावाक्य—वह अपरोक्ष रूपसे ही आत्माके ब्रह्मत्वका बोधन करता है और इसलिए वह अपरोक्ष सिद्ध वस्तुका बोध है। इस प्रकार भक्तिके प्रमाण, हेतु और फल, विश्वास, तन्मयता और साध्य रूपका अनुभव है, तो ब्रह्मज्ञान प्रमाण-मूलक साक्षात् अपरोक्ष अपनी स्वरूप-सिद्ध वस्तु है। मृदु चित्तके लिए भक्ति और विरक्त निष्ठुर चित्तके लिए ब्रह्मज्ञान। चित्तवृत्तिकी तन्मयता भक्तिमें अपेक्षित है और ब्रह्मज्ञानमें तन्मयताकी अपेक्षा नहीं रहती है। सगुणके साक्षात्कारमें भक्ति स्वतन्त्र है और निर्गुणके साक्षात्कारमें ब्रह्मज्ञान। अतएव, दोनोंमें वाद-विवादके लिए कोई अवसर नहीं है। अधिकारी एवं विषयके भेदसे दोनों ही अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं।

(७५)

चमत्कारोंमें मत फँसिये !

८-२-८६

मनको वशमें करनेसे साधन होता है, मनको उसकी पसन्दपर छोड़ देनेसे संसार बनता है शास्त्र और गुरुके द्वारा भगवान्‌का कोई-सा रूप लाइये—शिव, विष्णु, राम। शास्त्र और गुरुसे प्रदत्त होनेके कारण उसमें महत्त्व-बुद्धि होगी। फिर बारम्बार मन उसका स्पर्श करेगा, एक स्थिर मूर्ति बनेगी। पूजा कीजिये, नाम लीजिये, सम्बन्ध जोड़िये, ध्यान कीजिये। अपनेको उसमें तन्मय हो जाने दीजिये। जैसे कभी-कभी किसी-किसीमें भूत-प्रेतका आवेश देखनेमें आता है या काम-क्रोधका आवेश

देखनेमें आता है, ठीक वैसे ही आप उस मूर्तिमें आविष्ट हो जाइये। मूर्तिके रूपमें हँसिये, मूर्तिके रूपमें देखिये, मूर्तिके रूपमें बोलिये। इस प्रकार अपने आपको भूल जाइये और मूर्तिके रूप हो जाइये। कुछ समयके बाद जब यह आवेश उतरेगा, तब आप तन्मयताका चमत्कार देख सकेंगे।

आपकी कल्पनाएँ, मनोराज्य सत्य होने लगेंगे, वरदान, आशीर्वाद दे सकेंगे। शाप भी दे सकेंगे; परन्तु, यह कोई परमार्थकी स्थिति नहीं है। जिन-जिन शक्तियों, स्वभावों, गुणोंका आरोप आपने अपने उपास्यमें किया होगा, वे आपके अन्दर आजायेंगे। यदि आपका ध्यान शिथिल हो जायेगा, अवधान कम हो जायेगा, तो ये सारे चमत्कार उड़ जायेंगे और आप इनके अभावका अनुभवकर अपनेमें दुःखीपन और कंगालीपनका आरोप कर लेंगे। वस्तुतः, आप ही जब किसीसे एक होते हैं, तो आपकी सत्ता, ज्ञान और आनन्द उसमें भासने लगते हैं। वह उसका चमत्कार नहीं है, आपका ही चमत्कार है, जो मनोविकारसे सम्बद्ध होकर या संश्लिष्ट होकर दूसरेमें भासता है।

आप अपनी नित्यता, चेतता और आनन्दको और किसीमें मत डालिये। वहाँसे निकाल लीजिये। इस प्रकार आप नाशवान, जड़ और दुःखसे अपनेको मुक्त कर लेंगे। तब, देशका विस्तार, कालकी नित्यता और जड़ वस्तुकी कारणता भी आपकी कल्पनासे बरी हो जायेगी और आप तब जान सकेंगे कि आप मूर्ति, तन्मयता, शक्ति, चमत्कार—सबसे निराले हैं और वह निराला रूप ब्रह्म है। अपने स्वरूपका किसी मजहब-से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए, मजहबका दुराग्रह भी सत्यके साक्षात्कारमें बाधक ही है।

इस साधनको बतानेवाला कौन व्यक्ति है या कौन पुस्तक है या कौन-सी परम्परा है या यह कब प्रकट हुआ है—यह सब विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। विचार जहाँ उदय होते हैं और शान्त होते हैं, वहाँ देखिये। विचारके विषय आपका स्पर्श नहीं करते, आप विचारोंके प्रकाशक हैं।

•

श्रानन्द उल्लास

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं,
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं,
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलमहोधावति ।।

बड़े-बड़े योगी, ध्यानके अभ्याससे अपने मनको वशमें करके यदि किसी अनिर्वचनीय, निर्गुण, निष्क्रिय ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका दर्शन करते हैं तो किया करें। हमारी आँखोंको तो चिरकालतक वही नील-नीली साँवरी सलोनी अनिर्वचनीय झिलमिल-झिलमिल करती तेजोमूर्ति, परमानन्दका दान करती रहे, जो यमुनाजीके पावन पुलिनपर उधर-उधर प्रेमसे भरी दौड़ा करती है।

•

योगी योगबलेन संसृतिमिमां त्यक्त्वात्मसौख्ये स्थितः,
कर्मी कर्मजलोकभोगरसिकस्तस्मिन्नुपाये रतः ।
अस्माकं तु नवीनवारिदरुचिर्मन्दस्मितेनाञ्चितो,
गोगोपीजनवत्सलः सुखनिधिः कृष्णः शरण्यो गतिः ॥

योगीपुरुष अपने योगबलसे इस संसारका त्याग करके आत्मानन्दमें स्थित होते हैं। कर्मीपुरुष कर्मके फलरूप स्वर्गादि लोकोंके भोगमें आसक्त रहते हैं।

हमारे तो न योगका बल है, न कर्मका फल है, वर्षाकालीन मेघके समान सुन्दर कान्तिवाले, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, गाय और गोपियोंके परमप्रेमी, आनन्दके समुद्र एवं शरणागत रक्षक श्रीकृष्ण ही सबकुछ हैं। उन्हींका भरोसा है। मैं उन्हींकी शरणमें हूँ।

•

: १ :

गायका महत्त्व

प्रश्न : कुछ समय पूर्व हम आपके वृन्दावन-आश्रममें गये थे, वहाँकी विशाल गोशाला देखी। इतनी अधिक संख्यामें, इतनी स्वस्थ-सुन्दर गायोंको देखकर खुशी हुई। उनके घास-चारेकी व्यवस्था भी देखी। यह भी देखा कि किस प्रेम-भावसे ग्वाले गायोंकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं। गायोंके प्रति इतना आदर-प्रेम देखकर मनमें खुशी हुई। यह प्रश्न भी उठा कि अन्ततोगत्वा गाय भी तो अन्य पशुओंकी तरह एक पशु ही है और इतनी सेवा प्राप्त करके देती हैं केवल दूध, जो कि आजकल डेयरीमें उत्तम कोटिका मिलता है। तो क्या यह अधिक उचित और हितकारी नहीं होगा कि गायोंकी सार-सम्हालपर जो इतना धन और समय, परिश्रम लगाते हैं, वह मानव जातिके विकासमें लगाया जाय! गायोंके प्रति हिन्दू-धर्ममें इतना महत्त्व क्यों है, कृपया यह भी समझायें।

उत्तर : लो भाई, हमारे आश्रम और हमारी गायोंका तो बिना कुछ दिये ही विज्ञापन हो गया। अच्छा, अब जिनको नहीं मालूम है, वे भी जान लें कि वहाँ गौएँ हैं और उनकी सेवा होती है। वे देखनेमें भी बहुत अच्छी हैं, कुछ गौएँ तो दूध भी १६ लीटरसे २० लीटर तक देती हैं और जहाँ-जहाँ प्रतियोगिता होती है, वहाँ जाती हैं और इनाम लेकर आती हैं। हर साल उनको इनाम मिलता है।

अब, रही बात यह कि गायको भी आप सब पशुओंके जैसे पशु मानें, प्रश्न तो यही है ना, गंगाको नदी कहें या दरिया कहें, जैसा मुसलमान लोग कहते हैं। गायत्रीको साधारण शब्द, जैसे गाँवके गाने होते हैं—कहो; गुरुको आदमी कहो और भगवान्‌की मूर्तिको पत्थर कहो—जैसे कि सब पत्थर हैं, वैसे ही यह भी पत्थर है, तो यह विचार करनेकी शैली अच्छी नहीं है। हमारे वैदिक-धर्ममें इनकी महिमा बहुत अधिक है। गायोंकी महिमाके लिए तो वहाँ लिखा है—'विश्वस्य मातरः'—गौएँ विश्वकी, विश्व माने सबकी माँ हैं; वे तो प्रेमकी मूर्ति हैं। देखो, वेदोंमें

प्रेमका वर्णन आया है, वहाँ लिखा है—'वत्सं जातमिवाघ्न्या'—जसा प्रेम गाय तुरन्त पैदा हुए बछड़ेसे करती है वैसा प्रेम हमलोगोंका आपसमें हो !

> सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः ।
> अन्यो अन्यमभिहर्यंत वत्सं....'

सहृदय रहें, मन मिलाकर रहें और गाय जैसा प्रेम करती है वैसा ही प्रेम हमलोग भी एक दूसरेसे करें।

अब दूसरी ओर देखिये, विज्ञानकी उन्नति तो बहुत हो गयी है। चन्द्रलोक, मङ्गल लोकमें आने-जानेकी बात होती है, जाकर आते भी हैं, राकेट भी जाते हैं; लेकिन फिर भी विज्ञानने अभी तक कोई ऐसी मशीन नहीं बनायी, जिसमें डालें घास-भूसा और निकले दूध। विज्ञानकी खोज अभीतक यहाँतक नहीं पहुँची है। हम गायको खिलाते हैं घास-भूसा और निकालते हैं उसमें-से दूध।

एक कथा सुनिये—च्यवन ऋषिका नाम आपने सुना होगा। वे नदीमें डुबकी लगाकर, माने पानीमें ही बैठकर भजन करते थे। तो एक दिन ऐसा हुआ कि वे डुबकी लगाकर भजन कर रहे थे और तभी मछुओंने नदीमें जाल डाल दिया। बेचारे च्यवन ऋषि जालमें फँस गये। अब मछुए मछलियोंके साथ उनको भी बाजारमें ले गये और बिक्री करनेके लिए रख दिया। मछलियाँ तो लोग खरीद ले जायँ, पर उन बुड्ढे बाबाको कौन खरीदे ! शाम हो गयी कोई खरीददार नहीं आया। वहाँके राजाका नियम था कि शामतक जिस चीजकी बिक्री नहीं होती, वह राजा उचित मूल्य देकर खरीद लेता। नियमानुसार राजा शामको गये बाजारमें और उन्होंने च्यवन ऋषिकी कीमत पूछी। राजाने लाख रुपया लगाया, उन्होंने अस्वीकार कर दिया। करोड़ कहा, वह भी अस्वीकार कर दिया। आधा राज्य, पूरा राज्य सब अस्वीकार कर दिया। च्यवन ऋषिने कह दिया—'एक विद्वान्, अनुभवी ऋषिकी कीमतमें ये सब कुछ नहीं होते, उसको दुनियाकी कीमतमें नहीं बेचा जा सकता।' अब राजा बड़े धर्म-सङ्कटमें पड़ गये कि कैसे इनको खरीदा जाय ? फिर राजाने च्यवन ऋषिसे ही पूछा, तो उन्होंने बताया कि हमारी बराबरी करनेवाली कोई चीज यदि है, तो गाय है। हमारे बदलेमें एक गाय मछुओंको दे दो

और मुझे खरीद लो। राजाने वैसा ही किया। तो अपने हिन्दू-धर्ममें तो ऐसा ही विश्वास है कि गायकी कीमत तीनों लोकोंसे बड़ी है।

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवाम्मध्ये वसाम्यहम्॥

हमारे सामने गाय हो, हमारे पीछे गाय हो, हमारे अगल-बगलमें गाय हो और हम गायोंके बीचमें रहें।

और सुनिये—हमको किसी वैज्ञानिकने बताया कि गायके गोबरपर अणुबमका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अब मैंने इसकी कोई परीक्षा तो की नहीं है, पर जानकारोंने मुझे बताया ऐसा ही है।

एक ऐसी कथा भी पुराणोंमें आती है कि जब ब्रह्माजी गायका शरीर बनाने लगे तब उन्होंने सब देवताओंको आमन्त्रित किया कि तुमलोग आकर गायके शरीरमें बसो। सब देवता बहुत खुशी-खुशी आये और सबको अपनी-अपनी जगह मिल गयी और इस तरह गायके रोएँ-रोएँमें देवताओंका निवास हो गया। लक्ष्मीजी और गंगाजी—ये दोनों पिछड़ गयीं। दोनों अपना शृङ्गार करनेमें लग गयीं। गायके शरीरमें वास करना है, वहाँ सब देवता भी रहेंगे, इसलिए हमें शृङ्गार-पटार करके चलना चाहिए। तो सजनेमें देर हो गयी, इसलिए जब वे दोनों पहुँचीं तब गायका शरीर बन चुका था। अब क्या हो, दोनों बोलीं—'हम गायके शरीरमें जरूर रहेंगी, हमें स्थान मिलना ही चाहिए। तब ब्रह्माजीने लक्ष्मीजीको तो गायके गोबरमें स्थान दिया और गंगाजीको गोमूत्रमें स्थान मिला।

अपने यहाँ गोमय (गोबर)से वस्तु और गोमूत्रसे व्यक्तिको पवित्र किया जाता है और गोमय व गोमूत्रके द्वारा कई प्रकारकी औषधियाँ भी बनती हैं, जो कि काफी लाभदायक होती हैं। भागवतमें ही लिखा है कि श्रीकृष्णको जब पूतनाने मारनेका पहला प्रयास किया था, तब गायके चरणोंकी धूल श्रीकृष्णके शरीरमें लगायी गयी थी, गायकी पूँछसे उनको झाड़ा गया था और गोमय व गोमूत्रसे उनको स्नान कराया गया था। माने हिन्दू-धर्मका ऐसा विश्वास है कि भगवान्‌की भी रक्षा गायके द्वारा सम्पन्न होती है।

अब, हमारे यहाँ गायें कैसे आयीं, उनकी बात आपको सुनाते हैं। पहले तो हम गाय रखनेको बिल्कुल तैयार ही नहीं थे, उनकी सेवा कौन करेगा ? यहाँ तक कि एक सज्जनके तो दो गायोंके दिये हुए रुपये मैंने वापस करा दिये थे। यह सोचकर कि गायोंकी देखभाल करनी पड़ेगी और यह सब हम नहीं कर सकते हैं।

फिर ठाकुरजीकी प्रतिष्ठा हुई और उनका नाम रखा गया—नृत्य-गोपाल। 'नृत्यप्रियो गोपालः'—नृत्य-गोपाल। तो ठाकुरजीका नाम हुआ गोपाल और उनकी सेवा करनेके लिए जो ब्राह्मण, पुजारी आया, वह भी गोपाल नामका ही आया। अब, जब दो गोपाल आगये तब गायें भी आगयीं और उनकी सेवाके लिए जो आदमी आया, वह भी गोपाल नामका ही आया और जो दूध-दही मथनेका काम सम्हालता हैं, वह भी ईश्वर-कृपासे गोपाल नामका ही है।

तो ठाकुरजी गोपाल, ठाकुरजीकी सेवा करनेवाले गोपाल, गायोंकी सेवा करनेवाले गोपाल और दूध-दही सम्हालनेवाले गोपाल। गोपाल-ही-गोपालका चमत्कार हो गया। हम तो कुछ करते-कराते हैं नहीं, बस गायोंको देख-देखकर खुश होते हैं—करते तो सब गोपाल ही हैं।

वैदिक धर्मके अनुसार हमारा बचपन बीता और बचपनमें हमने गायोंकी बहुत महिमा सुनी थी और लोगोंसे भी गायकी बहुत पूजा व गोदान करवाया था। इसलिए भाई, हमको तो गाय और पशुके समान पशु नहीं लगती है। हमको तो गाय देवता लगती है।

गायका एक नाम है—'अघ्न्या' माने जिसको कभी मारा न जाय ! मैंने तो ऐसी गाय भी देखी है कि जिसका सबेरे उठकर दर्शन कर लो तो उस दिन आपको बहुत आमदनी हो जाय। गायकी प्रसन्नतासे, उसके आशीर्वादसे आदमीकी रक्षा होते भी देखी है। और यह भी देखा है कि उसके चरवाहेपर कोई चोर, डाकू या कोई शेर या कुत्ता आक्रमण करे तो सब गायें घेरकर उसको अपने बीचमें ले लेती हैं और सींग सामने करके खड़ी हो जाती हैं और इस तरह चरवाहेको बचा लेती हैं ! गायें साक्षात् माता हैं—इनको पशु कहना तो अपराध है !

•

: २ :

शान्तिका उपाय

प्रश्न : वर्तमान-युगमें अशान्ति व तनावसे मुक्त होनेका उपाय कृपया बतलायें।

उत्तर : आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि जिसको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए—उसको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो हम चाहते हैं, वह न हो तो, अशान्ति होती है; जो हम नहीं चाहते हैं वह हो जाय तो अशान्ति होती है। हम चाहते हैं कि हमारी पत्नी ज्यादा शॉपिंग न करे और वह करती है, तो अशान्ति होती है; हम चाहते हैं कि हमारे पति सूर्यास्तके बाद बाहर न रहें और रहते हैं तो अशान्ति होती है; हम चाहते हैं कि हमारे शरीरमें कोई बीमारी न हो और हो जाती है, तो अशान्ति होती है और परिश्रम करनेपर भी, अपनी पूरी शक्ति लगा देनेपर भी यदि सफलता नहीं मिलती है तो अशान्ति हो जाती है। इसके अलावा एक बात और है—अशान्तिका एक रोग भी होता है, पागलपन भी होता है। लेकिन ऐसे मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि वह अशान्त है, वह पागल तो अपनी अशान्तिको ही शान्ति समझता है।

पर, यदि आपको सचमुच शान्ति प्राप्त करनी हो तो आप अपनी जगहपर बैठ जाइये। सूर्योदय होता है, सूर्यास्त होता है, दोपहर होती है,

आधी रात होती है—हम अपनी जगहपर बैठे हैं। जो आवे-सो-आवे और जो जावे-सो-जावे—क्या बढ़िया बात है? वस्तु, क्रिया अथवा आदमी। किसीको न बोले—आइये-आइये, अच्छा, अब आप चले जाइये; अथवा, अच्छा, आप यहीं रह जाइये। कुछ भी नहीं बोले—

आगच्छ, गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।

चाहे वह अपने मनके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो। कहनेका अभिप्राय यह है कि आओ, जाओ अथवा रहो बोलनेकी कोई जरूरत नहीं है। आ गया, आ गया; रह गया, रह गया; चला गया, चला गया—'अचलप्रतिष्ठं'—अपनी प्रतिष्ठामें अचल बैठे रहो, वैसे ही, जैसे समुद्र अपनी जगहपर रहता है—नदियाँ कभी खूब भरी-भरी आती हैं, तो बहुत अच्छा और कभी सूख जाती हैं, तो नहीं आती हैं, तब भी बहुत अच्छा। बस, अपनी स्थिति भी ऐसी, समुद्रके समान हो। 'तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे'—संसारकी कोई भी वस्तु हो, अपने आप आवे—'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'—हम कुछ नहीं चाहें।

अब, दूसरी बात यह है कि आप ईश्वरपर विश्वास कीजिये, आपका भला होगा! 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।' और 'तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'—यह जो आप अपने मनका करना चाहते हैं और कराना चाहते हैं, सो भाई, समाज है, समय है, प्रकृति है, प्रारब्ध है, ईश्वर है, तो जो तुम्हारे मनका है वही-वही कैसे होगा? अपने मनका यह जो आग्रह-दुराग्रह है, वह पूरा न होनेपर मनमें अशान्ति आती है। अच्छा, यह तो बताओ कि कौन-सा ऐसा काम आज दुनियामें हो रहा है, जो पहले नहीं होता था? क्या पहले दुनियामें शराब पीनेवाले नहीं थे? क्या माँस खानेवाले नहीं थे? क्या जुआ खेलनेवाले नहीं थे? क्या पर-स्त्री-गामी नहीं थे? क्या आपसमें लड़ाई नहीं होती थी? क्या लोग पक्षपात नहीं करते थे? क्या द्रौपदी, दमयन्ती आदिके साथ अन्याय नहीं हुआ था? तो भाई, हमेशासे दुनियामें ऐसी ही परम्परा चली आरही है। इसमें जो ब्रह्मका दर्शन करेगा, आत्माका दर्शन करेगा, ईश्वरका दर्शन करेगा, प्रकृतिका स्वभाव देखेगा, प्रारब्ध देखेगा, दुनियाकी यही रीति है, ऐसा समझेगा, उसके हृदयमें शान्ति रहेगी और जो चाहेगा कि हम कानून अपने हाथमें ले लें और ईश्वरकी सृष्टिको अपने मनके अनुसार बनावें और बिगाड़ें, दूसरेको

अपने मनके अनुसार चलावें, नचावें, तो भाई, यह काम तो ईश्वरका है—

उमा दारु जोषित की नाईं।
सबहिं नचावत राम गोसाईं॥

और

नट मर्कट इव सबहिं नचावत।
राम खगेस वेद अस गावत॥

और

विधि हरि शंभु नचावन हारा।
तेऊ न जानहि मरम तुम्हारा॥

इतनेपर भी तुम अपने मनका ही चाहोगे तब तो तुम्हें दुःखी और अशान्त ही होना पड़ेगा ! अरे बाबा, तुम अपना मस्त रहो। क्यों तुम अशान्तिको न्यौता देकर अपने घरमें बुलाते हो ? बुलाते हो तब तो वह आती है। जिनके मनमें बहुत दिन जीनेकी वासना होती है और जो सोचते हैं कि किसी औरको रोग आवे तो आवे, हमको न आवे, वे लोग ज्यादा डॉक्टरोंके चक्करमें होते हैं। जो लोग भूत-प्रेतकी कल्पना करते हैं, वे ओझाके चक्करमें रहते हैं और जिसके घरमें शनिश्चर, राहु-केतु लेकर ज्योतिषी आगया, समझो कि बस वह फँस गया। कभी काली चीजका दान करायेगा और कभी कुछ और करायेगा और यदि वकीलके चक्करमें आगये, तो वह तुरन्त 'स्टे' लगवा देगा, कहेगा—बस दो दिनमें तुम्हारा काम हो जायेगा और बीस वर्षमें भी काम हो जाये, इसका कोई ठेका नहीं है; क्योंकि दूसरी पार्टी भी तो है, वह सुप्रीम कोर्ट तक जा सकती है।

इसलिए, जहाँ तक हो सके—भूत-प्रेतका चक्कर, ग्रहका चक्कर, मुकदमेका चक्कर, हमारी इच्छाके अनुसार ही घरके, बाहरके सब लोग काम करें, इस प्रकारका चक्कर, कोई भी चक्कर अपने मनमें नहीं लगाना चाहिए। ईश्वरपर विश्वास रखना चाहिए। जो हो रहा है, उसको द्रष्टाके रूपमें देखते रहना चाहिए और किसी भी वस्तु, क्रिया या व्यक्तिको इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए कि हम उसके गुलाम हो जायें। इससे आपके मनमें शान्ति बनी रहेगी। अरे, हो गया, हो गया; नहीं हुआ, नहीं हुआ; आ गया, आ गया, चला गया, चला गया।

हमारे एक मित्र थे, जयदयाल कसेरा। कलकत्तामें रहते थे। यहाँ कुछ लोग उनको जानते होंगे। यहाँके चिरंजीलाल लोयलका और लच्छीराम चूड़ीवालासे उनकी बड़ी भारी मित्रता थी और जयदयालजी गोयनकाके भी बडे प्रेमी थे, गीताप्रेसके ट्रस्टी भी थे। कलकत्तेकी ही बात है। उनका लड़का मोटर चला रहा था। उसका नाम देवी था, तो मोटरका एक्सीडेण्ट हो गया। पुलिसने कसेराजीको घरपर फोन किया--कसेराजी, आपके लड़केका मोटरसे 'एक्सीडेण्ट' हो गया है। कसेराजीने पूछा, 'भाई देखो, हमको साफ-साफ बता दो कि वह जिन्दा है या मर गया? यदि जिन्दा है, तो उसको अस्पताल ले चलनेकी तैयारी करके आवें और उसकी दवा-दारू करवायें और यदि मर गया हो, तो हम अपने बन्धु-बान्धवोंको खबर दें और श्मशान ले चलनेकी तैयारी करें!'

'यदि वह मर गया है, तो मर ही गया, अब जिन्दा तो होगा नहीं, अतः बादका जो काम है सो करना चाहिए ना!' वह तो मर ही गया था। गये कसेराजी। मैं भी वहीं था। गया उनके साथ। देखा मैंने—उसका सफेद-सफेद 'मेजा' बिलकुल निकल गया था और सड़कपर बिखरा हुआ पड़ा था। सब तैयारी हुई। पुलिससे इजाजत ली गयी और सब कर-कराकर गये गंगाजी। कसेराजी गंगाजीमें कुछ ज्यादा आगे चले गये, घुस गये, तो लोगोंने समझा कि ये कहीं आत्महत्या न कर लें, पर तभी देखा, वे यह बोलते हुए निकले—जय राम हरे, सुख धाम हरे और बोले—चलो, चलें घर!!

तो, जो होता जाये उसको 'हाँ' करते जाओ और जो तुम्हें करना हो, उसे सावधान रहकर करते चलो। कभी अशान्ति नहीं होगी। अशान्ति तो तब होगी, जब अपने कर्त्तव्यमें चूकोगे और जो तुम्हारे हाथमें नहीं है, उसको रोककर रखनेकी कोशिश करोगे। यदि सबमें भगवान्‌की सत्ता-महत्ता, उनकी प्रेरणा, उनका हाथ देखोगे, तो अशान्ति नहीं, शान्ति होगी, प्रसन्नता होगी—अपने प्यारेके हाथसे यह काम हुआ!

•

डरिये मत !

प्रश्न : मन बहुत चञ्चल है और सब ओर भागता है, ऐसी स्थितिमें मनको कैसे ईश्वरको समर्पित करें ! कृपया समझायें ।

उत्तर : हमलोगोंके यहाँ जब हलमें जोतनेके लिए नया-नया बछड़ा तैयार होता, नया बछड़ा बड़ा चञ्चल होता है और बहुत भागता है; तब उसको किसी पुराने बैलके साथ बाँध देते और पुराने बैलके साथ बँध जानेपर वह उससे मिल-मिलकर चलता। इस तरह धीरे-धीरे चलना सीख जाता और फिर हलमें जोतने योग्य हो जाता। और जैसे बच्चेको हर समय बाँधकर रखनेसे वह बिगड़ जाता है, उसे थोड़ी खेलनेकी छुट्टी देनी पड़ती है; भले और सधे बच्चोंमें थोड़ा उसको रखना पड़ता है और इसके साथ-साथ उसपर नजर भी रखनी पड़ती है—थोड़ा हँसे, बोले, खेले, पर गलत काम न करने पावे। ऐसे ही आप भी अपने चञ्चल मनको थोड़ी देर खेलनेकी, घूमनेकी छुट्टी दीजिये ! पर, बाकी समय उसको किसी महापुरुषके साथ अथवा भगवान्‌के साथ लगाकर रखिये। यदि आपका मन चोरी करना चाहता है, तो आप उसको माखनचोर श्रीकृष्णका साथी बना दीजिये। बस, जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण गोपियोंके घरमें माखनचोरी करने जायें, वहाँ-वहाँ आपका मन भी उनका दोस्त बनकर जाये। और यदि आपका मन खेलता-कूदता ज्यादा हो तो उसे उनके साथ गो-चारणके लिए भेज दीजिये। वनमें श्रीकृष्ण ऐसे-ऐसे खेल खेलायेंगे कि मजा आ जायेगा। यदि आपका मन लड़कियोंसे छेड़-छाड़ करना पसन्द करता हो, तो गोपियोंकी रासलीलामें, गोरस-बेचन लीलामें, अपने मनको लगा दीजिये ! यदि आपको झूठ बोलनेकी आदत पड़ गयी हो, तो कोई बात नहीं। एक महात्मासे किसीने पूछा कि महाराज, मुझे झूठ बोलनेकी बहुत आदत पड़ गयी है, कैसे करें ? वे बोले—'यह तो बहुत बढ़िया है भाई; भगवान्‌ने तुमको बहुत अच्छी आदत लगायी।'

'महाराज, झूठ बोलनेकी आदत है और आप बोलते हैं—अच्छी आदत है।'

बोले—'हाँ, हाँ, हाँ ! अच्छी आदत है; तुम श्रीरामचन्द्रके दरबारके

'जोकर' बन जाओ और ऐसे-ऐसे झूठ गढ़कर श्रीरामचन्द्रको सुनाओ कि सब—श्रीसीता, राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायें। गढ़ो तो सही तुम झूठ !

आप अपने मनकी चञ्चलताको बुरी मत समझो। वह भगवान्‌की देन है। बल्कि आप भगवान्‌को धन्यवाद दीजिये कि उन्होंने आपको चञ्चल मन ही दिया, तमोगुणी मन नहीं दिया; नहीं तो आप कहीं आलस्यमें, निद्रामें, प्रमादमें, पड़े रहते। इसलिए यदि आपका मन चञ्चल है, तो उसको आप चञ्चल भगवान्‌के साथ जोड़ दीजिये। भगवान्‌के साथ जुड़ जानेपर यह वैसे ही सध जायेगा, जैसे पुराने बैलके साथ जुड़नेपर नया बैल सध जाता है।

हमारे बाबा शामके समय घूमने जाते। साथमें मैं भी जाता और रास्तेसे, मैदानसे मैं सफेद-लाल कंकड़ चुन लेता और फिर हम दोनों बैठकर घर-घरौंदा बनाते। उसमें एक गोटी मैं चलता और एक गोटी बाबा चलते। यदि मैं हार जाता, तो बाबा बताते कि मैंने कौन-सी गोटी चलनेमें किस जगह गलती की है, जिस वजहसे मैं हार गया और उसकी जगह यदि ऐसे चलता, तो जीत जाता। अतः, बड़े-बूढ़ोंके साथ बैठोगे, खेलोगे तो सीखोगे। हाँ, उसमें लेन-देनका, मार-पीटका ख्याल मत रखो !

आप भगवान् श्रीकृष्णके साथ, भगवान् श्रीरामके साथ और यदि गन्दगी अधिक पसन्द हो, तो भगवान् वराहके साथ जरा मनको प्रीति करने तो दो ! बोझ ढोनेका मन हो, तो कछुये भगवान्‌के साथ प्रीति कर लो ! यदि आपका मन पानीमें तैरनेका हो, तो मत्स्य—भगवान्‌के साथ मन जोड़ लो और बहुत गरज-तरज करता हो, तो नृसिंह भगवान्‌के साथ उसको जोड़ दो; हिनहिनाता ज्यादा हो, तो उसे हयग्रीव भगवान्‌के साथ करा दो और मार-पीट अधिक करता हो, तो परशुरामजीके साथ भेज दो। भगवान्‌ने तो इतने रूप धारण ही इसलिए कर रखे हैं कि आप अपने मनके अनुसार उनसे दोस्ती कर सको। इसलिए, आप डरिये मत ! ये सनातन-धर्मके भगवान् हैं और सनातन भगवान् हैं। ये आपके मनके साथ खेल भी लेंगे और आपके मनको अपनेमें मिला भी लेंगे !!

●

: ४ :

नजर-नजरका फेर

प्रश्न : भगवान्‌की कृपा बरसती है, तो यह संसार क्यों दुःखी है ? क्या यह सब अत्याचार चिरकालतक चलता ही रहेगा ? कृपया बतलायें।

उत्तर : देखो भाई, भगवान्‌की कृपा बरसती है तो वह दुःखके रूपमें भी बरसती है, आप उसको पहचानते क्यों नहीं हैं ? रामचन्द्र भगवान्‌के मनमें आया कि मेरा यश तो बहुत हो गया, मेरी कीर्त्ति तो चारों ओर बहुत फैल गयी और सीताजीका कुछ नाम ही नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने एक योजना बनायी और बगैर किसी अपराधके गर्भावस्थामें उन्होंने सीताजीको धोखेसे वनमें भेज दिया। अब, इस वजहसे वाल्मीकि रामायणमें भगवान् राम दो नम्बरके हो गये और सीताजी एक नम्बरकी हो गयीं। वाल्मीकि रामायणमें सीताजीके जैसा उदात्त चरित्र और किसीका नहीं है। पर क्या सीताजीने इसको रामका अन्याय माना ?

और देखिये, नलके अन्याय करनेपर भी यदि दमयन्ती नलसे प्रेम नहीं करती, तो क्या आप दमयन्तीको याद करते ? कितना कष्ट दिया नलने दमयन्तीको—उसको नङ्गा तक कर दिया; आधी रातको उसकी साड़ीतक फाड़कर ले गये और कहाँ चले गये, इसका कोई पता नहीं,

फिर भी दमयन्ती अपनी निष्ठामें दृढ़ रही और क्या-क्या युक्ति करके उसने उनको ढूँढ़ निकाला, इसपर जरा ध्यान तो दीजिये !

और भी देखिये, क्या व्रजवासियोंको भगवान् श्रीकृष्णने कम कष्ट दिया ? लेकिन यदि कष्ट नहीं देते तो व्रजवासियोंकी वियोग-दशाका, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति उनके अथाह प्रेमका लोगोंको पता कैसे चलता ? क्या उनके साथ नाचने-गानेसे यह जाहिर होता कि व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके साथ बड़ा प्रेम है ? नहीं। व्रजवासियोंकी वियोग-दशा देखकर ही लोगोंको उनके प्रेमका पता चला !

तो, यह जो भगवान्‌की कृपा है—इसके रूपका निश्चय आप ऐसे मत कीजिये कि ब्याह हो तो बड़ी कृपा है, बेटा हो तो बड़ी कृपा है, रुपया आये तो बड़ी कृपा है और नहीं हो अथवा दिया हुआ ले ले तो कृपा नहीं है। यह तो कृपाकी पहचान न होनेके कारण ही आपको ऐसा लगता है, दुःख होता है ! पर क्या जब अपना प्यारा चिकोटी काट लेता है, या अपनी माँको दिखानेके लिए पति, पत्नीको डाँट देता है, कभी एक चाँटा भी लगा देता है, तो क्या पत्नीको यह नहीं लगता कि इसका मुझसे बहुत प्यार है ? जब पति-पत्नी एक दूसरेको दाँतसे काट लेते हैं तब कितने प्रेमका अनुभव करते हैं। वैसे ही, जब आपको लगे कि दुःख आ रहा है तब उसमें आप भगवान्‌का ही हाथ देखिये और उसकी ही कृपाका अनुभव कीजिये !

क्या जब सृष्टिमें महाप्रलय होता है, तब उसमें भगवान्‌की कृपा नहीं रहती ? उसमें भी भगवान्‌की कृपा रहती है। कारण कि जब जीव अतिशय पापी हो जाते हैं और अतिशय दुःखी हो जाते हैं, तब एकबार सृष्टिको मिटाकर फिरसे नया खेल खेलनेकी जरूरत होती है, महाप्रलय करना आवश्यक होता है—तो यह भी भगवान्‌की कृपा ही है !

देखो, एक कथा है—किसीने एक दिन एक घड़ेमें ठण्डा गंगाजल भरकर सन्तोंकी सभामें रखवाया—सन्तोंके पीनेके लिए !

एकने यह देखा। वह सोचने लगा—'यह घड़ा कितना भाग्यशाली है कि इसमें गंगाजल भरा गया और जो अब सन्तोंके काममें आयेगा।

घड़ा बोल पड़ा—'मैं तो माटीके रूपमें शून्य पड़ा था, किसी कामका नहीं था। कभी नहीं लगता था कि भगवान्‌ने हमारे साथ न्याय किया है।

फिर एक कुम्हार आया। उसने फावड़े-पर-फावड़ा मारकर हमको खोदा और गधेपर लादकर अपने घर ले गया और वहाँ ले जाकर हमको उसने रौंदा। फिर पानी मिलाकर गूँथा और चाकपर चढ़ाकर घुमाया, फिर गला काटा और थापी मार-मारकर बराबर किया। उसके बाद आँवेंमें, आगमें डाल दिया जलनेको और जब तैयार होकर निकला, तो भेज दिया बाजारमें ठोंक-ठोंककर देखे कि ठीक है कि नहीं और कीमत लगायें—दो पैसे !

हमको तो इन सबमें भगवान्‌का अन्याय ही मालूम पड़ता था, कोई न्याय थोड़े ही मालूम पड़ता था, कृपा थोड़े-ही मालूम पड़ती थी !

किसी सज्जनने मुझे खरीद लिया और उन्होंने जब मुझमें गंगाजल भरकर सन्तोंकी सभामें भेज दिया, तब, अब मुझे मालूम पड़ता है कि कुम्हारका वह फावड़ा चलाना भी भगवान्‌की कृपा थी, उसका वह गूँथना भी भगवान्‌की कृपा थी, आगमें जलाना भी कृपा थी और ठोंकना भी कृपा थी। अब मालूम पड़ता है कि सब भगवान्‌को कृपा-ही-कृपा थी !

तो असलमें—

साँसति कर पुनि करहिं पसाऊ।
नाथ बड़न कर सहज सुभाऊ॥

आप ईश्वरकी कृपापर विश्वास करेंगे, तो आप जहाँ भी देखेंगे, वहाँ ही आपको कृपा मालूम पड़ेगी ! बस, कृपा-ही-कृपा, कृपा-ही-कृपा !

प्रभुमूरति कृपामयी है !

प्रभुके पास कृपाके सिवाय और कोई पूँजी ही नहीं है। केवल कृपा है, कृपा है, कृपा है !

•

: ५ :

सुखी कौन ?

प्रश्न : संसारमें सुखी कौन है ?

उत्तर : देखो, सुखी या तो मैं हूँ और या तो बेकारका संकल्प-विकल्प दुःसंकल्पका बोझ अपने दिमागपर-से उतार दो तो, तुम हो ! और दूसरा कोई सुखी है कि दुःखी है, इसमें यदि तुम सुखीकी कल्पना करोगे कि सब सुखी हैं, तो तुम सुखी हो जाओगे और सब दुःखी हैं, ऐसी कल्पना करोगे, तो तुम भी दुःखी हो जाओगे। असलमें यह सुखी-दुःखी होना, एक कल्पनाकी बात है। पर, जो दुनियाको लेकर सुखी रहना चाहता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता और जो दुनियाका ख्याल छोड़कर भगवान्के ख्यालमें मग्न है या आत्म-चिन्तनमें मग्न है, वह हमेशा सुखी है !

वैसे, यह प्रश्न महाभारतका है। महाभारतके बहुत-से प्रश्नोंमें-से एक प्रश्न यह था। 'कश्च मोदते ?'—दुनियामें आनन्दमें मग्न कौन है ? जो कि यक्षने राजा युधिष्ठिरसे किया था। वहाँ उसका उत्तर दिया है कि भले ही अपने घरमें खाने-पीनेको न हो, पर अपने ऊपर कर्ज न हो। खाने-पीनेको पाँचवें, छठें दिन भी यदि साग-भाजी या कुछ भी थोड़ा-सा मिल जाय, तो वह सुखी है, पर कर्ज न हो और अपना घर छोड़कर बाहर न रहना पड़े—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

अर्थात् ऋण और पराये घरका निवास दुःखका हेतु है। लगानेके लिए चाहे लिपिस्टिक हो कि नहीं हो, सेण्ट हो कि नहीं हो; चढ़नेके लिए मोटर हो कि नहीं हो, यह सब तो शौककी बात है कि दुनियाकी सामग्री इकट्ठी करें और उससे सुखी हों पर अपनेपर कर्ज़ न हो। यह बात आप नोट कर लें कि दुनियाकी चीजोंको इकट्ठी करके सुखी होना चाहते हैं, वे कभी पूरे सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि वे यह न कभी कर पायेंगे और न उनको कभी सन्तोष होगा और न ही वे कभी सुखी होंगे।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो चाहते हैं कि हम खूब विषय-भोग कर और सुखी हो जायें। पर उनको कभी भी पूरा विषय-भोग नहीं मिलेगा और वे भी कभी सुखी नहीं हो सकेंगे। एक सज्जन यहाँसे अमेरिका गये, न्यूयार्क। वहाँ हमारे देशके वाणिज्य-दूतने उन्हें फोन किया कि सेठजी, आप रातको अकेले-दुकेले बाहर मत जाना। सेठने पूछा—'क्यों, यहाँ ऐसा क्या डर है ?' तो वे बोले कि अब यहाँके लोग इकट्ठा करके और भोग करके सुखी नहीं होते हैं। अब ये लोग किसी इक्के-दुक्के आदमीको सड़कपर चलते देखते हैं, तो उसको पिस्तौलसे गोली मार देते हैं और जब वह धरतीपर गिरकर छटपटाने लगता है, तब उसको देख-देखकर मजा लेते हैं, खुश होते हैं। तो इकट्ठा करके भी कोई सुखी नहीं हुआ और भोग करके भी कोई सुखी नहीं हुआ। यहाँतक कि भोग करके इन्द्र भी सुखी नहीं हुआ! भोगके लालचमें ही वह मर्त्यलोकमें आया और इसी कारण उसको गौतम ऋषिका शाप मिला।

मनोराज्यका कहीं कोई अन्त नहीं है—यह मिलेगा तो हम सुखी होंगे, यह मिलेगा तो हम सुखी होंगे। इस तरहसे होता क्या है कि—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार॥

एक भँवरा अपने प्यारे कमलके कोषमें बन्द हो गया, कैदी हो गया। और अपने प्यारेकी कैद तो बहुत बढ़िया लगती है, वह रात भर सोचता रहा—बीतेगी रात, बीतेगी रात, उगेगा दिवाकर—सूर्योदय होगा, सुप्रभात होगा, यह कमल खिलेगा, यह कमल मुस्कुरायेगा। परन्तु प्रातःकाल होते-न-होते एक हाथी आया और उसने अपनी सूँड़से कमलको उखाड़कर अपने मुँहमें डाल लिया, कमलको खा लिया, भौंरेका मनसूबा—(रह गयो मनको मनमें मनसूबो), मनमें ही रह गया। तो, यह जो हम सोचते हैं कि हम संग्रहसे सुखी होंगे, निराधार है। मैं देश-विदेशके बहुत संग्रह करनेवालोंको जानता हूँ, जो सुखो नहीं हैं। और जो भोगी हैं, वे सुखी नहीं हैं। नये-नये भोगका अभाव उनको दुःख देता रहता है और बहुत भोग शरीरमें रोग भी दे देता है। इस तरह मनोराज्य कभी पूरे नहीं होते और हम कभी सुखी नहीं हो पाते!

एक बात और। यदि अपने जीवनमें कोई आदत डाल लोगे कि यह खायेंगे तो सुखी होंगे; यह मिलेगा तो सुखी होंगे; इनको देखेंगे तो सुखी होंगे। तो, आप स्वयं अपनेको पराधीनतामें डाल रहे हो। बहुत सावधानीसे यह जीवन व्यतीत करनेका है। सुखी हो तो आप स्वयं हो, दूसरेको ढूँढ़ने जायेंगे तो ढूँढ़नेमें ही आप दुःखी हो जायेंगे, सुखी नहीं होंगे। इसके सम्बन्धमें यह बात है कि आप सुख और दुःखके निमित्त बाहर रख देते हैं कि ऐसा धन मिलेगा, ऐसी स्त्री मिलेगी, ऐसा बेटा होगा, ऐसी मोटर होगी, तो हम सुखी होंगे, पर इतना मिलना आपके हाथमें नहीं है, ये मिलें, न भी मिलें। तो दूरकी चीजको सुखका कारण मत बनाइये, दूरसे मिलनेवाली चीजको सुखका कारण मत बनाइये और जो परायेके हाथमें है, उसको भी अपने सुखका कारण मत बनाइये। बल्कि इससे बिलकुल अलग एक सुखाकार-वृत्ति होती है—भगवान्‌का नाम, पूजा-पाठ! आप इनसे अपनी वृत्तिको सुखाकार बना लीजिये और सुख-स्वरूप परमात्मासे एक हो जाइये, वे न दूर हैं, न उनके मिलनेमें देर है और न वे दूसरेके हाथमें हैं, न दूसरे हैं—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली!

आप कल्पना भी कीजिये, तो ऐसी कीजिये कि—

गिरे गर्दन ढुलक कर पीत पट पर,
खुली रह जायें ये आँखें मुकुट पर।
गर ऐसा हो अन्जाम मेरा,
तो मेरा काम हो औ' नाम तेरा॥

इस प्रकार आप मन-ही-मन सुखी होनेकी आदत डालिये! असलमें, सुखीपनेका अभिमान तो रहता ही तबतक है, जबतक अज्ञान रहता है, अज्ञानके मिट जानेपर अभिमान भी मिट जाता है।

तो, सुखी कौन है? सुखी होंगे तो आप ही होंगे! दूसरेके सुखकी कल्पना मत कीजिये, नहीं तो कुत्ता अपने मालिकको सुखी समझता है और पूँछ हिलाते-हिलाते बेचारेकी जिन्दगी बीत जाती है। आप स्वयं सुखी हैं, अपने सुखको पहचानिये! 'मामेव विजानीहि'—अपने आत्माको जानिये!

•

: ६ :

श्रद्धा, विश्वास और आसक्ति

प्रश्न : श्रद्धा, विश्वास और आसक्तिमें क्या अन्तर है, ? कृपया समझायें !

उत्तर : श्रद्धा जो है, वह माहात्म्य-ज्ञानसे होती है। माहात्म्य-ज्ञान माने इन्होंने परमात्माका अनुभव कर लिया है, दर्शन कर लिया है, इनकी ब्राह्मी स्थिति रहती है, समाधि लगती है, ये असङ्ग हैं, बड़े धर्मात्मा हैं। अच्छाईको देखकर, महिमाको देखकर श्रद्धा होती है। श्रद्धामें गुण परोक्ष होनेपर भी, अपने हृदयमें उसपर आस्था अपरोक्ष होती है। इसलिए श्रद्धाके लिए हमें भगवान्‌से प्रार्थना करनी पड़ती है, 'श्रद्धां प्रातर्हवामहे'—हम प्रातःकाल श्रद्धाका आवाहन करते हैं। 'श्रद्धत्स्व सौम्य'—गुरुको आज्ञा देनी पड़ती है कि बेटा, इस बातपर श्रद्धा करो; पण्डित लोगोंको कहना पड़ता है कि—

श्रद्धया सत्यमाप्यते

श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। तो—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। गीता ४.३९

श्रद्धावान्‌को ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

परन्तु श्रद्धा होती है बहुत मुश्किल। भगवान्‌की बड़ी कृपासे ही श्रद्धा किसी सत्पुरुषके हृदयमें आकर बसती है कि वह अपनेसे किसीको बड़ा माने, उसकी सलाहसे चले और कम-से-कम उसके सामने अभिमान लेकर न जाये। दुनियामें एक तो ऐसा चाहिए न कि उसको अपनेसे बुद्धिमान् समझें, उसको शिक्षा न दें, उसको सलाह न दें, उसको कन्ट्रोलमें लेनेकी कोशिश न करें, स्वयं उसके कन्ट्रोलमें हो जायें। श्रद्धेयके कन्ट्रोलमें होनेके लिए ही तो श्रद्धा करते हैं।

विश्वास प्रत्यक्ष जीवनकी एक वस्तु है, सर्वथा व्यावहारिक है। विश्वास आपको नाईपर भी करना पड़ता है, रसोइयेपर भी करना पड़ता है, भङ्गीपर भी करना पड़ता है, अपने नौकरोंपर भी करना पड़ता है। विश्वास सार्वजनिक, एक व्यावहारिक वस्तु है, जिसके बिना संसारका व्यवहार चल ही नहीं सकता। यदि पति पत्नीपर विश्वास न करे तो घरमें आग लग जाये और पत्नी पतिपर विश्वास न करे तो दोनोंमें प्रेम नहीं रहे, तलाक हो जाये।

इसलिए विश्वास तो जीवनका एक सार्वजनिक तत्त्व है, इसके बिना व्यवहार चल नहीं सकता। ग्राहकपर विश्वास करोगे, तो उसको उधार भी दे दोगे और व्यापारीपर विश्वास करोगे और वह यदि कह देगा कि माल अच्छा है, तो उसको ले भी लोगे। इस तरह हम देखते हैं कि विश्वास एक व्यावहारिक वस्तु है और श्रद्धा अपनेसे बड़ोंपर होती है। श्रद्धा घरकी मालकिन है, पार्वती है, गौरी है और विश्वास तो निहंग लाड़ला है—शिव है।

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

आसक्ति जो है वह ऐन्द्रियक अथवा मानसिक है, गुणोंके ज्ञानसे होती है। चाम देखकर आसक्ति होती है, बड़ी-बड़ी आँखें देखकर आसक्ति होती है, पतले-पतले ओंठ देखकर आसक्ति होती है। पर, यह जो आसक्ति है, यह टिकाऊ नहीं है। माने ये जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले गुण हैं, उनसे जो आसक्ति होगी, वह उन गुणोंके न रहनेपर टूट जायेगी।

देखो, एक सच्ची घटना सुनाता हूँ—बरेलीमें एक उच्चकोटिका मारवाड़ी - परिवार है। उनकी लड़कीकी शादी परस्पर प्रेमसे हुई। लड़की-लड़का एक साथ पढ़ते थे। लड़की सुन्दर थी, लड़केने पसन्द कर लिया। दोनोंमें जब परस्पर आसक्ति हो गयी तब दोनोंका व्याह हो गया। लड़केका भी घराना बहुत बढ़िया। अब व्याहके थोड़े दिनोंके बाद ही लड़कीके मुँहपर मुहाँसे निकल आये और उनसे पीप गिरने लगी। इलाज तो बहुत करवाया, एक-दो वर्षतक लड़केने ध्यान भी रखा। पर जब ठीक नहीं हुए, तब अन्तमें तलाक दे दिया।

तो यह जो चिकनी चमड़ी देखकर आसक्ति हुई थी, वह चिकनी चमड़ी न रहनेपर टूट गयी।

कहनेका अभिप्राय यह है कि अपने मनको जो प्रिय लगनेवाले गुण होते हैं, वे अन्तमें दुःख देते हैं और तुम तो अपने मनकी पसन्दको ही पसन्द करते हो ना? इसका मतलब कि असलमें तुम दूसरेको नहीं पसन्द करते, अपने मनको ही पसन्द करते हो और जब अपने मनको ही पसन्द करते हो, तो जब भी उसके विपरीत कुछ भी आयेगा, तब आसक्ति टूट जायेगी। इसलिए इस अपने मनकी पसन्दगीसे सावधान रहना चाहिए—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निरवन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

अपने मनकी पसन्दसे जितने भी सम्बन्ध, रिश्ते जोड़े जाते हैं पहले मनको बहुत प्यारे लगते हैं, लेकिन 'तावन्तोऽस्य निरवन्यन्ते'—जितने सम्बन्ध जोड़ोगे, उतनी ही कील तुम्हारे हृदयमें गड़ेगी और बादमें वही सम्बन्ध तुम्हारे लिए दुःखदायी हो जायेगा। इसलिए भाई मेरे—

यद्यद् प्रीतिकरं लोके मैत्रेय वस्तु जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वं उपगच्छति॥

मनको खुश करनेवाली जितनी भी चोजें दुनियामें मिलती हैं—यहाँ भोजन अच्छा मिलता है, यहाँ आँखका भोजन अच्छा मिलता है, यहाँ कानका भोजन अच्छा मिलता है, यहाँ जननेन्द्रियका भोजन अच्छा मिलता है—मनकी पसन्दकी जो-जो चीजें जहाँ-जहाँ मिलती है, वह-वह आगे चलकर उतना ही बीज बनती हैं। किसका? दुःखके पौधेका और फिर उसमें-से निकलता है—अङ्कुर, पत्ता, फूल और फल—जो मनुष्यको अत्यन्त दुःखी बना देता है।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रद्धा माहात्म्य-ज्ञानसे होती है, विश्वास एक व्यावहारिक सत्य है, जिसके बिना जीवन चल नहीं सकता और आसक्ति इन्द्रिय और मनको तत्काल प्रिय लगनेवाले गुणोंसे होती है। श्रद्धा-विश्वास मुक्तिका हेतु है और आसक्ति बन्धनका।

•

: ७ :

उत्साहकी युक्ति

प्रश्न : जीवनमें उत्साहकी कमी क्यों हो जाती है ? हमेशा उत्साह बना रहे इसकी युक्ति बतायें।

उत्तर : हमेशा उत्साह बने रहनेकी युक्ति यह है कि हमारा मददगार बहुत विश्वसनीय और सर्वोत्तम होना चाहिए। यदि हमको यह विश्वास है कि हर समय ईश्वर हमारे साथ है और हमको निरन्तर उसकी मदद मिल रही है, तो उत्साहमें कमी नहीं आयेगी।

यदि आप व्यापारी हैं और किसी बड़े व्यापारीके साथ आपकी बनती है, तो वह मिनटोंमें आपको लाखों रुपया कमानेकी युक्ति बता देगा। वह आपको बता देगा कि देखो, इस मिलके शेयरके भाव बढ़ने वाले हैं, आमदनी होनेवाली है, इसके शेयर ले लो और महाराज, बेड़ा पार!

यही बात औरोंके साथ लागू होती है। अपना मददगार जब विद्वान् होता है तब वह विद्याकी सहायता करता है, जब बुद्धिमान होता है तब वह बुद्धिकी सहायता करता है और जब बलवान होता है तब बुला लो उसको और बैठा लो अपने घरमें, कोई आपको गाली देनेका नाम नहीं लेगा, आपसे झगड़ा करनेका नाम नहीं लेगा। वह बड़ी-बड़ी मूछोंवाला, वह डण्डेवाला बैठा जो है आपके घर।

तो नारायण, कर्ममें हमारा उत्साह बना रहे, इसके लिए हमारा

मददगार ईश्वर या तो ईश्वरके जैसा ही कोई होना चाहिए। यह हुई एक बात!

दूसरी बात यह है कि अपने अन्दर ईमानदारीका भी कुछ बल होना चाहिए। यदि आप चोरी करके आयेंगे, बदमाशी करके आओगे और कहोगे कि हमको तो डर लग रहा है, 'डिप्रेशन' हो रहा है, तो बदमाशीका काम करते समय, दूसरेपर लुभाते समय, अपने आपको न्यौछावर करते समय तो 'डिप्रेशन' नहीं हुआ, अब घरमें आकर कहते हैं कि 'डिप्रेशन' हो गया है। हम तो नहीं जानते हैं कि 'डिप्रेशन' क्या होता है। पर, लोग हमारे पास आकर कहते हैं कि 'डिप्रेशन' हो गया है, तो हम यह समझते हैं कि जब जीवनमें उत्साह मर जाता होगा, तब उसको 'डिप्रेशन' बोलते होंगे।

पर, क्या नहीं कर सकते हैं आप! आप वही हैं जो सब कुछ समेटकर रातको सो जाते हैं। कहाँ रहती है आपकी दुनिया उस समय! वही हैं आप जो सपनेमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, समुद्र सहित सारी दुनियाको बनाकर उसमें खेलते हैं, गाते हैं, हँसते हैं और रोते हैं— कितनी शक्ति है आपमें, और वही तो आप जाग्रतमें भी हैं। आप कहीं मर थोड़े ही गये हैं? आप दुनियामें क्या नहीं कर सकते!

दो हजार वर्ष पहले, ईसाने अकेले ही सब कार्य किया, कोई मददगार नहीं था उनका और विरोधी बहुत थे और वह भी प्रबल, इतने प्रबल कि अन्तमें उन्होंने उनको सूलीपर ही चढ़ा दिया। लेकिन आज भी, ईसाके दो हजार वर्ष बाद भी, दुनियामें किसी मजहबका बहुमत है तो उनके ही मजहबका है! ऐसा उत्साह था उनमें। अकेले थे तो क्या?

मुहम्मद साहब भी अकेले ही थे। कौन था उनके साथ? बुद्ध घरसे निकले थे तो कितने लोगोंको लेकर निकले थे? शङ्कराचार्यके साथ कौन-से लोग थे? परन्तु, उनके मनमें उत्साह था। उनके मनमें ईमानदारी थी। उनके मनमें ईश्वरपर भरोसा था और वे एक सच्चे मार्गपर चल रहे थे!

जो रास्ता चलनेमें इधर-उधर देखता है, वही गिरता है। तुम चल पड़ो, 'चरैवेति-चरैवेति—चरन् वै मधु विन्दति'—जो चलेगा

उसको रास्तेमें मधु मिलेगा। भटको जंगलमें कहीं-न-कहीं शहदका छत्ता मिल ही जायेगा। जंगलमें अकेले भटको तो सही !

महात्मा गांधीके पीछे चलनेवाला पहले कौन था ? उन्होंने अच्छा काम किया, तो उनके साथ इतने लोग हो गये। जरा धैर्यके साथ, वीर्यके साथ, उत्साहके साथ आगे बढ़ो तो ! मदर टेरेसा हैं, कितनी सेवा करती हैं लोगोंकी। गुजरातमें रविशङ्कर महाराज थे कितनी सेवा करते थे लोगोंकी ? कितने डाकुओंको उन्होंने सत्पुरुष बना दिया। कितनी सेवा की देशकी ! अतः आप अपनी शक्तिके बारेमें निराश न हों—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

गीता २.३

नपुंसक मत बनो। महापुरुषोंके चरित्रसे शिक्षा लेनी चाहिए। इन महापुरुषोंके चरित्रपर ध्यान दोगे तो आपका उत्साह बढ़ेगा ! उत्साह होना चाहिए, ईश्वरका भरोसा होना चाहिए और अच्छा काम होना चाहिए !

हम जब घरसे निकले थे तब यह सोचकर थोड़े-ही निकले थे कि हमको लोग प्रेमकुटीरके सिंहासनपर बैठायेंगे और स्वयं नीचे बैठकर हमारी बात सुनेंगे। हम तो यह सोचकर निकले थे कि गंगाके किनारे घूमेंगे, माँगकर खायेंगे—कभी रोटी मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी। पेड़के नीचे धरतीपर सो जायेंगे—

न कोई आगे, न पीछे;
न कोई मैं, न मेरा;
चल रे संन्यासी अकेला !

तो नारायण, आप अपनी सफलतामें कोई संशय मत कीजिये। आप यदि अच्छे हैं और अच्छा काम कर रहे हैं, तो सारी दुनिया आपके पीछे चलेगी। आप चल पड़िये, देखिये क्या मजा आता है !

*

शक्ति एक है

प्रश्न : जीव और जीवकी इच्छा-शक्ति और ब्रह्म और ब्रह्मकी इच्छा-शक्तिमें कहाँतक तादात्म्य है ? कृपया समझायें !

उत्तर : शक्ति तो एक ही है, पर वह सत्, चित् और आनन्दके भेदसे तीन प्रकारकी मानी जाती है—सन्धिनी, संविद् और आह्लादिनी। सत्-प्रधान सन्धिनी शक्ति है, चित्-प्रधान संविद् शक्ति है और आनन्द-प्रधान आह्लादिनी शक्ति है। अनिर्वचनीय मायाके योगसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही शक्ति और शक्तिमानके रूपमें, दो प्रकारका होकर प्रकट होता है। तत्त्वतः जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है।

इसीलिए अविद्यासे कहो, चाहे भ्रान्तिसे कहो, जीव अपनेको जितना हीन मानेगा उतनी ही उसकी शक्ति क्षीण होगी और जितना-जितना अपनी हीनताका आवरण भङ्ग करके वह उत्कृष्टसे एक होता जायेगा, उतना-हो-उतना उसकी शक्तिका प्रकाश होगा। अन्तःकरणमें जो शक्तिका आविर्भाव होता है, उसका अवच्छेदक आगम-निगम ही है।

माने, जो दिव्य, अचिन्त्य भगवद्-शक्ति है उसका प्रकाश लौकिक दृष्टिसे नहीं होता है, अलौकिक दृष्टिसे होता है। जब आगम-निगम, वेद-शास्त्र, पन्थ हमारे हृदयमें शक्तिकी एक रूप-रेखा देते हैं, तब वह प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होती; क्योंकि वह घट-पटादिके समान ऐन्द्रियक नहीं है और पूर्ववत् शेषवत् अनुमान भी उसके सम्बन्धमें नहीं हो सकता, क्योंकि बिना व्याप्ति-ग्रहके अनुमान नहीं होता है और उपमान कोई उसका है नहीं। तो मूलतः वेद-शास्त्रके अनुसार उस शक्तिका चिन्तन किया जाता है।

अब जो हमारे अन्तःकरणमें आगम-निगमजन्य शक्तिका आकार है, उसमें हमारा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चैतन्य ही उद्बुद्ध अथवा उद्भूत-सा होकर तादात्म्यको प्राप्त होता है और उसीमें लौकिक, पारलौकिक, अलौकिक शक्तियोंका उदय होता है। आगम-निगमने ही यह निर्धारित कर दिया है कि महामायाका बीज—हा, श, इ, मा और सरस्वतीका बीज—अ-ई-मा है; एक बीजमें, बीजमें भेद भी है—कहीं-कहीं क्लीं है और

लक्ष्मीका बीज अलग है; महाकालीका बीज अलग है; महासरस्वतीका बीज अलग है; दक्षिण कालिकाका बीज अलग है। इन बीज अक्षरोंका उच्चारण, जो कि सद्गुरुसे प्राप्त होता है—जैसे दीपकसे दीपक जलता है, एक दीपक जल जाता है, तो उससे ५०, १००, १००० दीपक और जला सकते हैं, वैसे ही सद्गुरु-रूप महादीपकसे शिष्य-रूप जो दीपक हैं, उनके हृदयमें इस महाशक्तिका प्रकाश होता है।

इसके बाद यदि वह अन्नमयकोषमें स्थित होकर उस शक्तिसे तादात्म्य करेगा, तो उसका शारीरिक विकास होगा और प्राणमयकोषसे तादात्म्य करके उस शक्तिका चिन्तन करेगा, तो वही शक्ति-अवच्छिन्न जो चैतन्य है, वह शक्तिके साथ तादात्म्य कर बलके रूपमें प्रकट होगा और वही मनसे तादात्म्य कर भक्तिके रूपमें प्रकट होगा; वही बुद्धिसे तादात्म्य कर विचारके रूपमें प्रकट होगा और वही आनन्दसे तादात्म्यापन्न होकर परमानन्दके रूपमें प्रकट होगा। शक्त्याकार अन्तःकरणमें जो मन्त्रजन्य शक्ति है, उस तद्-तद् शक्तिसे वही शुद्ध चैतन्य तादात्म्यापन्न होकर तद्-तद् शक्तिमान बन जाता है।

अब, ये जो अन्नमय, प्राणमय आदि हैं—ये व्यष्टि और समष्टिके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जिसका व्यष्टिसे तादात्म्य होगा, उसमें व्यष्टि-सिद्धियोंका प्रकाश होगा और जिसका समष्टिसे तादात्म्य होगा, उसमें समष्टि-शक्तियोंका प्रकाश होगा। इसलिए, शास्त्रोंमें जिन सिद्धियोंका वर्णन है, वे सब-की-सब शास्त्रोक्त हैं, युक्तिसिद्ध हैं और महात्माओंके अनुभवसे भी सिद्ध हैं। अतः जीव जितनी-जितनी अपनी मलिनता हटाता जायेगा और जितनी-जितनी उसकी पवित्रता निखरती जायेगी, उतना-ही-उतना वह ब्रह्मशक्तिके निकट पहुँचता जायेगा और एक दिन ऐसा हो सकता है कि जिस दिन जीव अपने जीव-भावसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्म-भावसे एकीभूत हो जाये और ब्रह्मशक्तिका, माने महामायाका उसके अन्दर प्रकाश हो जाये।

इसलिए, जीवकी इच्छाशक्ति, जीवके स्वरूपमें क्या आरोप हुआ है—इसका पता उसके तादात्म्यसे होता है। जीव यदि कर्ता है तो कर्म-शक्तिका आविर्भाव होगा और भोक्ता है, तो भोग-शक्तिका आविर्भाव होगा। वह यदि शुद्ध शक्तिका चिन्तन करेगा तो महाविद्या, ब्रह्मविद्याके उदयकी योग्यता आ जायेगी और आवरण-भंग हो जायेगा। इसलिए

जीव कहाँ बैठा है, इसका प्रभाव उसकी इच्छाशक्तिके साथ जुड़ा हुआ रहता है। यदि वह देहके साथ जुड़ा है तो उसमें दैहिक शक्तिका उदय हो जाता है और यदि वह ईश्वरके साथ जुड़ा हुआ है तो ऐसी ईश्वरीय शक्तिका उदय हो जाता है।

शक्तिकी उपासना भिन्न-भिन्न प्रकारसे होती है और जैसे वैदिक-शास्त्रोंका विस्तार है, वैसे ही उपासना-सम्बन्धी शास्त्रोंका विस्तार है। ये पञ्चरात्र संहिताएँ प्रायः उपासनाके ग्रन्थ हैं, जो १०८ संहिताएँ हैं। तन्त्रोंका विस्तार अलग है और फिर, उनके जो निबन्ध-ग्रन्थ हैं—मन्त्र-महार्णव, श्रीविद्या-महार्णव, मन्त्र-महोदधि, प्राण-तोषणी, तन्त्र-सार, ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं, जिनमें साधारण-से-साधारण भूत-प्रेतकी सिद्धियोंसे लेकर ईश्वरत्वतक प्राप्त करनेकी युक्ति बतायी गयी है।

पर, देखोजी, कोई चाहे कि हम स्वतन्त्र, पुस्तकोंमें पढ़कर शक्तिकी आराधना कर लेंगे, तो उसमें पागल होनेका ही ज्यादा डर रहता है और शक्तिके प्रादुर्भावमें न्यूनता भी आ सकती है। इसलिए, जीवका जितना-जितना उत्कर्ष होगा, वह भूत-प्रेत भी हो सकता है—जैसे भभूत डालनेवाला, शहद गिरानेवाला, कहींसे किसी पदार्थको चोरी कर मँगा लेनेवाला, नोट बरसा देनेवाला आदि। इनमें पितरोंकी शक्तिका भी आविर्भाव हो सकता है और देवताओंकी शक्तिका भी आविर्भाव हो सकता है और देवताओंमें भी—ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी शक्तियोंका आविर्भाव हो सकता है। कितनी बार ब्रह्मा, ब्रह्मा बननेके बाद भी कीड़ा हो जाता है और एक कीड़ा ब्रह्मा बन जाता है और ईश्वरीय शक्तिका आविर्भाव भी हो सकता है, जिसके बाद पुनरागमन नहीं होता और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्मतत्त्वके बोधकी योग्यता आ जाती है।

इसलिए, अपनेको जितना स्वच्छ करोगे, जितना निर्मल करोगे, जितना पवित्र करोगे—अर्थात् जितना अपवित्रताओंका परित्याग करोगे उतना ही आपकी इच्छा-शक्ति ईश्वरकी इच्छा-शक्तिसे मिल जायगी और उससे मिलकर परिपूर्ण हो जायगी।

•

: ६ :

अपेक्षा बनाम उपेक्षा

प्रश्न : अपेक्षा और उपेक्षाके विषयमें कृपया विस्तारसे बताइये !

उत्तर : देखो भाई, जब स्कूलमें या कॉलेजमें परीक्षा होती है तब विद्यार्थियोंसे पूछा जाता है—इसको संक्षेपमें लिखो या विस्तारमें लिखो। तो यह संक्षेप और विस्तार तो आप मुझपर छोड़ दें। हम चाहेंगे तो संक्षेप कर देंगे और चाहेंगे तो विस्तार कर देंगे। आपकी इच्छा है श्रवण करनेकी और विशेष रूपसे—यह बहुत बढ़िया बात है !

'अपेक्षा' माने संस्कृतमें होता है—अन्धकार और आँख होनेका नाम है—'उपेक्षा'। अर्थात् अपेक्षा माने अन्धा होना और उपेक्षा माने आँख होना। जिसको संसारमें किसीकी भी अपेक्षा है, वह अपने स्वरूपकी ओरसे अन्धा है। 'अपगतं ईक्षणम् अपेक्षा यस्य'—जिसकी दृष्टि बिलकुल छूट गयी, गिर गयी। जैसे अपने शरीरमें-से आँख गिर गयी हो—तो उसका नाम हो गया—'अपेक्षा' और बिल्कुल पाससे—'उप-समीप इक्षणम्–उपेक्षा'। जब हमने किसीको बिल्कुल पाससे देखा और उसका नग्न रूप सामने आया तो उपेक्षा हो गयी।

यह जो प्रपञ्च है—इसपर जब हमारी दृष्टि जाती है तो अपने-परसे हट जाती है। सिनेमा देखकर आप घरमें क्या लाते हैं ? कि हमारी घर-वालीके कपड़े ऐसे सुन्दर होने चाहिए, उसका 'डायलॉग' ऐसा होना चाहिए, घरका फर्नीचर ऐसा होना चाहिए; यही नहीं; हमारी घरवाली भी ऐसी सुन्दर होनी चाहिए, यही ना ?

स्त्रियाँ देखती हैं कि किस सिनेस्टारका 'मेक-अप' कैसा है, वहाँसे 'मेक-अप' करना सीखकर आती हैं या अपेक्षा रखती हैं कि हम रूठेंगे तो हमको भी हमारे पति ऐसे ही मनावेंगे और हमारे लिए दूसरोंसे लड़ेंगे,

दूसरेको मार डालेंगे। इस तरह संसारको बाहर-बाहरसे जितना देखा जाता है उतनी अपेक्षा-बुद्धि हृदयमें पैदा होती है—हमको ऐसा चाहिए, हमको ऐसा चाहिए, हमको ऐसा चाहिए। परन्तु, जितनी गहराईमें जाकर देखते हैं उतनी ही उपेक्षा हममें आती है !

सुनो, वर्षों पहलेकी बात है—एक बार एक अरबपति सेठ हमारे साथ मथुरासे बम्बई आ रहे थे। उन्होंने तो खादीका कुरता, जिसमें सूतकी बटन लगी थी, पहन रखा था और उनका स्वागत करनेके लिए स्टेशन-पर जो उनके कर्मचारी और उनके कमीशन एजेण्ट आते थे, उनका रेशमी कुरता होता और उसमें सोने या हीरेके बटन लगे होते ! तो जो जितना अधिक दिखावा अपने भीतर आता है वह उतना ही अधिक 'अपेक्षा'से घिर जाता है; क्योंकि वह अपने स्वरूपकी ओरसे अन्धा है।

हमारे एक भगत हैं, जो यहाँसे कपड़े सी-सीकर 'रेडीमेड-गार्मेण्ट' विलायत भेजते हैं। उनके यहाँ मैंने देखा—एक साथ पचास-पचास, साठ-साठ कपड़े कटते हैं और सिलते हैं और करोड़ों रुपयोंका सूती कपड़ा वे विदेश भेजते हैं। उन्होंने बताया कि वहाँके लोग सूती कपड़ा पहनना पसन्द करते हैं, क्योंकि सूती कपड़ेमें-से हवा शरीरमें जाती रहती है, यह चामके लिए लाभकारी रहता है और यहाँके लोग, हमको तो नाम ही नहीं मालूम है—टेरीकॉट, रेयोन पहनते हैं। यह जो हम देख-देखकर नकल करते हैं, इससे हमारी अपेक्षा-बुद्धि बढ़ती जाती है।

देखा किसी स्त्रीने, कि कोई स्त्री जा रही है, उसकी साड़ी कैसी है, उसका मेक-अप कैसा है, उसके बाल कैसे हैं, उसकी चप्पल कैसी है, पर्स कैसा है ? हम भी वैसा लेंगे। तो—पहले इन्द्रियने बताया कि उसमें यह-यह-यह बात है और फिर मनने कहा कि हमको भी ऐसा चाहिए। माने अपने अन्दर हीनताका बोध हुआ कि हमारे अन्दर यह चीज नहीं है और फिर अपेक्षा हुई कि यह चीज हमको मिलेगी तब हमारी हीनता मिटेगी। अब हुआ कि उस अपेक्षाको पूर्ण करनेके लिए पैसा चाहिए, लेकिन अपने पास पैसा तो है नहीं, तो बेईमानीसे कहींसे पैसा प्राप्त किया और किया तो हमारे जीवनमें दुराचार आगया और जब दुराचार ही आगया तब जीवन क्या रहा ?

यन्मनोऽनुविधीयते तदस्य हरति प्रज्ञाम् ।

आपकी बुद्धि लुट गयी। आपकी बुद्धिको डाकू ले गया! इन्द्रियोंने उसकी अगवानी की, मनने उसका पीछा किया और आपकी बुद्धि लुट गयी।

'वायुर्नावमिवाम्भसि'—यह जो अपेक्षा - बुद्धि है, यह हमको अपनी हीनताका अनुभव कराती है और पराधीनताकी ओर ले जाती है। इसलिए अपने जीवनमें किसीकी भी अपेक्षा न रहे, हम निरपेक्ष हैं। भगवान्ने भागवतमें कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

यदि कोई निरपेक्ष महात्मा हो तो मैं उसके पीछे-पीछे चलता हूँ। पूछा किसीने—'भगवन्, आप अपने निरपेक्ष भक्तके पीछे-पीछे क्यों चलते हैं?'

बोले—'देखो भाई, मैं चलता हूँ कि इस भक्तके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाये तो मैं पवित्र हो जाऊँ!'

ओ हो! अपने भक्तका इतना आदर!!

फिर पूछा कि, महाराज, क्या आपके अन्दर कोई पापित्व है, कोई अपवित्रता है या कोई त्रुटि है कि उसको दूर करनेके लिए आप ऐसा चाहते हैं?

कहा—'हाँ, है!'

'क्या है वह?'

बोले-'जो मेरा भक्त होता है, वह तो अकेले मुझसे ही प्रेम करता है, अनन्य होता है। पर, मैं भक्तके प्रति अनन्य नहीं हो पाता। जो भी भक्त आता है, बस उसीसे मैं कहता हूँ कि तुम्हारे जैसा मेरा प्यारा और कोई नहीं है। मैं अपने किसी भक्तके प्रति निष्कपट नहीं हो पाता और भक्त मेरे प्रति निष्कपट होते हैं! इसलिए उनकी निष्कपटताका आदर करनेके लिए मैं उनके चरणोंकी धूल अपने ऊपर लेना चाहता हूँ ताकि मैं पवित्र हो जाऊँ।

भक्त निरपेक्ष है, अपेक्षारहित होता है।

जब हम ईश्वरको भूल जाते हैं, अपने स्वरूपको भूल जाते हैं, अपनेमें हीनताका बोध करते हैं, तब हमारे जीवनमें अपेक्षाका उदय होता है—हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए—यह अविद्याकी सन्तान है और जब हम सृष्टिकी उपेक्षा कर देते हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।

तो उसके साथ-ही-साथ प्रपञ्चकी उपेक्षा हो जाती है।

महात्मा लोग होते हैं—सर्वत्र उपेक्षक! इसलिए संन्यासियोंके लिए तो यहाँतक लिखा है कि कोई आये तो उसको 'आइये-आइये' न बोले और कोई जाने लगे तो उनको, 'जाइये-जाइये' भी न बोले और उसको 'ठहरो-ठहरो' भी न बोले—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि च।
सम्माननं च न कुर्याद् यतिर्मोक्षपरायणः॥

असलमें, आँख तो जहाँ-की-तहाँ रहती है, आपके मनमें ही ऐसी कमजोरीका भाव आजाता है कि मन तो इसके साथ चला गया। वैसे मन भी कहीं आता-जाता नहीं है, आपका ख्याल ही ऐसा बन जाता है। ख्याल बदलते हैं। देशसे देशान्तरमें मनकी प्राप्ति नहीं होती है, देश तो स्वयं मानसिक है और कालसे कालान्तरमें भी मन नहीं जाता है। काल भी स्वयं मानस है। तब? मन अपने स्थानपर रहते हुए ही भावसे भावान्तरको प्राप्त होता है और इस भावसे भावान्तरकी प्राप्तिको ही विषयान्तरका बोध भी बोलते हैं और जन्मान्तर भी बोलते हैं। यह बात वेदान्तियोंकी दृष्टि-सृष्टिवादकी प्रक्रियामें और बौद्धोंके विज्ञानवादकी प्रक्रियामें करीब-करीब एक जैसी है।

अतः दृष्टि ऐसी होनी चाहिए कि प्रपञ्चको तो देखें, लेकिन हल्की-फुल्की नजरसे। ऐसी दृष्टि नहीं चाहिए कि आपकी आँख ही उसके साथ निकलकर चली जाये।

•

: १० :

पुराने-नयेका चक्कर

प्रश्न : कल आपने बताया था कि भागवतके माहात्म्य १०० वर्ष पहले लिखे हुए हैं और पद्मपुराण व स्कन्द-पुराणमें भागवत-माहात्म्य है। पर ये दोनों पुराण तो हजारों वर्ष पुराने हैं, फिर इनमें १०० वर्ष पहलेका लिखा हुआ भागवत-माहात्म्य कैसे आगया ? कृपया समझायें !

उत्तर : मैंने पद्मपुराण और स्कन्द-पुराण दोनों पढ़े हैं और दोनोंके मूल-ग्रन्थमें यह माहात्म्य नहीं मिलता है। यह ठीक वैसा ही है जैसे, आजकल जो सत्यनारायणकी कथा होती है और जिसके लिए—स्कन्द-पुराणे रेवा-खण्डे बोलते हैं। परन्तु, रेवा-खण्डकी तो बात ही छोड़ो, पूरे स्कन्द-पुराणमें ही वह नहीं है। फिर भी, ये सब पुराने हैं, इसमें कोई शङ्का नहीं है और समय-समयपर इनका सम्पादन भी होता रहता है।

अब, भागवतके माहात्म्यकी बात यह है कि यह जो पहला माहात्म्य है— पद्म-पुराणवाला, इसमें जितनी भी बातें कही गयी हैं, वे सब-की-सब भागवतके मूलमें ही मिलती हैं। इनको मैंने ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाला है और दूसरा—जो स्कन्द-पुराणमें है—उसकी मूल बातें भागवतमें नहीं हैं। इनमें कुछ ऐसे शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है, जो श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय और श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायके हैं। इनके अलावा एक माहात्म्य नारद पुराणमें है, बृहन्नारदीयमें है और और दूसरे पुराणोंमें

भी है। परन्तु, वह बहुत कुछ विचारणीय है और बहुत कुछ अनुसरणीय है।

अब रही हमारी कलकी १०० वर्ष पहलेवाली बात। वह बात हम वापस ले लेते हैं। यद्यपि पुलिसमें तो रिपोर्ट लिखवानेमें यह नियम होता है कि जो पहले रिपोर्ट लिखवाता है, वही सही लिखवाता है और विजयी होता है पर, किताब भी जो पुरानी होगी, वही सर्वश्रेष्ठ होगी—यह एक धारणाकी ही बात है और वह आपकी धारणा बनी रहे। पुस्तक चाहे नयी हो या पुरानी, रिपोर्ट चाहे पहले लिखवायी गयी हो या बादमें—स्वीकार तो सत्यको ही करना पड़ता है।

तो यह जो माहात्म्य है और इसमें जो भक्तिके दो पुत्रों, ज्ञान और वैराग्यका वर्णन है—यह एक सत्य है और अनुभवसिद्ध बात है। इसलिए चाहे पुराना हो कि नया, हमको इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। आज भी जो महात्मा लोग कहते हैं, वह अनुभवसे कहते हैं और वह सच होता है।

सुनो, एक बात आपको बताते हैं—श्रीजमनालालजी बजाजने वर्धामें एक मन्दिर बनवाया और मन्दिर बनवानेके बाद उन्होंने डॉ० भगवान-दासको, जो कि यहाँके राज्यपाल श्रीप्रकाशजीके पिता थे और एशियाके विद्वानोंमें एक माने जाते थे, चिट्ठी लिखी कि आप एक ऐसा श्लोक लिखकर हमें भेजिये, जिसमें हरिजनोंका मन्दिरमें प्रवेश करनेका वर्णन हो, ताकि उसे हम इस मन्दिरपर लिखवा दें। डॉ० भगवानदासने एक नया श्लोक बनाया और लिखकर भेज दिया।

जब जमनालालजी बजाजने उनसे पूछा—'यह नया है कि पुराना ?' तब डॉ० भगवानदासने कहा कि आप इसको लिखवा दीजिये, दो सौ वर्ष बाद यही पुराना समझा जायेगा। समझो, नये-पुरानेकी बात ऐसी ही है!

कानपुरमें भी जो जे० के०का मन्दिर बना हुआ है, उसमें श्लोक ही श्लोक लिखे हुए हैं; उनमें कितने पुराने हैं और कितने मेरे बनाये हुए—इसको मैं ही जानता हूँ। इसी तरह गीताप्रेससे छपी 'सूक्ति-सुधाकर' पुस्तकमें—जिसका सम्पादन पण्डित रामनारायण शास्त्रीने किया था—

कितने श्लोक पुराने हैं और कितने शास्त्रीजीके बनाये हुए—इसको पहचानना बहुत कठिन है।

बात यह है मेरे भाई कि बात सच्ची होनी चाहिए, अनुभवकी होनी चाहिए, खुली होनी चाहिए—फिर वह चाहे पुरानी हो चाहे नयी। आप पुरानी-नयीपर मत जाइये—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

कालिदासका श्लोक है कि कोई बात पुरानी होनेसे ही अच्छी नहीं होती और कोई बात नयी होनेसे ही बुरी नहीं होती। जो सत्पुरुष हैं, वे उस बातकी परीक्षा करते हैं और यदि वह सत्य और अनुभवकी बात है तो उसको स्वीकार करते हैं और—

मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।

जो मूढ है, जो स्वयं सोच नहीं सकता, समझ नहीं सकता वह दूसरेकी अक्लसे, दूसरेके पराधीन होकर चलता है।

देखो, एक पुरानी बात है—हम १९-२० वर्षके होंगे। हमने एक सम्प्रदायके आचार्यको चिट्ठी लिखी कि हम आपके पास आकर आपके मतका अध्ययन करना चाहते हैं। सन्त थे वे! उनका उत्तर आया—'तुम खुशीसे आओ, हम तुम्हें अपना मत भी समझायेंगे। परन्तु, यह शर्त है कि यदि हमारा मत तुम्हारी समझमें आजाये तो अबतक इसके विपरीत जो तुमने माना है, उसको छोड़नेको तैयार हो कि नहीं? यदि छोड़नेको तैयार हो तो आओ और यदि तुम हमारी समझायी हुई बातको स्वीकार नहीं करते हो और अपनी मान्यतापर ही अड़े रहना चाहते हो तो हमारे पास आकर काहेको गल-कुच्चन करवाते हो? अपना समय भी व्यर्थ करते हो और हमारा समय भी?

तो भाई मेरे, आज भी वैसे ही महात्मा होते हैं, जैसे पुराने समयमें थे और कोई-कोई तो बहुत बड़े महात्मा होते हैं—ब्रह्मानुभूति सम्पन्न महात्मा। वे जो कहते हैं—

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो बहूपदेशं।

सन्त सेवाकी करनी चाहिए। वे उपदेश करें कि न करें!

यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि।

सन्तोंकी जो स्वच्छन्द वाणी है, उसीसे शास्त्र बनते हैं। इसलिए आगे-पीछेके चक्करमें और कौन पुरानी बात है और कौन नयी बात है, के चक्करमें न पड़कर उसमें जो सत्य है, जो युक्तियुक्त बात है उसको स्वीकार करना चाहिए। भाषा बनती-बिगड़ती रहती है और भाषाके द्वारा अध्ययन भी होता है; इसलिए उसमें कही गयी बात सत्य और युक्ति-युक्त होनी चाहिए—

युक्तियुक्तं उपादेयं वचनं बालकादपि।
युक्तिहीनं परित्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

जो युक्तियुक्त बात हो उसको स्वीकार करना चाहिए, बालकने कहा तो क्या हुआ? यदि युक्ति-विरुद्ध बात हो और भले ही ब्रह्माजी कहें, उसे नहीं स्वीकार करना चाहिए।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कार्यो धर्मनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारेषु धर्महानिः प्रजायते॥

केवल किताबमें लिखी-लिखी बात देखकर निर्णय नहीं करना चाहिए। यदि युक्तिहीन निर्णय कर लोगे तो उससे तो शास्त्रकी ही बहुत बड़ी हानि हो जायेगी। उदाहरणके लिए—आपका पति है, बहुत प्यारा है, धर्मके अनुसार है और पतिकी आज्ञाका पालन करना पत्नीका धर्म है, धर्म ही नहीं, परम धर्म है। लेकिन, फिर भी यदि पति कहे कि तुम पर-पुरुषके साथ जाकर शयन करो तो नहीं जाना चाहिए; पतिकी आज्ञा नहीं माननी चाहिए। क्योंकि पति-पत्नीका सम्बन्ध विवाह-धर्मके पालनके लिए हुआ है और यदि उसी धर्मका उल्लंघन करनेके लिए पति आज्ञा देता है तो उसकी आज्ञाको स्वीकार करना धर्म नहीं है। इसलिए, सभी धर्माधर्मका निर्णय विचारपूर्वक और अनुभवारूढ़ होना चाहिए।

अतः आप ऐसे वर्षोंके चक्करमें मत पड़िये; बल्कि जरा अन्तर्मुख होकर विचार कीजिये—यह आपको मेरी सलाह है!!

●

: ११ :

नाम-जप

प्रश्न : परमहंस क्या देखते हैं ? योगी किसका ध्यान करते हैं ? अवधूत कैसे अविचलित रहते हैं ? और ज्ञानी कैसे निर्विकल्प हो जाते हैं ? क्या ये लोग भी सबकी तरह परमात्माका नाम, जप, स्मरण, दर्शन करते हैं ? कृपया समझायें !

उत्तर : सबकी आँखमें देखनेकी अलग-अलग शक्ति होती है, अलग-अलग योग्यता होती है। जो दूर होता है और जिसकी आँख कमजोर होती है, उनको थोड़ा कम दीखता है। इसी तरह यदि मन सावधान न हो तब भी थोड़ा कम दीखता है। और फिर जो साँवरे हैं, वे सबको एक ही तरहके साँवरे नहीं दीखते हैं, और जो गोरे हैं, वे सबको एक ही तरहके गोरे नहीं दीखते हैं। तो बाबा, ये जो आपने इतने नाम लिये, मैं तो भूल भी गया—अवधूत, परमहंस, योगी, ज्ञानी और कौन-कौन, उनकी नजरसे क्या दीखता है और वे क्या करते हैं, यह तो आप जब स्वयं वही हो जायेंगे तब मालूम पड़ेगा। जब आप परमहंस होंगे तब परमहंसकी दृष्टिसे देख सकेंगे, अवधूत होंगे तब अवधूतकी दृष्टिसे और योगी होंगे तब योगीकी दृष्टिसे देख सकेंगे और बिना वह हुए तो हमलोग उनकी दृष्टिसे देख भी नहीं सकते हैं और नाप भी नहीं सकते हैं, हम तो अपनी ही नजरके अनुसार देखेंगे और नापेंगे।

नाम-जपकी बात यह है कि आप नाम-जपका इतना महत्त्व समझते हैं, मैं आपकी श्रद्धाका, आपके भावका बहुत आदर करता हूँ। मैं समझता हूँ कि आप सचमुच यह चाहते हैं कि मैं बताऊँ कि सब लोग भगवान्के नामका जप करते हैं और हम भी इसी कक्षामें हैं, हम भी भगवान्का नाम लेते हैं।

भगवान्के नामका सामर्थ्य बहुत है। योगी लोग भी भगवान्के नामका उच्चारण करते हैं, और जीभसे ही करते हैं—

नाम जीह जपि जागत योगी। परमारथ, परपंच वियोगी।

संन्यासी लोग भी प्रणवका जप करते हैं। आप आश्चर्य न करें कोई-

कोई महात्मा ऐसे होते हैं कि वे जो सुनते हैं, वह सब भगवान्‌का नाम और जो बोलते हैं वह भी सब भगवान्‌का नाम! उनकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है, तो भगवान्‌के नामके सिवाय दूसरा कोई नाम हो ही कैसे सकता है? यह बात और है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले अपना-अपना नाम चुन लेते हैं कि यही भगवान्‌का नाम है। उदाहरणके लिए, जैसे अयोध्यामें कहेंगे—राम ही भगवान्‌का नाम है, वृन्दावनमें कहेंगे—कृष्ण ही भगवान्‌का नाम है, काशीमें कहेंगे—शिव ही भगवान्‌का नाम है, गौहाटीमें कहेंगे—कामाख्या ही भगवान्‌का नाम है। तो यही भगवान्‌का नाम है? नहीं; यह तो अपनी-अपनी पार्टीकी बात है, अपने-अपने सम्प्रदायकी बात है। असलमें तत्त्व और तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसलिए सब रूप उसके हैं, और सब नाम भी उसके ही हैं। आप किसी भी नामको परमात्माका नाम समझकर उसका उच्चारण तो कीजिये।

वैसे कभी भगवान्‌का नाम बिना लिये भी आता है, ऐसा भी होता है। कई महात्मा ऐसे होते हैं, जो स्वयं जीभसे नामका उच्चारण नहीं करते, लेकिन उनका रोम-रोम भगवान्‌के नामका उच्चारण करता है, उनके खूनका कतरा-कतरा भगवान्‌का नाम लेता है। जब वे हिलते हैं, तब उसमें-से भी भगवान्‌के नामकी ही ध्वनि होती है। उन्हें तो चींटी जो चलती है, उसके चलनेसे भी भगवान्‌के नामकी ध्वनि आती है और कौआ जो काँव-काँव करता है, उसमें-से भी भगवान्‌के नामकी ही ध्वनि आती है। कहनेका मतलब यह है कि जो भगवान्‌के स्वरूपको, तत्त्वको और रहस्यको जानते हैं, उनके लिए तो भगवान्‌के नामके सिवाय और कहीं कुछ है ही नहीं। माला उनके हाथमें हो कि न हो, उनकी जीभ हिले कि न हिले, वे ऐसा बोलते हैं कि सारी सृष्टि भगवान्‌का नाम ले रही है। बिना हिले सृष्टि नहीं हो सकती और जब परमात्मा थोड़ा-सा हिलता है, उसको परिणाम या विकार या स्पन्दन बोलते हैं—तब उस थोड़े-से हिलनेसे ही यह दुनिया दीखने लगती है। हिलनेसे शब्द जरूर होता है, कोई भी ऐसा हिलना, ऐसा स्पन्दन नहीं होता है, जिसमें कोई-न-कोई आवाज न हो। यह जो कृष्णयजुर्वेदीय पुरुषसूक्त है, उसमें एक मन्त्र आता है—

नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते।

भगवान् स्वयं अपना नाम बताते हैं और उसका जप करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि ईश्वर भी अपने नामका जप करते हैं। तो, जहाँ रूप है, वहाँ नाम है और जहाँ नाम है वहाँ रूप है। बिना रूपका नाम नहीं होता और बिना नामका रूप नहीं होता। भागवतके मूलमें लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण रोज सबेरे उठकर, नहा-धोकर जप किया करते थे, रामचन्द्र भी रोज जप किया करते थे, वशिष्ठ आदि ऋषि भी रोज जप करते थे। जप इतना व्यापक है कि चाहे कोई अवधूत हो, चाहे कोई ज्ञानी हो, चाहे कोई परमहंस हो, सब करते हैं।

और आप यह भी मत समझिये कि आपकी ही ढोलक जप बोलती है या हमारी ही ताली जप बोलती है। यह तो जिनको भगवान्का नाम मालूम नहीं पड़ता है, वे किसी दूसरी चीजके ध्यानमें बेहोश हो गये हैं। यदि वे होश-हवाशमें होते, सावधान होते, चेतन होते, तो उनको भगवान्के नामके सिवाय और कुछ मालूम ही नहीं पड़ता। आप नाम लेकर क्यों पूछते हैं कि ज्ञानी, योगी, अवधूत और परमहंस आदि कैसे और क्या जप करते हैं? उनके लिए तो ये जो समुद्रमें तरङ्गें उठती हैं, इनमें भी भगवान्का नाम है, जो रेलगाड़ी चलती है, उसमें भगवान्का नाम है, जो पेड़के पत्ते हिलते हैं, उनमें भगवान्का नाम है, सूर्य, चन्द्रमाकी जो गति है उसमें भगवान्का नाम है। चींटी भी नामका जप करती है। अयोध्याजीमें एक ऊँट था, उसके गलेमें लकड़ीके बने बड़े-बड़े दानों (सूत लपेटनेके लिए जो बनते हैं) की माला पहना दी गयी थी। जब भी वह बैठता, तब भगवान्के नामका उच्चारण करता और उसकी माला गलेमें घूमा करती।

गोरखपुरमें एक कुत्ता था। जब कहीं नाम-कीर्तन होने लगता, तब उसे रोकनेकी चाहे करे कोई कोटि उपाय, वह कीर्त्तनमें घुस ही जाता और स्वर-तालसे नाचने लगता।

हमारे प्राणोंका जो गमनागमन है, उसमें भी भगवान्का नाम है। महात्मा लोग यहाँ तो बताते हैं कि श्वासमें अजपा जप हो रहा है, नामोच्चारण हो रहा है, 'हंसः सोऽहम्' हो रहा है, 'सोऽहम् हंसः' हो रहा है। भेड़ा घाटमें एक महात्मा थे, उनके शरीरके एक-एक अङ्गमें-से, हाथमें-से, कानमें-से, पाँवमें-से, दिलमें-से, दिमागमें-से भगवान्के नामका उच्चारण होता रहता। तो, कभी ऐसे मत कहना कि जिसके हाथमें माला नहीं है, वह जप नहीं करता है, राम नाम नहीं बोलता है।

आपको जो दीखे, आप उसके बारेमें यही सोचिये कि यह भगवान्‌का नाम बोल रहा है। चिड़िया जो चहक रही है, भगवान्‌का नाम बोल रही है। चूहा जो चूँ-चूँ करता है, भगवान्‌का नाम बोलता है। और यदि आप इसके बहुत जिज्ञासु हों, तो आप कोई भी शब्द उच्चारण कीजिये, हम बता सकते हैं कि वह भगवान्‌का नाम है। किसीके भी विषयमें यह कभी मत सोचिये कि यह भगवान्‌का भक्त नहीं है, भगवान्‌का नाम नहीं लेता है, हमारी पार्टीमें शामिल नहीं हो सकता। शरीरमें जितने मोड़ हैं, सब-के-सब 'र' बनाते हैं। 'र' माने राम। गौरसे देखोगे तो देख सकोगे! यह उँगली जो मुड़ती है, यह हाथ जो मुड़ता है, कमर जो मड़ती है—सो सब 'र' हैं। हैं कि नहीं? और एक-एक हड्डी शिवलिङ्गाकार है—शिवलिङ्ग है। इसकी एक कथा है—उद्दालक नामके एक तत्त्वज्ञानी थे। उनका शरीर जब छूटा तब वहाँ जगज्जननी जगदम्बा आयीं और उन्होंने यह कहकर कि तत्त्व-ज्ञानीकी हड्डियाँ हैं, भगवान्‌का नाम है, उठा लीं और उनसे अपना शृङ्गार कर लिया, कपड़ा नहीं पहनती हैं, इसलिए कमरमें पहन लिया, छातीपर पहन लिया, कानोंमें पहन लिया और उसीका सिरमें मुकुट पहन लिया, तत्त्वज्ञानीकी हड्डी कोई सामान्य हड्डी नहीं, साक्षात् भगवन्नाम है।

अच्छा, एकबार गिरिराजमें आकर किसीने एक महात्मासे प्रश्न कर दिया—'हम सुनते हैं गिरिराज चेतन है, चिन्मय है, पर यह मालूम कैसे पड़े?' महात्मा चुप रहे। रातको परिक्रमा करने गये। उन्हें भी साथ ले गये। और परिक्रमा करते समय एक पत्थरको उठाकर उन्होंने दूसरे पत्थरपर पटक दिया। तुरन्त उस पत्थरमें-से रक्त निकलने लगा, और भगवान्‌का नाम भी।

एक महात्मा हरिद्वारसे आये हुए एक साधुके साथ परिक्रमा कर रहे थे। एक जगहसे ध्वनि आये—राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम! साधुने पूछा—महाराज, यह ध्वनि कहाँसे आ रही है? बोले—अच्छा, देखोगे? 'हाँ। तो चलो, थोड़ा, आगे बढ़े—देखा, एक साधु मर गया था और उसकी हड्डी पड़ी थो और उसमें-से ध्वनि आ रही थी। हड्डी बोल रही थी—राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम! जैसे यशोदा मैयाकी गोदमें हरि-हलधर रहते हैं, वैसे ही महात्माकी जीभपर भगवान्‌का नाम रहता है—

जीभ जसोमति हरि-हलधर सों।

देखो, अब आपको दोष भी बताते हैं। आपको भगवान्के नामका उच्चारण करनेमें, भगवान्के नामका आनन्द आता है या ढोल-मजीरेका आनन्द आता है या जो राग-रागिनी है उसका मजा आता है या कि आपके गलेमें जो सुरीलापन है उसका मजा आता है या कि आपको भगवान्के नामका जो संस्पर्श है, उसका आनन्द आता है या कि नाममें जो नामी समाया हुआ है उसका आनन्द आता है या कि उसमें जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व है उसका आनन्द आता है ? आप सोच लें कि आप कहाँ हैं ? ढोल-मजीरेमें हैं या हाव-भाव-कटाक्षमें हैं या राग-रागिनीमें हैं या कीर्त्तन करानेवाला जब कीर्त्तन करते-करते घूँघट काढ़ लेता है, तब आपको घूँघट देखनेमें मजा आता है कि सचमें सखीकी याद आती है ! यदि सखीकी याद आजाती है तो आप भगवद्-रसका आस्वादन कर रहे हैं और यदि घूँघट देखनेमें ही मजा आता है तो रसास्वादन नहीं कर रहे हैं। तो उसकी ओर कुछ बढ़िये, आगे बढ़िये, और आगे बढ़िये, और आगे बढ़िये, और फिर अन्तर्मुख हो जाइये। लोगोंकी वाह-वाहीमें नहीं पड़ना चाहिए। अपना हृदय कितना भगवान्की ओर उन्मुख हो रहा है, जा रहा है, इसकी ओर देखना चाहिए।

अतः भगवान्के नाममें और भगवान्में किसी प्रकारका भेद नहीं है। यदि आपको नाम प्राप्त है तो आपको भगवान् प्राप्त हैं। हम ऐसे महात्माको जानते हैं, जिनसे किसीने पूछा कि क्या आपको कभी भगवान्के रूपका दर्शन होता है ? वे बोले कि क्या नाम रूपसे कम है कि आप रूपके दर्शनकी बात पूछते हैं ? क्या नाम कोई रूप-दर्शनकी कीमत है ? नहीं, रूपसे नाम बड़ा है। अवतार कालमें जिसको राम-कृष्णका दर्शन होता है, भगवान्का नाम उसके मुखमें आना उससे छोटी चीज नहीं है। तो भाई मेरे, नाम-जप सब करते हैं, समग्र पृथिवो करती है, महतत्त्व करता है, अहङ्कार-तत्त्व करता है, पञ्चतन्मात्रा करती हैं, पञ्चमहाभूत करते हैं और उनसे गढ़े हुए जितने भी शरीर हैं, वे करते हैं। नाम-जपके सिवाय तो यह सृष्टि-स्थिति-संहार है ही नहीं। नाम-जपमें ही, प्रणवमें ही, विश्व-तैजस-प्राज्ञ-संहार सब है, यही सबका विधान है।

•

: १२ :

सत्सङ्गियोंकी आसक्ति

प्रश्न : सन्तके साथ सत्सङ्ग भी होता है और सन्तके साथ दुःसङ्ग भी होता है, ऐसी स्थितिमें सत्सङ्गके लक्षण एवं विशेषताओंपर प्रकाश डालें और सत्सङ्गियोंमें परस्पर आसक्ति नहीं होनी चाहिए—इस उक्तिको समझानेकी कृपा करें !

उत्तर : देखो, शङ्करजीके शरीरमें साँप भी रहते हैं और उनके आस-पास भूत-प्रेत भी रहते हैं। अब, जो शङ्करजीकी भक्ति करना चाहे, उनसे प्रेम करना चाहे, वह शङ्करजीकी ओर तो न देखे, साँपकी ओर देखे और शङ्करजीके अनुग्रह और कृपाको न देखे और भूत-प्रेतको देखे और डर जाये तो वह उसकी भक्ति क्या करेगा, उनसे प्रेम क्या करेगा ?

ऐसे ही, जिसका तुस सङ्ग करना चाहते हो, वह सन्त है—यदि ऐसा तुम्हारा विश्वास है तो तुम उसके आस-पासकी ओर मत देखो। उसको देखो, भगवान्को देखो। अपनी नजरको पक्की करो। यदि सन्तके सङ्गमें ही दुःसङ्ग है, तब तो वह सन्त है ही नहीं और फिर जिसके सङ्गको ही आप दुःसङ्ग समझते हैं, मैं तो कहता हूँ कि आप निश्चित रूपसे ही उसको छोड़ दीजिये, वहाँ एक क्षण भी आपको नहीं रहना चाहिए।

एक बात आपको सुनाता हूँ—एक बार मैंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि बाबा, ये जो आस-पासके लोग हैं; ये बड़े विलक्षण हैं (विलक्षण शब्दका अर्थ, न अच्छा होता है और न बुरा)। बाबा बोले—बेटा, ऐसे लोगोंके बीचमें रहनेसे वैराग्य बना रहता है और किसीके प्रति प्रीति नहीं होती है। हम जानते हैं कि यदि यह चोरी करके आया है, यह डाका डालकर आया है, यह मारकर आया है, यह अनाचारी है, यह व्यभिचारी है, इसका क्रोध कहाँ है, इसका लोभ कहाँ है, इसका मोह कहाँ है, इसकी आसक्ति कहाँ है; पर, हम सत्सङ्गके लिए आये हैं या कि आस-पास देखनेके लिए आये हैं ? देखो, इसकी

आपको एक कथा सुनाता हूँ—वृन्दावनमें एक प्रभुपाद थे, श्रीनित्यानन्द महाप्रभुके वंशज। उनका नाम था—प्राणगोपाल गोस्वामी। उनके यहाँ रोज श्रीमद्भागवतकी कथा होती थी। बहुत बढ़िया कथा करते थे। श्रीहरिबाबाजी भी रोज कथा सुननेके लिए जाते। समयसे जाते और कथा समाप्त होनेपर अपनी कुटियापर वापस आजाते। एक दिन उन्होंने लोगोंके सामने कथाकी बहुत प्रशंसा की—गोस्वामीजी बहुत बढ़िया कथा करते हैं। वहीं उनका वह सेवक बैठा था, जो उनके साथ कथामें जाया करता। वह बोला—'हाँ महाराज, कथा तो बहुत बढ़िया करते हैं, पर जिस हालमें बैठकर कथा करते हैं, उसकी हर खूँटीपर एक दुशाला टँगा हुआ है, तो इतने दुशाले उन्होंने क्यों इकट्ठे कर रक्खे हैं?' बाबाने कहा—'कि तूँ मेरे साथ वहाँ मेरी सेवाके लिए जाता है, कथा सुननेके लिए जाता है या कि दुशाले देखनेके लिए! जा, आजसे तेरा मेरे साथ जाना बन्द। अब मैं तुमको लेकर कभी कथा सुननेको नहीं जाऊँगा।' समझे कुछ! तो बाबा, आप सन्तको देखिये और उससे प्रेम कीजिये; भगवान्‌को देखिये और भगवान्‌से प्रेम कीजिये। उनके पास जो लोग फायदा उठानेके लिए अथवा अपनी वासना पूरी करनेके लिए जाते हैं, उनकी ओर मत देखिये!

अब प्रश्नका दूसरा हिस्सा कि सत्सङ्गियोंमें आपसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सत्सङ्गी जब एक दूसरेको देखने लगते हैं और आपसमें प्रेम करने लगते हैं, तब वे एक दूसरेसे लाभ उठानेमें लग जाते हैं। संसारी भावना तो उनकी रहती ही है—डाक्टरसे पहचान हो जायेगी तो बिना फीस दिये चिकित्सा करवाना चाहेंगे, 'पेशेण्ट'से परिचय हो जाता है तो डाक्टर चाहता है कि यह मेरी ही 'क्लीनिक'में आये; धनीसे परिचय हो जाता है तो उससे कर्ज लेने लगते हैं; मिनिस्टरसे परिचय हो जाता है तो उससे सिफारिश करने लगते हैं और इसी तरह पण्डित, व्यापारी, गृहस्थ सब होते हैं। किसी एकमें एक विशेषता हो और दूसरेमें दूसरी विशेषता हो तो दोनोंमें परस्पर आसक्ति हो जाती है और फिर वे परस्पर आसक्तिमें ही रह जाते हैं, ईश्वरका ख्याल छूट जाता है। कहनेका मतलब यह है कि संसारका जो स्वार्थ है, वह आपसमें जरूर आता है, इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए।

महात्मा गाँधीने अपने एकादश-महाव्रतमें एक ब्रह्मचर्य नामके व्रतका

उल्लेख किया है। इसमें-से सात गीताप्रेसवालोंने छापे हैं। उसमें लिखा है कि जो आदमी संसारकी सेवा करना चाहता है या सत्यके मार्गपर चलना चाहता है, उसको ब्रह्मचर्य क्यों रखना चाहिए? क्योंकि जब दो आदमी एक साथ चलेंगे तब एक दूसरेको देखेंगे कि यह हमारे साथ आ रहा है कि नहीं और इस तरह जितनी देरतक एक दूसरेको देखेंगे उतनी देरतक उनकी दृष्टि सत्यपर-से, अपने लक्ष्यपर-से हट जायेगी। यह तो हुई एक बात और दूसरी बात यह कि जब दो आदमियोंमें प्रेम बढ़ जायेगा तब वे तीसरेकी निन्दा भी करने लगेंगे और इस तरह उनके मनमें राग-द्वेष दोनों आजायेंगे। दोकी आसक्तिका अर्थ ही हुआ, एकसे राग और एकसे रागका अर्थ हुआ, दूसरेसे द्वेष। इसलिए सत्सङ्गीको तो केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिए और जबतक सत्सङ्ग करनेका, भक्ति या ज्ञानका उपदेश सुननेका मन हो तबतक सुने और जबतक अपनी सेवा करनेकी रुचि हो तबतक गुरुकी भी सेवा करे, सङ्ग करे; नहीं तो यदि गुरुकी सेवा भी परमार्थके ज्ञानमें, अपने अद्वैत-अखण्डकी अनुभूतिमें बाधक होती हो तो उसको भी छोड़ देना चाहिए—'न गुरुः न शिष्यः'। शंकराचार्य भगवान्‌ने स्पष्ट रूपसे कह दिया, 'जब परमार्थमें स्थिति हो जाये तब गुरु-शिष्यका, सेवक-सेव्यका भी शारीरिक सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। बस; अपने आपमें मग्न रहे, मस्त रहे। असलमें, परमार्थमें जो स्थिति है, वह बहुत विलक्षण है। यह नहीं कि 'निकले थे हरि-भजनको ओटन लगे कपास।' माँ छोड़ी, बाप छोड़ा, बहन छोड़ी, भाई छोड़ा, पत्नी छोड़ी, बच्चे छोड़े, धन छोड़ा, मकान छोड़ा, चारों ओरसे आसक्ति छुड़ाई और छुड़ाकर चले सत्सङ्गमें और वहाँ 'बीच ही में माया मिली और पुनः फँसकर रह गये।' यह जो द्वैतकी माया है, यह द्वैतका परित्याग किये बिना नहीं छूट सकती। आप सत्सङ्गकी चर्चा आपसमें कीजिये, लेकिन इसके बिना मैं नहीं रह सकता, ऐसा मत सोचिये!

एक और बात आपको सुनाता हूँ—मैं संन्यासी नहीं हुआ था, पर था वृन्दावनमें ही। वहाँ एक महात्मा मिले, उनका नाम निर्मल-दासजी था। रातको हम दोनों एक साथ श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें छतपर सोये। सत्सङ्गकी चर्चा होने लगी। उन्होंने कहा कि उनका पञ्चदशी पढ़नेका बहुत मन है। मैंने कहा—'तुम मेरे साथ रहो, मैं तुम्हें पञ्चदशी पढ़ा दूँगा।' यह बात हमलोगोंकी हुई करीब ग्यारह-

बारह बजे रातको और फिर हम सो गये और सबेरे चार बजे हमलोग श्रीउड़ियाबाबाजीके 'वेदान्त-रहस्य' सत्सङ्गमें गये। बाबाने कहा—'शान्तनु, साधु तुम्हारे साथ रहेगा, यह ठीक नहीं होगा।' मेरे मनमें आया कि शायद बाबाने मेरे मनकी बात जान ली और यदि उन्होंने जान ली तो इस समय वे मुझे कुछ खिलायें। चार बजे सुबह! तुरत बाबा बोले—'ऋषिजी महाराज! देखो, शान्तनुको भूख लगी है, इसको कुछ पेड़ा-वेड़ा खानेके लिए दो।' बाबाने मुझे बताया—'संगेन योगी।' जहाँ आसक्ति हुई, वहाँ उच्च कोटिके साधक भी नीचे गिरे—

निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगो विनिपात्यतेऽत्रः संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

जो योगकी बहुत ऊँची कक्षामें पहुँच गया है, वह भी आसक्ति करनेसे अपने लक्ष्यसे नीचे गिर जाता है। भाई मेरे, जब आरूढ़योगीकी यह दशा होती है तब जिनके भीतर अल्प-प्रज्ञा है, अल्प-भक्ति है, अल्प-निष्ठा है, उनके लिए तो कहना ही क्या है! यदि परस्परासक्ति ही करनी थी, तो घरमें ही क्यों नहीं कर लिये? पति-पत्नी आपसमें कर लेते; माँ-बेटे आपसमें कर लेते; सन्त और सत्सङ्गी आपसमें कर लेते। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब दुनियामें किसी औरसे ही आसक्ति करनी थी, उसके लिए ही रोना था, सिसकना था और उसके इन्तजारमें ही घण्टों खोने थे तो क्यों परमात्माके मार्गपर चले? अतः सत्सङ्ग वहीं तक ठीक है जहाँतक लक्ष्यके चिन्तनमें मदद मिलती हो और सत्सङ्ग वही, जो संसारकी आसक्तिको ढीली कर संसारके बन्धनसे छुड़ा दे।

इसलिए सत्सङ्गीको बहुत सावधान रहना चाहिए, अपने सम्बन्धमें भी और दूसरोंके सम्बन्धमें भी। सत्सङ्गकी बात छोड़कर उसकी नजर दूसरी ओर जानी ही नहीं चाहिए—

सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि बारि विकार।

अथवा,

सुनहु तात माया कृत गुण अरु दोष अनेक।
गुण यह उभय न देखिये देखिये सो अविवेक॥

सन्तोषात् अनुत्तमसुखलाभः

प्रश्न—सुखका आधार क्या सन्तोष है ? क्योंकि श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेयजीने कहा है कि सुखकी चाह कभी नहीं करनी चाहिए। ऐसा क्यों ? कृपया समझायें !

उत्तर—सुखकी नींव है यम और नियम ! जो सच बोलेगा उसके मनमें सचको सुननेकी इच्छा भी होगी। जो किसीको दुःख नहीं पहुँचाना चाहेगा, उसको मालूम करना पड़ेगा—इससे कहीं किसीको दुःख तो नहीं पहुँचेगा ? सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको यम बोलते हैं और तपस्या, शौच, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वर-प्रणिधान—इनको नियम बोलते हैं। माने, अपने जीवनमें जो नियम धारण किये जाते हैं, उनमें सन्तोष एक है और सन्तोष साधनाकी नींव है।

योग-दर्शनमें यह बात बतायी गयी—**सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।** जो अपने जीवनमें सन्तोष धारण करेगा, उसको अनुत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। अर्थात् सन्तोषसे बड़ा और कोई सुख नहीं है ! सुख चाहसे नहीं मिलता है, सुख सन्तोषसे मिलता है ! तो सन्तोषका अपने जीवनमें नियम ले लो।

सन्तोष क्या है ? जैसा भोजन मिले उसमें सन्तोष। जैसा वस्त्र मिले उसमें सन्तोष ! जहाँ बैठना मिले उसमें सन्तोष। देखो, ईश्वरने तुम्हें हाथ दिये, कान दिये, घ्राण दिये, मुँह दिया, जीभ दी—इस मांसके लोथड़ेमें क्या-क्या बढ़िया चीज भगवान्‌ने भर दी और तुम हो कि तुम्हारी नजर इससे ऊपर जाती ही नहीं है।

एक सज्जन अपने माथे पर पट्टी बाँधकर गये किसी सन्तके पास। सन्तने पूछा—'क्यों रे, आज यह झण्डा क्यों लगा रक्खा है सिरपर ?' बोला—'महाराज, सिरमें दर्द है।' फिर पूछा—'कितनी उमर हुई तेरी ?' तीस वर्ष। कितनी बार सिरमें दर्द हुआ ?' 'आज पहली बार, इसके पहले कभी नहीं हुआ।' 'तो, तीस वर्षतक तुम्हारे सिरमें दर्द नहीं हुआ तब तो झण्डा नहीं लगाया और आज जरा-सा दर्द दे दिया तो झण्डा लगाये घूमते हो ?' अतः भगवान्‌से कहो—'जैसे राखौं वैसे ही रहौं'—जैसे तुम रक्खोगे वैसे ही हम रहेंगे। तुम कहोगे कि आज हाय-हाय करके चिल्लाओ, तो चिल्लायेंगे। तुम कहोगे कि आज भूखे ही रहो, तो भूखे ही रहेंगे। तुम कहोगे कि आज बिना विस्तरके रहो, तो

बिना विस्तरके रहेंगे। भक्तिका तो एकमात्र लक्षण ही है—सन्तोष! आप गीताके बारहवें अध्यायमें देखो, भक्तका लक्षण बताया है—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ गीता १२.१४

'सन्तुष्टः सततं'—भक्तको हमेशा सन्तुष्ट रहना चाहिए। वह चीज नहीं देखता है, चीज देनेवालेको देखता है। सन्तुष्टः दो बार आया है—'सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः' और—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ गीता १२.१९

एकने कहा कि हमेशा सन्तुष्ट रहो—प्रातःकाल हो, चाहे सायंकाल हो, चाहे आधी रात हो, सन्तुष्ट रहो! 'सन्तुष्टः सततं'—ऐसा मजा लो कि हर समय वीणा बज रही हो, सारङ्गी बज रही हो, बाँसुरी बज रही हो। 'सततं' शब्दका एक अर्थ संस्कृतमें यह भी होता है—'ततः वीणा वाद्यतम्' हमारे तो हमेशा वीणा बज रही है, सितार बज रहा है, ताधिन्-नाधिन् हो रहा है। परमानन्द !! हर समय हम भगवान्के सामने हैं और हम उनको देखें कि न देखें, वे हमको देख रहे हैं। और दूसरी जगह भक्तके लक्षणमें ही कहा—'सन्तुष्टो येन केनचित्' माने चाहे जिस किसीसे सन्तुष्ट हो जाये। कभी किसीमें दोष मत देखो। देखो, एक बार श्रीहरिबाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'महाराज, फलाँ महात्माको जब देखो तब स्त्रियाँ घेरे रहती हैं।' बाबा बोले—'तुमको मालूम नहीं है, उन महात्मामें श्रीकृष्णका अंश बहुत ज्यादा है! इसलिए हर समय लोग घेरे रहते हैं। वैसे स्त्रियाँ खाली भी ज्यादा रहती हैं और श्रद्धालु भी ज्यादा होती हैं।' तो नारायण, किसीमें दोष मत देखो—न अपनेमें, न दूसरेमें। अपनेमें भी भगवान् हैं और दूसरेमें भी भगवान् हैं। बस, क्षण-क्षणमें, कण-कणमें, कोण-कोणमें भगवान्को देखो और परमानन्दका अनुभव करो!

सुख न हिमालयमें रहता है, न बम्बईमें; सुख न रातमें रहता है, न दिनमें; सुख न स्त्रीमें रहता है और न पुरुषमें। सुख रहता है अपने मनमें। अपने मनमें भगवान्को देखो और खुश रहो। हम अपनी बेवकूफीसे ही अपनेको दुःखी करते हैं! इसलिए योगदर्शनका यह सूत्र याद रक्खो—**सन्तोषात् अनुत्तमसुखलाभः।**

यदि अपने जीवनमें सन्तोष रक्खोगे, तो तुम्हें वह सुख मिलेगा जिससे बड़ा और कोई सुख नहीं है!

: १४ :

मेरा कैसे छूटे ?

प्रश्न—'मेरा' कैसे छूटे, कृपया समझायें !

उत्तर—देखो, हमारे पास ऐसी युक्ति है कि हम कोई पाप नहीं करें, फिर भी इस सभा-मण्डपके व्यवस्थापक, प्रबन्धक या हितैषी लोग कह देंगे कि स्वामीजी, हम नमस्कार करते हैं, आप यहाँसे चले जाइये !

आपको अजमाना हो तो आप जरा अपने घरमें ही कुछ गड़बड़ करके देखिये, तो कितने लोग आपका साथ देते हैं। बाप बेटेको छोड़ देता है, बेटा बापको छोड़ देता है, भाई भाईको छोड़ देता है, पति पत्नीको छोड़ देता है। यह तो मोहकी एक शृङ्खला है जो हमें बाँधे रखती है।

आप विचार करो कि आपने किसीको मेरा माना तो कैसे माना ? आपका 'मैं' क्या है और जिसको आप 'मेरा' मानते हैं उसके साथ आपका सम्बन्ध क्या है, कैसे है ? असलमें—'मम' दो अक्षरके इस शब्दका नाम है—मृत्यु और 'न मम' तीन अक्षरके इस शब्दका नाम है—अमृत। जिसने बन्धु और धनको मेरा माना वह फँस गया। बन्धन शब्दकी नैरुक्त व्युत्पत्ति है 'बन्धुश्च धनञ्च बन्धनम्'। बन्धन क्या है ? भाई-बन्धु, धनको मेरा समझना।

अब एक बात आप समझिये कि आप अपने लिए इन दोनोंका जितना उपयोग करेंगे और सोचेंगे—हमारे पास धन ज्यादा हो तो ऐसा मकान बनायेंगे, ऐसा फर्नीचर बनायेंगे, ऐसी मोटर रक्खेंगे, ऐसे रहेंगे, ऐसे खायेंगे, ऐसा पहनेंगे। माने जितनी-जितनी आवश्यकता अपने जीवनमें बढ़ायेंगे, उतनी-ही-उतनी आवश्यकता आपको 'मेरा-मेरा' बढ़ानेकी भी

होगी और अपने जीवनमें उनकी उपयोगिता जितनी हम करेंगे, उतना ही 'मेरापन' कम होगा।

असलमें, संसारमें कहीं, किसीका, किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'दृश्यमाना इमे भावाः परस्परमसङ्गिनः' जितने भी पदार्थ देखे जाते हैं—एक-एक कण, एक-एक परमाणु कोई एक दूसरेसे मिलता नहीं है—

अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कुतो विशेषः।

परमाणुका परमाणुसे मिलना, निरवयवका मिलकर सावयव हो जाना, निरवयोंका संयोगी हो जाना सम्भव ही नहीं है। इसलिए, चेतन होकर किसीको 'मेरा' मानना तो कोई युक्तिसंगत बात है ही नहीं। यह सब तो विचार न करनेके कारण अपनी बुद्धिमें भ्रमके रूपमें बैठे हुए हैं। अतः विचार पूर्वक विचारवानोंका सङ्ग करके 'मेरापन'को छोड़ना चाहिए।

देखो, एक बहुत बड़े घरानेकी बात हम जानते हैं—उनके घरकी बहू-बेटी चालीस साड़ीसे ज्यादा साड़ी अपने पास नहीं रखती हैं और एक दूसरे घरानेकी बात जानते हैं, जिनके घरकी बहू-बेटी पाँच-पाँच सौ, हजार-हजार साड़ियाँ अपने लिए रखती हैं। तो, अपने जीवनमें 'मेरा-पन' कम करना हो तो अपनी माँग कम कीजिये और अपने शरीरकी सेवाके लिए या खान-पानके लिए या अपना काम बनानेके लिए दूसरे व्यक्तियोंसे मदद लेना कम कीजिये। नौकरसे काम कम करवाइये, अपने हाथसे ज्यादा कीजिये और अपने जीवनमें ऐसी किसी वस्तुकी इच्छा मत रखिये, उपयोग मत रखिये जो अनावश्यक हो। शरीरके लिए पानी पीनेकी जरूरत है, रोटी खानेकी जरूरत है, साँस लेनेकी जरूरत है और थोड़ी-बहुत कपड़ेकी जरूरत है, सो कैसे भी पूरी हो सकती है!

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहा करते थे कि देखो, रोटी तो माँगके खा लिया करो, पानी और हवा मिल ही जाते हैं और कपड़ा यदि फटा हुआ होगा, तो जो देखेगा कोई-न-कोई दे ही देगा और शौच-लघुशङ्का स्वतन्त्र करते हैं, वैसे ही नींद भी स्वतन्त्र ले सकते हैं।

अतः माँगना नहीं चाहिए, इच्छा नहीं करनी चाहिए। यदि आप दूसरोंसे अपने काममें मदद लेना छोड़ देंगे और वस्तुओंका उपयोग अपने जीवनमें कम कर देंगे तो आपका मेरा, मेरा, मेरा कम हो जायेगा!

लेकिन, यदि यह आप नहीं कर सकें, तो इससे भी बड़ा एक उपाय है—आप इतनी बड़ी चीजको 'मेरा' मानिये कि छोटी चीजें उसके सामने तुच्छ हो जायें! आप भगवान्‌को मेरा मानिये! उनमें शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध सब हैं, अचिन्त्य कल्याण-गुण-गण हैं उनमें और उनको मेरा मान लेनेके बाद दुनियामें और किसीको मेरा माननेकी आवश्यकता नहीं रहती है। फिर तो—

मेरे तो गिरधर गोपाल (बिनु) दूसरो न कोई।

आप जरा दिलसे, गम्भीरतासे, अन्तस्थलसे इसे दोहराइये तो—'मेरे तो गिरधर गोपाल बिनु दूसरो न कोई।' आप तो काम सबसे लेते जायेंगे और जीवनमें जरूरतें बढ़ाते जायेंगे और कहेंगे कि 'मेरा-मेरा' न हो, तो ऐसे 'मेरा-मेरा' नहीं छूटता है। आप भगवान्‌को मेरा समझना प्रारम्भ कीजिये, और सबका मेरापन उनमें समर्पित हो जायेगा—

मम नाथ यदस्ति योस्म्यहम् सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किन्तु समर्पयामि ते॥

प्रभो, जिस किसी चीजको या जिस किसी व्यक्तिको मैं 'मेरा' कहता हूँ, वह मेरा नहीं है, सब तुम्हारा है! यह बिलकुल निश्चित है कि मेरा नहीं, सिर्फ तुम्हारा है और तुम्हारा ही सबपर स्वत्व है। अबतक जो 'मेरा-मेरा' कर रहा था, वह सपना देख रहा था, सो रहा था। पर, अब मैं जाग गया। अब तुम्हीं बताओ, भला क्या ऐसा है, जो मैं तुम्हें समर्पित करूँ? यानि सिर्फ भगवान्‌को 'मेरा' समझना और अन्य किसी चीज या व्यक्तिको मेरा न समझना!

एक उपाय और देखो। वह क्या है? अपनी असंगताका चिन्तन, आत्मचिन्तन। बचपनमें हम जिसके साथ 'अलिफ-बे'में पढ़ते थे, उनसे ऐसी दोस्ती थी कि सोचते थे—हम जिन्दगी भर साथ रहेंगे। फिर संस्कृत पढ़नेके लिए काशी गये, वहाँ लोगोंसे ऐसी मित्रता बनी कि जिन्दगी भर ही साथ रहेंगे और माँ-बापको छोड़नेका तो बचपनमें कोई ख्याल ही नहीं था, छूट गये!

रोज सब छूटता जा रहा है, छूटता जा रहा है। तुम्हारे पकड़े कोई भी चीज पकड़ी नहीं गयी; व्यावहारिक दृष्टिसे भी ऐसी कोई चीज तुम्हारे जीवनमें नहीं आयी, जो छूट न सकती हो, छूटी न हो और आगे न छूटे—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमयन्तं विदधति॥

चाहे दस दिन कम रहें चाहे दस दिन ज्यादा, ये जो तुम्हें बाँधनेवाले विषय हैं और जिनके साथ तुम बन्धनका अनुभव करते हो कि मैं इनके साथ बँध गया हूँ। ये संसारके विषय निश्चित रूपसे ही जायेंगे, निश्चित रूपसे ही छूटेंगे और जब छूटना ही है तब स्वयं तुम क्यों नहीं छोड़ देते? देखो, इन दोनोंमें अन्तर है। क्या? यह अन्तर है कि यदि वे तुमको छोड़कर जायेंगे, तो तुम रोओगे और यदि तुम उन्हें छोड़ दोगे तो तुम्हें रोनेका दुःख नहीं, छोड़नेका सुख मिलेगा!

अतः अपनी असङ्गताका चिन्तन करो, परमात्माको 'मेरा' समझो और संसारके विषयोंकी नश्वरताको देखो। ईश्वर की कृपासे यदि अबतक आपको संसारमें धोखा-धड़ीका अनुभव न हुआ हो तो बहुत बढ़िया! लेकिन, दो टूक बात कह देता हूँ। गृहस्थोंको अच्छी लगे कि न लगे। कोई भी अपने दिलकी पूरी बात किसी दूसरेको नहीं बताता है, न माँ बेटेको, न बेटा माँको; न पति पत्नीको, न पत्नी पतिको; न भाई बहनको, न बहन भाईको—'गृहेषु कूटधर्मेषु'—यहाँ तो बिना कपटके एक भी व्यवहार नहीं चलता, चल ही नहीं सकता।

संसारमें बड़े-से-बड़ा जो कोई भी होगा, वह मायाका बच्चा तो जरूर होगा और मायाका जरा-सा अंश तो उसमें जरूर ही लगा हुआ होगा। इसलिए, संसारकी गति, मति, रति, स्थितिको पहचानिये और उसको पहचानकर, उसे 'मेरा' मत समझिये। और भगवान्‌को पहचान-कर, उनको 'मेरा' समझिये, यही 'मेरा' छुड़ानेका उपाय है। यदि आपने संसारको समझ लिया और अपने आपको पहचानकर ब्रह्म-रूप जान लिया कि मैं तो प्रत्यगात्मा साक्षात् ब्रह्म ही हूँ, तो फिर आपके लिए परिच्छिन्न 'मैं'में अथवा दृश्य पदार्थमें 'मेरा' कहनेके लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता है।

•

: १५ :

जीव ब्रह्मकी एकता

प्रश्न—जीव और ब्रह्मकी एकता कैसे होती है और एकता होनेके बाद सुख-दुःख और पाप-पुण्य होता है क्या ? कृपया बतलायें !

उत्तर—सिर्फ माननेसे कुछ नहीं होता है। माननेसे तो सिर्फ बेवकूफी ही बढ़ती है। क्योंकि आत्मा और ब्रह्मकी एकता मान बैठेंगे तो कहेंगे कि हमको पाप-पुण्य नहीं होता, स्वर्ग-नरक नहीं होता और इस तरह जीवनमें सब तरहकी बदमाशी भर जायेगी ! इसलिए आत्मा और ब्रह्मकी एकताको कभी नहीं मानना चाहिए।

अब है बात सुख-दुःखकी। तो सुख-दुःखका प्रत्यक्ष नहीं होता है, न सुख-दुःख आँखसे दीखते हैं, न कानसे सुने जाते हैं, न जीभसे चखे जाते हैं—सुख-दुःख तो अपरोक्ष अनुभव है ! सुख-दुःख न स्वर्गमें रहता है, न नरकमें रहता है और न ही सुख-दुःख घड़ा, कपड़ा की तरह बाहर रहता है। सुख-दुःख तो अपने मनमें है। जैसे कि, जिस वस्तुमें अनुकूलताकी कल्पना हो जाती है, उसमें सुख मालूम पड़ता है और जहाँ प्रतिकूलताकी कल्पना हो जाती है, वहाँ दुःख मालूम पड़ता है।

पर, यह आत्मा-ब्रह्मकी एकता मानना सबसे अधिक खतरनाक है—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥

चोरको यदि बता दें कि तूँ ब्रह्म है, तुझे पाप-पुण्य नहीं लगता,

व्यभिचारीको बता दें कि तूँ ब्रह्म है, तुझे नरक-स्वर्ग नहीं मिलेगा, पाप-पुण्य नहीं लगेगा, तो वह अपना सत्यानाश करेगा ही, समाजका भी सत्यानाश करेगा। ये जो चार्वाकके चार गण हैं, उन्होंने लोगोंको धर्म, उपासना और योगसे विमुख करनेके लिए लोगोंको नरकमें गिरानेके लिए अयोग्य व्यक्तियोंको यह बताया कि आत्मा और ब्रह्म एक है; जबकि इसके लिए योग्यता आवश्यक है।

जबतक आप किसीके मिलनेसे, किसीको पानेसे, किसीके होनेसे सुख मानते हैं तबतक दुःख भी लगा ही रहेगा। पाँच रुपया आ गया, सुखी हो गये, पाँच रुपया चला गया दुःखी हो गये; खाने-पीनेके लिए, भोग करनेके लिए कोई बढ़िया चीज मिल गयी, सुखी हो गये, नहीं मिली दुःखी हो गये; मनोराज्य करते हैं—हमको यह मिलेगा, यह मिलेगा, यह मिलेगा ! नहीं मिला, दुःखी हो गये।

कोई आदत पड़ गयी—भाँग पीनेकी, शराब पीनेकी, अफीम खानेकी। यह अफीम खानेकी भी आदत जिनको पड़ जाती है, वे अफीमके बिना लोट-पोट होते रहते हैं। थोड़ी-सी अफीम दे दो, माने, ये जो बुरी-बुरी आदतें पड़ जाती हैं और जो पहलेसे ही आशा बना लेते हैं। लड़की सोचती है—बड़े घरमें मेरा ब्याह होगा, बढ़िया घर होगा, फर्नीचर होगा, मोटर होगी और हमारा पति बढ़िया-बढ़िया 'डायलॉग' बोलेगा ! ये सब दुःखके मूल हैं।

एक जजकी अदालतमें एक आदमी पेश किया गया। जजने उससे पूछा—'क्यों भाई, तुमने ऐसा काम क्यों किया ?' वह बोला—'मैं कोई काम अपने मनसे नहीं करता हूँ, जैसी प्रेरणा ईश्वर मुझे देता है वैसी मैं करता हूँ। ईश्वरकी आज्ञासे, ईश्वरकी प्रेरणाके अनुसार ही पत्ता-पत्ता हिलता है, हमारा शरीर हिलता-डोलता चलता है; ईश्वरकी प्रेरणासे ही मैंने यह यह काम किया !' जज स्तब्ध हो गया और अदालत सारी चुप !

एक मिनट रुककर जजने कहा—'ठीक है। जिसने तुम्हारे हृदयमें बैठकर तुमको चोरी करनेकी प्रेरणा दी, वही मेरे हृदयमें बैठकर मुझसे कह रहा है कि इसको दस वर्षकी बड़ी कैद दे दो।'

तो भाई मेरे, पहले आप अपने शरीरको चरित्रवान बनाइये। जब उसमें सच्चारित्र्य आयेगा और अच्छे-अच्छे काम करने लगेंगे, आपके मनमें अच्छे-अचछे भाव, अच्छे-अच्छे विचार आने लगेंगे तब आपके मनमें पाप-पुण्यका, स्वर्ग-नरकका और सुख-दुःखका ख्याल नहीं आवेगा और यदि आप अपने स्वरूपके अनुरूप काम नहीं करोगे और मान लोगे कि हमें पाप नहीं लगता है और हमें नरकमें नहीं जाना पड़ेगा, हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा, तो यह मानना आपके लिए बहुत मँहगा सिद्ध होगा!

इसलिए, इन मूर्खतापूर्ण मान्यताओंके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए और अपने कर्त्तव्यका पालन करना चाहिए। आप माता-पिताके पाँव छूते हैं कि नहीं? जिसने आपको शिक्षा दी, उसका आदर करते हैं कि नहीं? समाजकी सेवाके लिए कोई काम करते हैं कि नहीं और आप अपनेको पवित्र रखते हैं कि नहीं? मूल प्रश्न यह है कि पहले आपके व्यवहारमें तो एकता हो!

अभी तो आपकी धनसे एकता है, पुत्रसे एकता है, मकानसे एकता, स्त्री-पुरुषसे एकता है, चोरी-बेईमानीसे एकता है। जब इनसे एकता छूट जायेगी तब जीव और ब्रह्मकी एकता अपने आप ही हो जायेगी। पर इतने बड़े, इतने ऊँचे पदपर, जहाँ आत्मा और ब्रह्मकी एकता हो जाती है, बैठकर भी यदि आप पाप ही करेंगे और सोचेंगे कि हमको तो पाप नहीं लगता है, तो आप आत्मा और ब्रह्मकी एकताको कलंकित ही तो करेंगे!

इसलिए, यह बात आप अपने मनसे बिल्कुल निकाल दो कि आत्मा और ब्रह्मकी एकता होनेपर क्या होता है। आप पहले उसके लिए जो साधन होने चाहिए—अपने कर्त्तव्यका पालन, भगवान्‌की प्रार्थना, योगाभ्यास और सत्सङ्ग उन्हें करो और जब इनके करनेसे आपका अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा तब आपको आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान भी हो जायेगा। और उसके बाद क्या होता है, अभीसे यह सोचनेकी कोई आवश्यकता नहीं है!



: १६ :

मनोमुखीपन कैसे छूटे ?

प्रश्न—आत्माका आश्रय होनेसे शरीर दीखता है—कृपया समझायें !

उत्तर—देखोजी, किसी सिद्ध-विद्धके चक्करमें पड़ना मत। परमात्मा न भूत बरसाता है, न शहद गिराता है। यह सब देने-लेनेका काम भूत-प्रेत करते हैं, परमात्मा नहीं करता है और जो ऋद्धि-सिद्धिके चक्करमें, चमत्कारके चक्करमें पड़ जाता है, वह परमात्मासे विमुख हो जाता है।

प्रसङ्गमजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम् ॥

अर्थात् संसारमें आसक्ति अपने लिए, हमेशाके लिए, कभी न छूटनेवाला बन्धन है। पर, यदि यही आसक्ति महात्मासे हो जाये, तो यही मोक्षका खुला हुआ दरवाजा है। इसलिए संसारमें सम्बन्ध हो तो केवल सत्सङ्गका सम्बन्ध हो।

ऐसा समझो कि कोई एक आदमी है, जो केवल मोटर देखता है, उसकी मशीन नहीं देखता और दूसरा कोई आदमी है, जो उसके मालिकको, उसके ड्राइवरको देखता है, मशीन नहीं देखता और तीसरा कोई आदमी है, जो मशीनको देखता है और मोटरको, उसके ड्राइवरको नहीं देखता। यह मशीन भी एक मोटर है, बहुत-से पुर्जोंसे बनी हुई मोटर।

जो कई चीजोंको जोड़कर बनायी जाती है, वह दूसरेके लिए होती है, जैसे—बैलगाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, हवाई जहाज सब दूसरोंके

चढ़नेके लिए ही बनते हैं। इसी तरह यह शरीर भी आपका घोड़िया है, आपका खोलिया है, आपकी मोटर है, जिसपर चढ़कर आप चलते हैं। तो देखो, हाथ कभी काम नहीं करता है, तब भी आप रहते हैं; पाँव कभी काम नहीं करता तब भी आप रहते हैं; आँख काम नहीं करती है तब भी आप रहते हैं; पक्षाघात हो जाता है तब भी आप रहते हैं। आप थोड़ा विवेकपर बल दीजिये, थोड़ा विचार-शक्तिका सहारा लीजिये।

अभी तो आपने विचार-शक्ति खो दी है। आप तो न जाने किन-किनका सहारा लेते हैं—कभी देवताका सहारा लेते हैं, तो कहीं आँख बन्द कर योगका सहारा लेते हैं, तो कहीं कुछ और कहीं कुछ। पर, ये सब देहमें फँसानेवाली चीजें है। बिना विवेकके, बिना विचारके नङ्गे रहनेसे भी शरीरमें मोह बढ़ता है और बहुत कपड़े पहननेसे भी; धूलमें लोटनेसे भी मोह बढ़ता है और सिंहासनपर बैठनेसे भी। इसलिए जबतक विवेक जाग्रत नहीं होगा, फँसाव बना ही रहेगा।

विवेक माने बीनना, दो चीजें एकमें मिल गयीं हो तो उनको अलग-अलग करना, बालूमें सोनेके कण मिल गये हों तो उनको अलग करना। यह जो देहसे आप मिल गये हैं, इससे अपनेको अलग करनेके लिए विवेककी, विचारकी आवश्यकता होती है और वह मिलता है—विवेकी पुरुषोंके सङ्गसे। इसलिए, जबतक आप विवेकी पुरुषोंका, विचारवान पुरुषोंका सङ्ग नहीं करेंगे तबतक आप चाहे तपस्या करें, चाहे पूजा करें, चाहे आँख बन्द करें, चाहे प्राणायाम करें, विचारका उदय नहीं होगा, विवेक नहीं जागेगा!

कल ही एक सज्जन पूछ रहे थे कि जब कोई झूठ बोलनेके लिए कहता है तो अन्तरात्मा उसको स्वीकार नहीं करती है। तो ऐसा क्यों होता है? ऐसा यों होता है कि हम सत्य हैं और हमारे सत्य-स्वरूपके अनुरूप जो होगा उसीको आत्मा स्वीकार करेगी और जो हमारी आत्माके प्रतिकूल होगा, उसको आत्मा स्वीकार नहीं करेगी। आत्मा तितिक्षु है। उसको कोई कर्त्ता कहे, भोक्ता कहे, पापी कहे, पुण्यात्मा कहे—वह कुछ बोलती नहीं है, सब सह लेती है। इसलिए तितिक्षाका एक नाम सद्गुण होता है। आत्मा किसीको भी, पापी-से-पापीको भी

नहीं छोड़ती है, उसकी आत्माके रूपमें भी रहती है। इसलिए आत्माको 'कारुणिक' भी कहते हैं।

तो नारायण, आप अपने जीवनके व्यवहारमें विवेकको, विचारको स्थान दीजिये और इसके विचारवानोंका सङ्ग कीजिये। इससे यह होगा कि देहमें जो आपकी आसक्ति है और आपकी दृष्टि जो बारम्बार देहपर जाती है, वह एक दिनमें तो नहीं, पर धीरे-धीरे छूट जायेगी। दूसरी बात मनोमुखी मत रहिये। माने, जो अपने मनको पसन्द आये वही करना, जो अपने मनको पसन्द आये वही बोलना, मन्त्र भी वही जपना जो अपने मनको पसन्द हो, देवता भी वही मानना जो अपने मनको पसन्द हो, काम भी वही करना जो अपने मनको पसन्द हो। इससे तो आपका मन और पहलवान हो जायेगा और एक दिन आपको उठाकर कहीं-न-कहीं पटक देगा, पछाड़ देगा। इसलिए आदमीको मनोमुखी नहीं होना चाहिए।

कल मैं सुना रहा था कि रामजीने वसिष्ठजीसे कहा—'महाराज, दो दिनसे सब लोग भूखे रहे और आज भी दिन ढल गया है अबतक किसीने पानी भी नहीं पीया है। तो देखो, रामजीने बात आधी कही, लोग दो दिनसे भूखे-प्यासे हैं—समस्या तो सामने रख दी, पर अपनी ओरसे सुझाव नहीं दिया कि आप आज्ञा कर दीजिये कि सब लोग खायें-पीयें। और देखिये! सुमित्राजी कौसल्याजीकी ओर देखती हैं। कौसल्याजी चित्रकूटमें मिथिलाकी रानीसे बात कर रही हैं; पर वे यह नहीं कहतीं हैं कि बहुत देर हो गयी है। वे कहती हैं कि दो घड़ी रात बीत चुकी है। तो यह सब सद्भावकी बात होती है, बोलनेकी रीति होती है।

अतः, दूसरेपर अपने विचार मत लादो; अपने मनको जीवनमें प्रधान मत बनाओ; मनको आज्ञाकारी बनाओ; अपनेको दूसरेसे बड़ा मत समझो, बल्कि जिससे भी व्यवहार करो, अपनेसे बड़ा समझकर करो। हमारी शिष्टता बहुत उच्चकोटिकी है। यदि वह हमारे जीवनमें आ जाये तो, देहसे जो हमारा मोह है, वह छूट जाय—सत्सङ्ग करो! सत्सङ्ग करो! सत्सङ्गके बिना मनोमुखीपना नहीं छूटेगा और मनोमुखीपना नहीं छूटेगा तो देहसे मोह भी नहीं छूटेगा।

•

: १७ :

राम-नामसे फायदा

प्रश्न : सुना है कि एक बार रामका नाम लेनेसे भौतिक जगत्‌से तर जाते हैं। तो अभी जो हम रामका नाम ले रहे हैं, इसमें हमें क्या मिलेगा ?

उत्तर : देखो, एक बारकी बात है—मैं वृन्दावनके 'परमहंस आश्रम'में रहता था। श्रीहाथी बाबाजी महाराज भी तब थे और उन दिनोंके बड़े वयोवृद्ध महात्मा जाने जाते थे। कभी-कभी वे भी परमहंस आश्रममें आते, मेरे पास बैठते। एक बार जब वे बैठे हुए थे, तभी एक और सज्जन वहाँ आकर बैठ गये और उन्होंने मुझसे पूछा—स्वामीजी, राम-नामसे के फायदो हांसी ? माने राम-नाम लेनेसे क्या फायदा होता है ? मैं तो चुप रहा, पर हाथीबाबा मुझसे बोले—यह कोई बानिया मालूम पड़ता है, इसको केवल फायदा-ही-फायदा सूझता है।

तो, क्या हमारा जीवन इतना लोभ-ग्रस्त हो गया है कि बिना किसी फायदेके हम भगवान्‌का नाम भी लेना नहीं चाहते हैं ? क्या निष्कामता मर गयी ? इसका मतलब है कि आप किसीकी पूजा, किसीका आदर, किसीकी सेवा यहाँतक कि भगवान्‌का नाम भी निष्काम भावसे नहीं ले सकते। अरे भाई, वह अपने भगवान्‌का नाम है, महत्त्वपूर्ण है, अपना उपास्य है, अपना प्यारा है, उसको लेते रहना चाहिए; बल्कि वह तो स्वतः याद जीभपर रहना चाहिए। हमको अपने बचपनकी याद है—जब भी हमारे हाथमें कागज-कलम आये, मैं उसपर बेमतलब काशी, काशी, काशी, काशी, काशी लिख देता। तो, जिससे अपना प्रेम होता है उसका नाम जीभपर अपने आप आता है, उसके लिए कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। आप हैं कि अपने प्यारेके नामको, अपने गुरुके नामको, अपने भगवान्‌के नामको बेच-बेचकर फायदा उठाना चाहते हैं कि इससे हमको यह मिलेगा, यह मिलेगा, यह मिलेगा। किसी फायदेके लिए उसका नाम नहीं लिया जाता; ऐसा कभी सोचना ही नहीं चाहिए।

वृन्दावनके अपने आश्रममें पहले एक नाटक-मण्डली रहती थी। दो पंजाबी भाई थे। एक भगवान्‌का बड़ा भक्त था, खूब भगवान्‌का

नाम लेता और दूसरेके मनमें भगवान्‌के नामके प्रति जरा भी श्रद्धा नहीं थी। पहलेके मनमें हमेशा यह रहता कि हमारा भाई भी किसी तरहसे भगवान्‌का नाम लेने लग जाये! एक दिन एक पंजाबी महात्मा उसके घर आये, बड़े लम्बे, पेशावरी कदके। उसने उनसे प्रार्थना की—'महाराज, कुछ ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा भाई भी भगवान्‌का नाम लेने लगे।' महात्मा कुछ बोले नहीं। इसके बाद कई बार वे उसके घर गये, पर दूसरा भाई तो कभी मिलता ही नहीं। इनके आनेके पहले ही चला जाता। एक दिन दरवाजेके पास वह महात्माकी पकड़में आगया। महात्मा बोले—'बोल राम!' बोला—'नहीं बोलूँगा।' फिर बोले—'बोल राम!' मैं नहीं बोलूँगा। महात्मा तगड़े थे। उन्होंने उसका हाथ पकड़ा और उठाकर धरतीपर पटक दिया और छातीपर चढ़ बैठे—'बोल भगवान्‌का नाम। बोल राम!' नीचे गिरनेसे वह कमजोर पड़ गया और घबड़ा गया और घबड़ाहटमें ही उसने कहा—'मैं नहीं लूँगा रामका नाम। महात्माने कहा—'बस, बस, बस। अब मेरा काम हो गया। तुमने रामका नाम ले लिया!'

महात्माने फिर उससे कहा—'मेरी एक बात याद रखना। किसी भी कीमतपर इसको बेचना मत!' महात्मा चले गये। कुछ दिनों बाद वह मर गया। मर गया तो यमराजके दरबारमें पेश किया गया। चित्रगुप्तजीने यमराजको उसका बहीखाता देखकर बताया कि इसने कभी अपनी जिन्दगीमें कोई अच्छा काम नहीं किया है। बस, एक बार इसने कहा था कि मैं नहीं लूँगा 'राम'का नाम। और यही एक पुण्य इसके जीवनमें है। यमराजने बुलाया उसको और पूछा कि तुम एक राम-नामके बदलेमें क्या चाहते हो? तुरन्त उसको महात्माकी कही बात याद आ गयी। किसी भी कीमतपर राम-नामको बेचना मत। वह बोला—'मुझको तो मालूम नहीं है कि राम नामकी क्या कीमत है, इससे क्या मिलता है! इसलिए जो कुछ भी मिलता है, सो आप दे दीजिये!'

यमराजके पोथी-पन्ने खोले गये, पर उनमें तो कुछ लिखा हुआ ही नहीं था कि एक रामके बदलेमें क्या मिलना चाहिए। वे बोले—चलो, इन्द्रके पास चलें, वे हमारे मालिक हैं, वे बता देंगे। गये इन्द्रके पास। इन्द्रसे भी कुछ पता नहीं चला। तो बोले—चलो ब्रह्माजीके पास, वे कुछ बता देंगे। गये उसको लेकर ब्रह्माजीके पास। पर, उनके

भी वेद-पुराणमें एक राम-नामकी कोई कीमत नहीं लिखी थी। उन्होंने कहा, शङ्करजी नाम लेते रहते हैं, उनको पता होगा। चलो, उनके पास चलें। तो, यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा सब उसको लेकर शङ्करजीके पास गये। शङ्करजीने कहा—'बाबा, मैं तो रामका नाम लेता हूँ, उससे मिलता क्या है, यह तो कभी मैंने सोचा ही नहीं, बल्कि कभी यह खयाल ही मेरे मनमें नहीं पैदा हुआ। चलो विष्णु भगवान्से ही पूछें। अब जब विष्णु भगवान्के पास जानेकी बात हुई तब उस आदमीने कहा कि तुमलोग मुझे बहुत परेशान कर रहे हो। यमलोक ले गये, इन्द्रलोक ले गये, ब्रह्मलोक ले गये, शिवलोक ले आये। अब मैं कहीं नहीं चलूँगा।

अब उसकी 'नहीं चलूँगा' सुनकर उनलोगोंने एक पालकी जोड़ी और उसपर उसको बैठाया और यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा और शङ्कर चारों उसे कन्धा देकर ले चले बैकुण्ठमें। विष्णु भगवान्ने देखा—यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा, शङ्कर चारों देवता किसीको कन्धा देकर उठाये लिये आ रहे हैं, तो कोई मामूली आदमी तो होगा नहीं, जरूर ही कोई खास आदमी होगा। तो झट उन्होंने लक्ष्मीजीको अलग किया और अपनी शेष-शैय्यासे उठकर खड़े हो गये। उसको पालकीपरसे उतारा और उतारकर उसको अपने गलेसे लगा लिया। फिर प्रश्न उठा—'एक राम-नामके बदले इसको क्या मिलना चाहिए ?' भगवान् विष्णु बोले—'देखो, मैं इसको मिल गया। अब और जो इसे चाहिए, वह इसको दे दो। असलमें, इससे बड़ी तो और कोई चीज है ही नहीं।'

भगवान्के नामके साथ जो हेतु और फल-भाव है कि यह कहनेसे यह मिलेगा, यह कहनेसे यह मिलेगा, यह बिल्कुल संसारी लोगोंकी मान्यता है। भगवान्का नाम इतना प्यारा, इतना प्यारा; अमृतका भी अमृत है! पण्डितराज जगन्नाथने कहा है—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं च पीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाऽधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

ओ मेरे प्यारे जीव, मुझे यह बताओ कि तुमने बहुत-से अंगूर खाये हैं, मिश्री खायी है, बहुत दूध पीया है, कई बार स्वर्गमें जाकर अमृत

और रम्भाधरका भी पान किया है। पर, क्या इतनी मिठास; इतनी मधुरता जो कृष्ण, कृष्ण, कृ····ष····ण—नामके उच्चारणमें है, वह क्या तुम्हें कहीं मिली है ?

और देखो, श्रीरूप गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये,
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं,
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥

यह दो अक्षरका 'कृष्ण' नाम मुखमें आकर जब ताण्डव नृत्य करने लगता है—कृष्ण, कृ···ष्ण, कृ···ष्ण तब मन होता है कि एक जीभ न होती, एक मुँह न होता ! पंक्ति-की-पंक्ति जीभकी होती, मुँहकी होती, जिससे अधिक-से-अधिक कृष्ण नामका उच्चारण करता। जब भगवान्‌का नाम कानमें आता है, तब इच्छा होती है कि अरबों कान हो जायें और उनसे भगवान्‌का नाम सुनें। जब वह गलेके मार्गसे हृदयमें उतरता है तो सारी इन्द्रियाँ अपनी जगह छोड़ देती हैं। कान बाहरका सुनना नहीं चाहते हैं, भीतर भगवान्‌का नाम सुनना चाहते हैं; जीभ बाहर बोलन नहीं चाहती, भीतर ही भगवान्‌के नामका उच्चारण होने लगता है; आँख बाहर नहीं देखना चाहतीं; नाक बाहर नहीं सूँघना चाहती और त्वचा भी बाहर नहीं छूना चाहती। सब इन्द्रियाँ सिमटकर अन्तर्मुख हो जाती हैं और भगवान्‌के नाममें जो स्वर है, जो स्पर्श है, जो रूप है, जो रस है, जो सुगन्ध है। उसका आस्वादन करने लगती हैं। पता नहीं भगवान्‌के नाममें कितना अमृत भरा हुआ है।

तो, भाई मेरे यह तो जैसे कभी पित्त रोग हो जाता है, तो जीभपर मीठी चीज डालनेपर भी उसका पता नहीं चलता है कि मीठी है, वैसे ही हमारे मनपर, हमारी बुद्धिमें संसारकी इतनी वासना भर गयी है कि भगवान्‌के नामकी मिठास मालूम नहीं पड़ती। और, जैसे पित्त रोगकी दवा यही है कि बारम्बार मिश्री खाओ, बारम्बार शक्कर खाओ तो पित्त शान्त हो जाता है और धीरे-धीरे उसकी मिठास मालूम पड़ने लगती है, वैसे ही आप बारम्बार भगवान्‌का नाम लीजिये, आपके मनकी वासना मिटेगी और आपको उसकी मिठास भी मालूम पड़ने लगेगी।

यह जो भोगकी वासना है, संसारकी वासना है, राजनीतिकी वासना है। इनसे मन लगा होनेके कारण भगवान्‌के नामका स्वाद नहीं आता है। जिसको भगवान्‌के नामका स्वाद आजाता है, उसको फिर इसमें हमको क्या मिलेगा ? इसकी याद ही नहीं आती है। आपने सुना होगा—परमहंस रामकृष्णके गलेमें कैन्सर हो गया था। लोग उनसे कहते—महाशय, जब आप माँके पास जाते हैं तब उनसे कहिये कि आपका रोग अच्छा कर दें ! परमहंसजीने कहा, अच्छा कहूँगा। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन हो गये। भक्तोंने फिर उनसे पूछा—'कहा आपने माँसे ?' बोले—'जब मैं माँके सामने जाता हूँ तब मुझे अपना शरीर, अपना गला, अपना रोग कुछ भी याद नहीं आता है।'

आप किसी फायदेके लिए भगवान्‌का नाम मत लीजिये। भगवान्‌के नाममें जो मिठास है, जो रस है उसका आस्वादन कीजिये—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं कदा वपुस्तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

वह दिन हमारे जीवनमें कब आयेगा ? जब आँखोंसे झर-झर आँसू गिरेंगे, वाणी गद्‌गद हो जायेगी, शरीरमें रोमाञ्च हो जायेगा और हमारे मुँहसे भगवान्‌का नाम निकलता रहेगा !

अब रही बात यह कि भगवान्‌के नाम लेनेसे फायदा ही पूछना है तो आप जानते ही हैं कि रसगुल्ला खाओ या कि रसमलाई खाओ और मुँहमें डालनेके बाद थूँकना चाहो तो भी उसका थोड़ा-सा रस तो गलेके नीचे जाता ही है, वैसे ही भगवान्‌का नाम है। वह आपको किसी-न-किसी तरहका रस, तृप्ति देता ही है और फिर यह तो स्पष्ट ही है कि जितनी देरतक आप भगवान्‌का नाम लेते हैं, उतनी देरतक किसीको गाली नहीं देते हैं, किसीकी निन्दा नहीं करते हैं, संसारकी चर्चा नहीं करते हैं। स्पष्ट लाभ तो है उसका। यदि भगवान्‌का नाम आप लेंगे तो आपका अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आपका जीवन भगवान्‌की सेवामें लगेगा; आपका दुःख मिटेगा; आपकी वासना मिटेगी; आपका अहंकार मिटेगा, आपका अज्ञान मिटेगा; आप बन्धनसे मुक्त हो जायेंगे और आपको भगवत्-प्राप्ति होगी। आप और क्या चाहते हैं ? •

: १८ :

स्त्रियोंके लिए

प्रश्न : महाराजजी, आप कहते हैं कि अपने नियम व आचार-विचारमें साधकको दृढ़ रहना चाहिए, पर गृहस्थीकी इतनी जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ती हैं कि कई बार तो रातमें भी देरतक जगना पड़ता है। इस वजहसे और घरके लोग भी अनुकूल नहीं होनेसे दो-तीन घण्टेके पूजा-पाठ सब छूट जाते हैं और मासिक-धर्मके समय भी सब काम करना, रसोई भी पकाना पड़ता है, इससे आचार-विचार भी खत्म हो जाते हैं। कृपया आप मार्गदर्शन करें कि ऐसेमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर : आपने पहली गलती तो यह की कि पूजा-पाठको अपने व्यवहारसे बिलकुल अलग कर दिया। पूजा-पाठ और व्यवहार, ये दोनों अलग-अलग नहीं होने चाहिए। देखो, धर्मका यह नियम है कि माता-पिताकी आज्ञासे जो काम करेंगे, उसमें दुःखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, माता भी देवता है और पिता भी देवता है और आज्ञा-पालनसे बढ़कर और कोई सेवा नहीं है।

आपके पुत्रकी सेवा भी भगवत्-सेवा है और पतिकी सेवा भी भगवत्-सेवा है। आपका भाव होना चाहिए घरको साफ करना है, घरमें भगवान् आयेंगे; भोजन बनाना है, आज घरमें भगवान् भोग लगायेंगे। आप कभी गन्दा कपड़ा मत पहनिये, गन्दा मत रहिये, हमेशा शृङ्गारमें रहिये—

स्वयं च मण्डिताः नित्यम्।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि स्त्री घरमें दिन भर शृङ्गारमें रहे, रात भर शृङ्गारमें रहे। यह नहीं कि जब शहरमें जाये तब बेहया होकर निकले और लोगोंको अपना शृङ्गार दिखाये, लोगोंकी नजर अपनी ओर खींचे और घरमें अपने पतिदेवके सामने जैसे-तैसे रहे।

असलमें तो गृहणीके लिए उसका घर ही यज्ञशाला है, उसमें जो वह स्वच्छता रखती है, वह उसकी सेवा है; जो अग्नि प्रज्वलित करके रसोई बनाती है, वह उसका अग्निहोत्र है। यह बात हमारे शास्त्रोंमें एक बार नहीं, अनेक बार कही गयी है कि बाहर अग्निहोत्र करनेसे जो पुण्य होता है वह घरमें अग्नि प्रज्वलित करके भोजन बनानेसे और पति-पुत्रकी सेवा करनेसे होता है—

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।

विवाहकी जो विधि है वह यज्ञोपवीत संस्कार है; पतिसेवा जो है वह गुरुकुलमें रहना है और घरमें अग्नि प्रज्वलित करना अग्निहोत्र है! इसलिए आपके मनमें जो यह संस्कार पड़ गया है कि भक्तिके लिए यह करना चाहिए, वह करना चाहिए, यही आपको दुःख देता है! आप पूजाके लिए समय नहीं निकाल पातीं। अपने सोनेका समय घण्टा-भर कम कर दीजिये! पूजाके लिए समय निकल आयेगा। आप पड़ोसिनसे बात करती हैं, वह जरा कम कर दीजिये, पूजाके लिए समय निकल आयेगा। क्या आप अठारह घण्टा काममें जुटी रहती हैं? यह बात नहीं है।

और रही बात यह कि घरके लोग अनुकूल नहीं हैं, तो यह आपकी कमजोरी है। सबसे प्रेम रखकर, जिद्द करके नहीं, झगड़ा करके भी नहीं, सद्भाव रखकर सबको अपने अनुकूल बना लीजिये!

मासिक-धर्मके सम्बन्धमें आपके मनमें जो संस्कार है, जो भावना है, वह है तो बिल्कुल ठीक। देखो, हम आपको एक घरकी बात बताते हैं—उनके घरमें लोग दिखाते हैं कि चार आदमी मिलकर किसी भी आदमीको सिर्फ हाथकी उँगली लगाकर उठा लेते हैं। हमको भी उठा लेते हैं। तो एककी उँगली लगती है एक घुटनेके नीचे, दूसरेकी उँगली लगती है दूसरे घुटनेके नीचे, तीसरेकी उँगली लगती है एक काँखके नीचे और चौथेकी उँगली लगती है दूसरी काँखके नीचे और उठाकर बिलकुल ऊपर कर देते हैं। इसमें कोई जादूगरी नहीं है और कोई मन्त्र भी नहीं है, लेकिन यदि उसमें कोई रजस्वला स्त्री आकर हाथ लगा देती है तो वह आदमी नहीं उठता है। वैसे स्त्रियाँ भी उठाती हैं, पर रजस्वला स्त्रीके स्पर्श करनेसे वह नहीं उठता।

सूर्यके प्रभावसे बुद्धि बढ़ती है और चन्द्रमाके प्रभावसे शरीरमें-से रक्तस्राव होता है और यह प्राकृत है! स्त्रीके रक्तस्राव न हो तो गर्भ-

धारण भी न हो; सन्तानकी उत्पत्ति भी न हो, वंश-वृद्धि भी न हो। अतः यह जो स्त्रीके शरीरमें प्रकृतिकी देन है, उसका आदर करना चाहिए। जैसे, आफिसमें जानेवाले आदमी महीनेमें चार रविवारकी या शुक्रवारकी या मङ्गलवारकी छुट्टी मना लेते हैं, अर्थात् पुरुष लोग तो अपने लिए छुट्टीका समय निकाल लेते हैं, लेकिन घरोंमें स्त्रियोंको अवकाश नहीं मिलता है, तो उनको भी अवकाशका समय देना चाहिए। इसलिए प्रकृतिने चार दिनकी छुट्टी कर दी। इसमें यह भी एक बात है कि भगवान्‌की पूजासे भी अवकाश दे देते हैं कि चार दिन, रजोधर्मके समयमें भगवान्‌की पूजा मत करो, पुस्तक लेकर पाठ भी मत करो, माला लेकर जप भी मत करो, बस मानसिक जो करना हो सो कर लिया करो।

इस तरह, अपने यहाँ तो रजोधर्मका बहुत आदर किया गया है और पारसियोंमें भी इसकी बड़ी-भारी मान्यता है। हमको अपने बचपनकी याद है। हमारी माँ जब मासिक-धर्ममें होतीं तो रेशमी साड़ी पहनकर अलग कम्बलपर बैठी रहतीं और उन्हें अलग ही मिट्टीके बर्तनमें या पत्तलपर खाना दिया जाता और हम जो कि उस समय पाँच-छह या सात वर्षके रहे होंगे, हमें उनको छूने नहीं दिया जाता। अतः यह मान्यता जो है, यह प्रकृतिके अनुसार है। ये दिन स्त्रियोंके परिश्रम करनेके नहीं होते हैं, आराम करनेके होते हैं। और कहो कि स्त्री-पुरुष सब समान हैं, तो बँटवारा कर लो। आधे पुरुष बच्चे पैदा किया करें और आधी स्त्रियाँ बच्चा पैदा किया करें।

आप प्रधान-मन्त्री हो सकते हैं, राष्ट्रपति हो सकते हैं, बड़े-से-बड़े ओहदेपर जा सकते हैं, लेकिन यह जो ईश्वरका किया हुआ, प्रकृतिका किया हुआ भेद है—सौर-शक्ति प्रधान-पुरुष और चान्द्र-शक्ति प्रधान-स्त्री। आह्लाद और चाँदनी देनेके लिए स्त्री और प्रकाश और तापके देनेके लिए पुरुष होता है। यह स्त्री-पुरुषके शरीरको गौरसे देखनेसे प्रत्यक्ष देखनेको मिलेगा। इसलिए, हमारी तो राय यह है कि जो मासिक-धर्म है, इसमें तो घरके लोगोंको मना करके चार दिनको छुट्टी परिवारसे ले लेनी चाहिए और कोई श्रमका काम नहीं करना चाहिए।

चिढ़ना, कुढ़ना क्यों ?

प्रश्न : दिनभर मन छोटी-छोटी बातोंसे चिढ़ता, कुढ़ता और दुःखी होता रहता है। कृपया मनको प्रसन्न रखनेकी युक्ति बतलाइये !

उत्तर : ऐसा है कि आप अपने मनको बड़ी वस्तुमें नहीं लगाते हैं, इसलिए वह छोटी-छोटी बातोंसे खुश भी होता है और कुढ़ता-चिढ़ता भी है। देखो, जिसको करोड़ रुपयोंकी आमदनी करनी होती है, वह लाख रुपयेको पानीकी तरह फेंक देता है, दस लाखको भी फेंक देता है, क्योंकि उसे करोड़ रुपये पाने हैं। इसी तरह जिसको संसारमें कोई महत्त्वपूर्ण काम करना है, कोई बड़ी वस्तु प्राप्त करनी है, वह जबतक इन छोटी वस्तुओंको नहीं छोड़ेगा तबतक उसको बड़ी वस्तु मिलेगी ही नहीं।

अतः आप अपने लक्ष्यको बड़ा बनाइये ! यदि आपने अपना कोई बड़ा लक्ष्य बनाया होता तो आपका मन छोटी-छोटी बातोंमें चिढ़ता और कुढ़ता नहीं। यदि सबसे बड़ा लक्ष्य है तो चाहे उसका अस्तित्व सिद्ध हो, चाहे न हो, इस बातपर भी जोर देनेकी आवश्यकता नहीं है, हमारे मनमें इतनी शक्ति है कि होगा तो हमें मिलेगा ही और नहीं होगा तो हम बना लेंगे। बस, अपना उद्देश्य बड़े-से-बड़े होना चाहिए, छोटा नहीं होना चाहिए।

एक बात और है। यदि आप पूरे परिवारको एकमें रखना चाहते हैं तो एक व्यक्तिके व्यवहारसे चिढ़िये मत, कुढ़िये मत ! यदि आप पूरे राष्ट्रका हित चाहते हैं तो प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता, पार्टी-बन्दी, इनके चक्करमें मत पड़िये; नहीं तो आपके मनमें वैमनस्य, संघर्ष और युद्धकी सृष्टि होगी !

इसलिए, अपना लक्ष्य होना चाहिए—सम्पूर्ण विश्वका हित, मानवताका हित, जैसा कि महात्मा गाँधीका था। आप अपने लक्ष्यको बड़ा कीजिये, तब आप भी छोटी-छोटी बातोंसे चिढ़ेंगे नहीं, कुढ़ेंगे नहीं और उनकी उपेक्षा स्वयं हो जायेगी !!

•

: २० :

वर्षगाँठ : एक ग्रन्थि

प्रश्न : वर्षगाँठके दिन मनुष्यकों क्या करना चाहिए ?

उत्तर : इसके दो विभाग हैं। पहला, यह कि जो पिछला वर्ष बीता उसमें हमसे काम करनेमें क्या-क्या गलती हुई। एक बार पीछे नजर घुमाकर उसका सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। देख लेना चाहिए कि हमने काम-वश होकर क्या किया, क्रोध-वश होकर क्या किया, लोभ-वश होकर क्या किया और किसके कारण हम भगवान्‌के स्मरणसे, चिन्तनसे, वञ्चित रह गये। यह सब देख-सोचकर सावधान हो जाना चाहिए और दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि अब जीवनमें वैसी गलतो नहीं करेंगे।

इसका दूसरा विभाग यह है कि आप अगले सालके लिए एक योजना, एक सङ्कल्प कर लीजिये कि अगले वर्षमें हम इन-इन कर्मोंका अनुष्ठान करेंगे, इन-इन नियमोंका पालन करेंगे और अपनी भावनाको ऐसी रखने-का, बनानेका प्रयास करेंगे।

आप पिछले वर्ष और अगले वर्ष, दोनोंके बीचमें खड़े होकर, पिछलेमें जो गल्तियाँ हुई हैं, उनको एक बार याद कर लीजिये। आपने जो अच्छाइयाँ की हैं, उनको याद करनेकी कोई जरूरत नहीं है। हाँ, आपके साथ किसीने कोई अच्छा बर्ताव किया हो तो उसको स्मरण कर लीजिये और यदि किसीने बुरा बर्ताब किया हो तो उसको भूल जाइये और आपने किसीके साथ बुरा बर्ताव किया हो तो उसको याद करके पश्चा-त्ताप कीजिये और फिर वैसा बिलकुल मत कीजिये। अगले वर्षमें आपको

कितना दान करना है, कितना व्रत करना है, कितनी सेवा करनी है—यह निश्चय कर लीजिये !

यह वर्षगाँठ एक ग्रन्थि है। इसके दो हिस्से हैं। एक भूत और एक भविष्य। दोनोंको ठीक करनेके लिए बीचमें यह सन्धिरूप भगवान् आते हैं। इससे आप अपने भूत और भविष्य दोनोंको सुधारिये, सँवारिये ! वैसे सबसे बढ़िया बात तो यह है कि भूत-भविष्यकी याद न कर आप अपने मनको भगवान्के स्मरणमें, जपमें, ध्यानमें, कीर्तनमें, लगायें ! एक दिनमें १४४० मिनट होते हैं। उनमें-से १५ मिनट, १० मिनट भगवान्के लिए सुरक्षित रख दीजिये और उसमें कोई दूसरा काम मत कीजिये। उसमें भगवान्से हाथ मिलाइये और जरा जोरसे मिलाइये; क्योंकि भगवान्को हाथ जरा जोरसे मिलाना पसन्द है। इस बातका उल्लेख वाल्मीकि रामायणमें आता है कि भगवान् राम जब सुग्रीवसे हाथ मिलाते हैं तब जोरसे मिलाते हैं, आपीड़ित कर देते हैं उसको। तो आप जरा जोरसे हाथ मिलाइये और देखिये, भगवान्ने आपका दाहिना हाथ पकड़कर जोरसे दबा दिया और यदि आप चाहें तो थोड़ी देर हाय-हाय कर लो ! आपपर दिन भर उसका नशा छाया रहेगा।

इस तरह हम रोज भगवान्से हाथ मिला लिया करें; किसी औरसे हमारी प्रीति न हो; किसीको हम धोखा न दें; चोरी-बेईमानीका धन हमारे घरमें न आये और जिस कामसे हमारे मालिक, हमारे प्रभु, हमारे गुरुदेव प्रसन्न होते हों, वह काम हमारे जीवनमें हो।

एक बात आपको और बताता हूँ। हमको श्रीउड़िया बाबाजी महाराजने कहा था कि रोज कमरा बन्द कर पाँच मिनट भगवान्का नाम लेकर नाच लिया करो। इससे तुम्हारे जीवनका सोता हुआ आनन्द जग जायेगा। नृत्य ज्ञानकी थिरकन है, प्रेमकी रस-धारा है, भक्तिकी गंगा है, भावका समुद्र है। आप भी जब भगवान्के नामका संकीर्तन करके नृत्य करेंगे, तब आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा और भगवान्को भी जरूर हँसी आजायेगी या हो सकता है—वे स्वयं आकर आपके साथ नाचने ही लग जायें, तब तो फिर पूछना ही क्या है ?

•

: २१ :

विवाहकी आवश्यकता

प्रश्न : भगवान् शिव तो कल्याणकारी हैं, उनको विवाह आदिके चक्करमें पड़नेकी क्या आवश्यकता थी; जो उन्होंने पहले सतीसे और फिर पार्वतीसे विवाह किया ? यह तो बन्धनमें पड़ना है, बन्धनसे छूटना नहीं है। कृपया इसपर प्रकाश डालें !

उत्तर : देखो भाई, जिसको काम करना होता है ना, उसको शक्तिकी आवश्यकता होती है। पतिके लिए पत्नी शक्ति होती है। आप खूब कमाकर लाइये, कमाना आपका काम है। पर, घर सम्हालनेके लिए आपको एक शक्तिकी आवश्यकता रहेगी और वह भी विश्वसनीय और आपकी गोपनीय बातोंको गुप्त रखनेवाली। मन्त्रिमण्डलमें तो गोपनीयताकी शपथ लेनी पड़ती है। पर, घरमें पतिके लिए बिना शपथ लिये ही एक विश्वनीय और गोपनीय मूर्तिशक्ति (स्त्री) होती है। पत्नी ऐसी होनी चाहिए कि जो बात अपने सास-ससुरसे बताने लायक न हो, ननद-देवरसे भी बताने लायक न हो, उसको केवल अपने पति और अपने तक ही सीमित रखे। पुरुषके पौरुषको भी पत्नी ही जागृत करती है।

आप जानते ही हैं कि ब्रह्माने भी ब्याह किया, विष्णुने भी ब्याह किया और शिवने भी ब्याह किया। इन सबने ब्याह किया, क्योंकि इनको काम करना था। ब्रह्माको बच्चे पैदा करने थे, सृष्टि बढ़ानी थी;

विष्णुको सबका पालन करना था, लक्ष्मी रखनी थी; और शिवको तारकासुरको मारना था, संहार करना था। इसलिए इन सबोंको शक्तिकी आवश्यकता थी। जिसको काम करना होता है, उसको ही शक्तिकी, ब्याहकी आवश्यकता होती है और जिसको कोई काम करना नहीं होता, उसको शक्तिकी आवश्यकता भी नहीं होती और वह ब्याह भी नहीं करता—जैसे, ब्रह्म शादी नहीं करता—यह बात आपको मालूम है ना! पर, परमात्मा जिसको सृष्टि, स्थिति, संहार करना है, वह तो शादीशुदा ही होगा!

विवाह इसलिए भी किया जाता है कि हमें सन्तान चाहिए, ताकि हमारी वंश-परम्पराका विच्छेद न हो जाये; हमारी संस्कृतिका विच्छेद न हो जाये और पिण्ड-दानका विच्छेद न हो जाये। ये इसकी धार्मिक आवश्यकताएँ हैं। साथ ही हमारी काम-वासना विच्छिन्न न हो, बिखर न जाये और हम शक्तिशाली बने रहें। हम चाहते हैं कि हमारा कोई सलाहकार हो। दो तरहके सलाहकार देखनेमें आते हैं—एक होते हैं, गुरुके समान और राजाके समान आदेश देनेवाले और एक होते हैं मित्रके समान बराबरीसे समझानेवाले। पर, पत्नी इन दोनोंसे विलक्षण होती है। वह बड़े प्रेमसे, बड़ी प्रियतासे, पतिके स्वार्थके साथ अपने स्वार्थको मिलाकर, उसके सुखके साथ अपने सुखको मिलाकर, कोमल-कान्त पदावलीमें अपने पतिको सलाह देती है; क्योंकि दोनोंका सुख, दोनोंका हित एकमें जुड़ा रहता है। इसलिए, यदि आपको दुनियामें कोई काम करना है, शक्तिशाली होना है तो स्त्रीका सहयोग अवश्य चाहिए और इसीलिए ब्याह किया जाता है। एक बात और कह देता हूँ, आप कटाक्ष मत समझना। यह जो साधु लोग भी दुनियामें देश-विदेशमें घूम-घूमकर प्रचार करते हैं, इनको भी अपनी विश्वसनीयताके लिए स्त्रियोंकी जरूरत पड़ती है और वे भी जहाँ-तहाँसे लेकर चेली रख लेते हैं और अन्तमें वे कितना धोखा देती हैं, यह आप जानते ही होंगे!

स्त्री-शक्तिको आप पुरुष-शक्तिसे कम न समझें। पुरुषके द्वारा जो काम नहीं हो सकता, वह स्त्रियोंके द्वारा सम्पन्न हो सकता है। पुरुष त्याग कर सकता है और स्त्री तपस्या कर सकती है। आपको यदि कुछ धनका संग्रह करना हो, तो आप क्या पड़ोसीके घरमें रखकर आयेंगे? यदि आपके ऊपर कोई दुःख होगा, कोई संकट होगा, कोई घबड़ाहट

होगी, तो क्या आप किसी पड़ोसीको बताने जायेंगे ? अतः काम करनेवालोंके लिए स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति, यानि सम्मिलित शक्तिकी आवश्यकता होती है और जिनको काम ही नहीं करना है, जो संन्यासी हैं, उनको तो शक्तिकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

अब, आप अपनी योग्यता, जो भी योग्यता है, उसका तो कीजिये सदुपयोग और कुछ चाहिए मत। माने जो भी आप करें निष्कामतासे करें और किसी चीजका अभिमान न करें। हाँ, यदि आपके काममें स्त्रीसे कोई बाधा पड़ती हो तो आप प्रेमसे उसे समझाकर उसको अपने पक्षमें कर लीजिये। भले मानुष, आप एक स्त्रीको, अपनी पत्नीको तो समझा नहीं सकते हैं और गाँवको समझानेके चक्करमें जाते हैं !! अरे भाई, पहले एकसे समझौता कर लो और फिर दोनों मिलकर काम करो, कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलो। हमने गुजरातमें जहाँ-तहाँ देखा कि ठेलेको खींचनेके लिए उसमें पुरुषके साथ स्त्री भी लगती है। एक ओर पुरुष और एक ओर स्त्री और दोनों मिलकर ठेला-गाड़ी खींचते हैं। ऐसा भी देखा कि जब ठेलेपर कोई माल नहीं रहता, तब पतिदेव तो मौजसे ठेलेपर बैठ जाते हैं और हुक्का गुढ़गुड़ाते रहते हैं और पत्नी अकेले ही ठेलेको खींचकर ले चलती है।

अब यदि आपको विवाह चक्कर मालूम पड़ता है तो आपका बड़ा दुर्भाग्य है। पर, आप स्त्रीके बारेमें ऐसी छोटी धारणा छोड़ दीजिये। जबतक आपको काम करना है तबतक वह आपकी सहायक है। आप ब्याह कर सकते हैं और जब आपको ब्रह्मरूपसे रहना है, तब लक्ष्मी, गौरी, सावित्रीसे भी आप ब्याह मत करना।

●

: २२ :

घरमें ही सत्संग

प्रश्न : मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं, इसलिए मैं सत्संगमें नहीं जा सकती, परन्तु मनमें सत्सङ्गमें जानेकी बहुत आकुलता-व्याकुलता रहती है। कृपया घरमें ही मनको शान्त रखनेका उपाय बतायें !

उत्तर : नारायण, नारायण, नारायण, नारायण ! देखो, पहले एक कथा सुनो—एक थे मियाँ साहब ! उनके मनमें मक्का-मदीना जानेकी बहुत इच्छा थी। चालीस बार उन्होंने मक्का-मदीना जानेके लिए अपना बोरिया-विस्तर तैयार किया, लेकिन जब जानेको तैयार हों तो कोई-न-कोई ऐसी बाधा आ जाये कि वे जा न नकें। जब चालीसवीं बार भी उनका जाना कट गया तब वे सिर पीट-पीटकर रोने लगे। तभी एक फकीर घूमता-घामता उनके घरमें आ गया। उसने पूछा, 'क्यों मियाँ साहब, क्यों रो रहे हो ?' बोले—'महाराज, मक्का-मदोना जानेकी इतनी इच्छा है, लेकिन हर बार बाधा पड़ जाती है और जाना कट जाता है। क्या करें, दुःखी होकर रो रहे हैं।' फकीरने कहा—'देखो मियाँ, मैं

चालीस बार मक्का-मदीना गया हूँ, लेकिन मेरे मनमें कभी भी इतनी छटपटी, इतनी व्याकुलता नहीं हुई। तो चालीस बार मेरे जानेका जो फल है, वह तुम ले लो और यह छटपटी, यह व्याकुलता मुझे दे दो !' व्याकुलता अन्तःकरणका निर्माण करती है और बाहरका मक्का-मदीना अभिमान पैदा करता है। माने, मैं मक्का-मदीना हो आया हूँ, यह अभिमान मनमें आता है। तो, धन्य हैं आप जो आपके मनमें सत्सङ्गमें जानेकी इतनी इच्छा, इतनी व्याकुलता होती है।

अब आप सुनें—आप जब बच्चेको स्नान करायें—(छोटे-छोटे होंगे, ऐसा मेरा ख्याल है) तो आप यशोदा मैया बन जाइये और जैसे यशोदा मैया श्रीकृष्णको स्नान कराती थीं, हमारे बालकमें भी श्रीकृष्णका अंश है, मैं श्रीकृष्णको स्नान करा रही हूँ, यह सोचिये। जब उसको खिलाना हो तो भाव कीजिये कि मैं लालाको, यशोदानन्दनको खिला रही हूँ। हमारे भगवान् बहुत अच्छे हैं, बहुत प्यारे हैं भला ! देखो, श्रीबल्लभाचार्यजीके घरमें तो सात बार बेटे बनकर आये और यह नहीं कि बड़े स्वच्छ, चमचम, चमकते हुए बेटे बने हों। अरे, एक दिन तो कहीं पनालेमें लोटकर और गन्दगीसे लथपथ होकर खेल रहे थे, तभी यशोदा मैया वहाँ पहुँच गयीं। बोलीं—

पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य
दामोदरं वदति क्रोधवशा यशोदा।
त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे
इत्युक्तसस्मितमुखोऽवतु वो मुरारिः॥

मैयाने कहा कि अरे, तूने कीचड़से, गन्दगीसे अपने सारे शरीरको लथपथ कर लिया है और बोलते-बोलते क्रोध आगया मैयाको। बोलीं—'मारूँगी तुमको' और फिर बोलीं—'क्या तूँ पिछले जन्ममें सूअर था ?' यह सुनकर कृष्ण भगवान्को हँसी आगयी कि मैयाने सच्ची बात कह दी।

तो, आप जब अपने बच्चेको दुलारें, प्यार करें, उनका काम करें, सम्हालें, तब मन-ही-मन श्रीकृष्णको अपने बेटेमें बुला लीजिये और उनकी सार-सम्हाल कीजिये और साथ-साथ भगवान्के नामका जप करते रहिए, राम-राम कहते रहिए ! हम एक गृहस्थ स्त्रीको जानते हैं, घरका

सब काम करती है और उसके ओंठ बोलते रहते हैं—राम-राम-राम-राम! चाहे कपड़ा धोये, चाहे झाड़ू लगाये, चाहे रोटी बनावे, चाहे सिलाई करे, राम-राम-राम-राम बोलती रहती है। लोगोंसे बस बात कम करती है। हाँ, हूँ में उत्तर दे देती है। जो ज्यादा बात करेगा, वह भगवान्‌का नाम नहीं ले सकेगा। आप वैकुण्ठमें नहीं जा सकते तो आप वैकुण्ठको अपने घरमें बुला लीजिये—लक्ष्मी-नारायणको अपने घरमें बुला लीजिये। वे आपके घरमें आनेको तैयार हैं और उनके आनेसे ही आपके घरमें सत्सङ्ग आजायेगा। यदि आपके मनमें सत्सङ्गके प्रति प्रेम होगा तो वह आपके घरमें आयेगा ही। पहले भावमें भगवान्‌को लाइये, फिर वाणीमें लाइये, तो फिर आपको भगवान्‌का सङ्ग भी मिलेगा। आप गृहस्थीसे ऊबिये मत; उसको बुरा मत मानिये। मत समझिये कि यह आपका पाप है और आपको नरक मिला है। हर बातमें सावधान रहिये और भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहिये।

देखो, बाबाजी होनेसे ही किसीको भगवान् मिल जाते हैं, ऐसा तो है नहीं। बाबाजी होनेके बाद भी तो होटल ही खोलना पड़ता है। 'सब व्यवस्था है आपकी; ए. सी. कमरा है; पलङ्ग है; बनी-बनायी बढ़िया रसोई है; आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा, आप आइये, सेठजी!' तो जब बाबाजी होकर भी होटल खोलना पड़ता है और घर-परिवारके स्त्री-पुरुषोंको छोड़कर दूसरोंके घरके स्त्री-पुरुषोंसे मित्रता करनी पड़ती है; तब आप अपने घरमें ही रहकर भगवान्‌से मित्रता क्यों नहीं कर लेती हैं? आप अपने घरमें ही रहकर भगवान्‌से मित्रता कीजिये, उनसे प्रेम कीजिये, उनकी सेवा कीजिये, आपकाका मङ्गल-ही-मङ्गल है!!

: २३ :

देना, हर हालतमें अच्छा

प्रश्न : आपके 'आनन्द-वृन्दावन' आश्रममें व और आश्रमोंमें भी सुबह रोटी बँटती है। इसमें प्रायः भिखारी व छोटे बच्चे रोटी लेनेके लिए आते हैं। तो इन छोटे-छोटे बच्चोंको बिना मेहनत किये रोटी खिलाना इन्हें अभीसे आलसी बनाना नहीं है? आदत पड़ जानेसे वे बड़े होनेके बाद भी भीख माँगकर ही खाना पसन्द करेंगे तो? इस प्रसङ्गमें कृपया अपने दृष्टिकोणपर प्रकाश डालें!

उत्तर : हमारे वृन्दावनके आश्रममें तो ऐसा है कि रोटी लेने आनेवालोंमें कुछ तो साधु होते हैं, जो सबेरे रोटी लेकर निश्चिन्त हो जाते हैं और फिर दिन भर भजन करते हैं; इससे उनके भजनमें सुविधा हो जाती है, कुछ नुकसान नहीं और दूसरे कुछ अपङ्ग हैं या पङ्गु हैं। जो रोटी नहीं पका सकते हैं, उनको रोटी मिल जाती है और तीसरे कुछ स्कूल जानेवाले लड़के हैं, जो अपने घरसे स्कूलका बस्ता लिये-लिये आश्रमपर आजाते हैं और रोटी खाकर सीधे स्कूल चले जाते हैं। पेट भरा रहेगा तो पढ़ाईमें भी मन लगेगा। तो दृष्टि तो यही रहती है कि उनके भविष्यका निर्माण हो!

हाँ, यह बात जरूर है और धर्मशास्त्रकी मर्यादा भी इस सम्बन्धमें यह है कि—

अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चौरभुक्तप्रदो हि सः॥

जो भिक्षासे अपना जीवन बसर करें, उनके जीवनमें कोई व्रत होना चाहिए। जैसे कि संग्रह नहीं करेंगे, परिग्रह नहीं करेंगे, दो बार खायेंगे नहीं, ऐसे कुछ भी नियम होना चाहिए।

भूखेको अन्न देना, नङ्गेको वस्त्र देना, रोगीको दवा देना, जिसके पास घर नहीं है, उसके लिए घर बना देना, यह सम्पन्न लोगोंका काम है। पर, कई लोग ऐसे होते हैं, जो किसीको खिलाना भी पसन्द नहीं करते हैं और कुछ देना भी पसन्द नहीं करते हैं। वे तो स्वयं इकट्ठा करनेमें लगे ही रहते हैं कि कहीं वे भिखारी न बन जायें। पर, वह इकट्ठा किया हुआ धन उनके कुछ काम नहीं आता है। और फिर भाई मेरे, कोई देनेवाला नहीं है, देनेवालेका अभिमान तो बिलकुल झूठा है। असलमें तो जिसने यह शरीर दिया है, वही अन्न भी देता है। आप उनके भविष्यका विचार मत कीजिये, अपने भविष्यका विचार कीजिये कि जो आप नहीं दे रहे हैं और केवल इकट्ठा करते जा रहे हैं, वह किसके लिए कर रहे हैं? वह न आपके काम आयेगा, न आपकी अगली पीढ़ीके काम आयेगा; क्योंकि वह भी इकट्ठा करेगी; ठीक वैसे ही जैसे आप इकट्ठा कर रहे हैं। यहाँ, बम्बईमें ही एक सेठ थे। जीवन भर उन्होंने अपनी मुट्ठी बन्द रखी, बुढ़ापेमें दान करेंगे और बुढ़ापेमें दान करेंगे; इस विचारसे जवानीमें कभी कुछ नहीं किया और अधेड़पनमें भी कुछ नहीं किया और अब इतने बूढ़े हो गये कि कुछ कर सकने की स्थिति न रही। मरने लगे, तब बेटेसे बोले कि बेटा, मैं तो दान नहीं कर सका, पर अब तुम मेरे लिए दान कर देना। अब बेटेको रुपये तो मिले। दस लाख मिले। पर, उसने एक पैसा दान नहीं किया। असलमें तो—

श्रद्धया देयं अश्रद्धया देयं।

श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे दो; शर्मिन्दा होकर दो, डरसे दो, जान-बूझकर दो, अजानमें दो, कैसे भी दो। दो जरूर, नहीं तो तुम्हारा इकट्ठा करना तुम्हारे घरमें जुआ ले आयेगा। अपनेको बड़ा माननेवाले जो लोग यहाँ बैठे हैं, वे अपनी डायरीमें नोट कर लें। केवल इकट्ठा करनेवाले जुआ खेलेंगे; शराब पीयेंगे; पीकर, पागल होकर मरेंगे; उनके घरमें पर-स्त्री आयेगी; पर-पुरुष आयेगा; वकील आयेगा, मुकदमें होंगे। एकने हमको बताया कि वे ३० लाख रुपया एक सालमें केवल वकीलको देते हैं। हे भगवान्! आप सोच लो और हिसाब लगा लो कि आप कितना वकीलको

देते हो, कितना डॉक्टरको देते हो और कितना सिनेमा देखनेमें जाता है और कितना क्लबमें जाता है। हिसाब लगाकर देख लो। जो लोग केवल इकट्ठा करेंगे किसीको देंगे नहीं, उनके घरमें जुआ आवेगा, शराब आयेगी, पर-स्त्री आयेगी, लड़ाई-झगड़ा-मुकदमा आयेगा, डॉक्टर आयेगा। यहाँ बहुत-से करोड़पति होंगे, अरबपति भी बैठे होंगे। हम आपसे भरी सभामें पूछते हैं, आपके घरमें अरब रुपये तो हैं, पर आपके दिलमें सुख है क्या ? आपके मनमें अशान्ति है क्या ? यदि आपके जीवनमें दुःख ही है, अशान्ति ही है, जलन ही है, कुढ़न ही है तो आपके ये रुपये-पैसे, यह धन-दौलत किस कामके ? अरे बाबा, अपने हाथसे इनको बाँटो और इनके होनेका मजा लो। नारायण, एकके घरमें मैंने यहीं देखा था—खूब शराब पीते थे और एक दिन ऐसा आया कि शराब पीनेके बाद वे वेहोश हो गये। डॉक्टर आया, देखा। उसने हमको फोन किया—स्वामीजी, आप आकर इन्हें समझा दीजिये, यदि ये अब नहीं मानेंगे और पीयेंगे तो मर जायेंगे ! नहीं माने। फिर बम्बई अस्पतालमें भर्ती करना पड़ा। उनका लीवर बढ़ गया था और पेट काफी फूल चुका था। कुछ नहीं हो सका। अस्पतालमें ही मर गये। उनके दो बेटे थे, वे दोनों भी पीकर ही मर गये ! क्या काम आये उनके रुपये ? हम नाम बता सकते हैं उनका। पर उनके परिवारवालोंको अच्छा नहीं लगे शायद !

तो भाई, धन बढ़नेपर यदि धन निकालोगे नहीं तो बस, जुआ, शराब, डॉक्टर, लड़ाई-झगड़ा और दुःख अशान्ति ही बढ़ेगी तुम्हारे घरमें। एक ही नहीं, हम हजारोंको जानते है। आप भले ही हमें नहीं बतायें, पर अपने दिलपर हाथ रखकर देख लें कि सचमें आपके दिलमें कितना सुख है। बाहर कितना धन है, मोटर है, मकान है, वैभव है। कितनी बनावट है और भीतर कितना दुःख है। बेटा बात नहीं मानता है, बोलता है, हम तो वेश्यासे ही ब्याह करेंगे, ऐसी स्थिति है। तो आप जो लोग देते हैं, उनके देनेमें खुचर मत निकालिये, रखनेमें खुचर निकालिये ! यदि आपको दूसरेका दोष बताना ही हो, तो जो कुछ नहीं देते हैं, सब अपनेपर ही खर्च करते हैं, उनमें दोष बतलाइये ! जो देते हैं, उनमें नहीं। वे देते तो हैं। भले ही भिखारियोंको देते हैं, उनकी देनेकी आदत तो है ना ? वे बहुत अच्छे हैं।

•

: २४ :

अति सर्वत्र वर्जयेत्

प्रश्न : चाणक्यके वचनानुसार, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' पर, कुछ लोगोंके जीवनमें देखनेमें आता है कि वे अपने हाथके काते हुए सूतका ही वस्त्र पहनते हैं, अपने ही हाथका बनाया भोजन करते हैं और अपने ही हाथका खींचा कुएँका जल पीते हैं। कृपया बतलाइये कि इन लोगोंके आचारको अतिवाद समझकर अपने जीवनसे वर्जित करना चाहिए अथवा आत्म-संयम समझकर अपने जीवनमें धारण करना चाहिए।

उत्तर : यदि आपको यह अतिवाद लगता है तो आप देखा-देखी ऐसा आचरण मत धारण कीजिये, यह आपको साफ-साफ मेरी सलाह है। लेकिन, आप उनके त्यागको देखिये! फर्रूखाबादके पास, गंगाजीके किनारे, एक बड़के पेड़के नीचे, एक महात्मा जाकर बैठ गये और उन्होंने निश्चय किया कि जितनी दूर तक बड़की छाया सुबहको, दोपहरको और शामको जाती है, उतनी ही दूरतक वे रहेंगे, उससे बाहर नहीं जायेंगे। टट्टी भी वहीं, स्नान भी वहीं, उठना-बैठना भी वहीं और खाना-सोना भी वहीं। मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि महाराज, यह कौना-सा व्रत है? वे बोले कि देखो, अब इसका गाँवमें जाना, जगह-जगह भटकना बन्द हो गया। अब यह होटलमें खाना खाने नहीं जायेगा, अब यह सिनेमा देखने नहीं जायेगा और कोई जरूरत होनेपर भी किसीके आश्रित नहीं होगा। ऐसा करके इसने कितना त्याग, कितनी तपस्या अपने जीवनमें धारण की है! हम तो इसको बड़ा भारी त्याग, बड़ा भारी संयम समझते हैं। पर, मैं यह नहीं कहता कि गाँवके सबलोग ऐसा

करने लग जायें और खासकर पूछनेवाले सज्जनको तो ऐसा कभी करना ही नहीं चाहिए।

देखो, आपको बताता हूँ—अपने हाथसे पानी खींचकर स्नान करनेवाले एक महात्माको मैं जानता हूँ। जानता ही क्या हूँ, पचास वर्षसे उनको देखता हूँ। उनकी उम्र मुझसे कुछ बड़ी है, और अब भी वे कुएँमें-से अपने हाथसे पानी खींचकर स्नान करते हैं और इन पचास वर्षके भीतर उनके कोई ऐसी बीमारी नहीं हुई है, जिससे वे कुएँसे पानी नहीं खींच सके हों।

एक दूसरे सज्जनको मैं जानता हूँ—उनके जीवनमें व्रत है कि वे नौ दिन चैत्रके नवरात्रमें और नौ दिन आश्विनके नवरात्रमें बीदाने (अनार)के रसके सिवाय और कुछ भी नहीं पीते हैं, पानी भी नहीं। अनारके रसके सिवाय और कुछ मुँहमें डालते ही नहीं हैं और वह भी सीमित मात्रा में। उनकी उम्र इस समय पचासी वर्षसे अधिक होगी। पर, फिर भी यदि वे अपने दोनों हाथ मेरे कन्धेपर रख दें तो मैं दब जाऊँ। बिलकुल पहलवानका-सा उनका शरीर है। जबलपुरमें रहते हैं और उनका नाम सुन्दरलाल इन्दुरख्या है।

प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी हैं, चौरानबे वर्षके, हमसे करीब बीस वर्ष बड़े। पचास वर्षसे केवल फलाहारपर ही व्यतीत जीवन करते हैं और कितने स्वस्थ और सुन्दर-शरीर हैं। अब भी जब कभी मुझे मिलते हैं तब बड़े प्रेमसे दोनों हाथसे पकड़कर छातीसे दबा लेते हैं या कन्धेपर अपना हाथ रख देते हैं तो मैं दब-सा जाता हूँ।

देखो, अपने हाथसे रसोई बनाकर खाओगे तो तरह-तरहकी चीज नहीं बनाओगे और इस तरह डाक्टर लोग जो चीज़ खानेको मना करते हैं, वह अपने आप ही छूट जायेगी भला! आपका शरीर स्वस्थ रहेगा, नियमित रहेगा और आप प्रतिदिन नियमसे स्नान करेंगे, सन्ध्या-वन्दन करेंगे, गायत्रीका जप करेंगे और भगवान्‌की पूजा करेंगे। आपको यह हँसी तो लगती है, लेकिन आप जरा एक महीनेके लिए ही करके देखिये तो सही, बड़ा कठिन पड़ेगा! एक महीने भी नहीं चल सकेगा कि चाहे जैसी रोटी हाथपर ठोंकी और सेंककर खा ली। नमक भी कभी मिला, कभी नहीं मिला। यह देखनेमें अति है, पर है बड़ी भारी तपस्या।

इसलिए जो लोग करते हैं उनकी आलोचना मत करो, उनकी हँसी मत उड़ाओ; बल्कि वे इस तपस्याका पालन करते हैं—इसकी प्रशंसा करो। साथ ही, अपनी ओर देखो कि तुम्हारा जीवन कितना अनियमित हो गया है—स्नान, ध्यान, भोजन सब अनियमित है और डाक्टर आपसे कितना ले जाता है, वकील कितना ले जाता है, ज्योतिषी कितना ले जाता है, भूत-प्रेत झाड़नेवाला कितना ले जाता है ? यह सब आपके असंयमके कारण ही तो होता है। आपको जगह-जगह चीजोंकी गुलामी करनी पड़ती है, आदमियोंकी गुलामी करनी पड़ती है, यह सब त्याग-तपस्या न होनेके कारण ही तो है।

हम शहरमें रहनेवालोंको कुछ नहीं कहते। उनका जीवन बहुत बढ़िया है, उनका सूट-बूट सब बरकरार रहें और वे मौजसे एयर-कण्डीशनमें रहें। जब डाक्टर ही उनको अच्छा कर देता है तब उन्हें तपस्याकी क्या जरूरत है ? लेकिन, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेके लिए संयमकी, तपस्याकी बड़ी भारी आवश्यकता है, नहीं तो जीवनमें स्वच्छन्द आचरण आजायेगा। आज कई लोग ऐसे हैं, जो बाहरसे तो आध्यात्मिकताकी खोल ओढ़े हुए हैं और भीतरसे भोग-रागमें लगे हुए हैं। समय आनेपर उनकी पोल-पट्टी खुलती है, खुलेगी। पर, ऐसे लोग असलमें आध्यात्मिक जीवनमें कोई महत्त्व नहीं रखते हैं। सीधी-सादी बात है कि आप भगवान्‌का नाम लेते रहिये, आपसे पूजा बने तो भगवान्‌की पूजा कर लिया करें और यदि कोई व्रत ले सकें, जैसे कि भगवान्‌की पूजा किये बगैर अन्न नहीं खायेंगे, तो वह व्रत भी ले लो और नारायण, सत्संग मत छोड़ो। यदि आपके जीवनमें भगवान्‌के नामका आश्रय और सत्संग बना रहेगा तो आपका आगेका रास्ता बिल्कुल खुल जायेगा। परन्तु यदि आप भगवान्‌का नाम और भगवान्‌का आश्रय और भगवान्‌की पूजा और सत्संग—अपने जीवनके नियम-व्रत छोड़ देंगे, तो ऐसे बिखर जायेंगे जैसे हवामें धूलके कण। आपका कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं रहेगा !

•

: २५ :

गुरुमें ईश्वर-बुद्धि होनेका उपाय

प्रश्न : उपासना सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें कल आपने बताया कि गुरुमें मनुष्य-बुद्धि हो तो वह उपासनाकी कक्षामें नहीं आती और गुरुकी उपासना करनेके लिए अपने मनको वहाँ ले जाकर बैठाओ, जहाँ गुरु बैठता है! तो जानने और चाहनेपर भी गुरुमें पूर्ण ईश्वर-बुद्धि क्यों नहीं होती है और कैसे हो सकती है? कृपया बतलायें। साथमें, यह भी समझानेका अनुग्रह करें कि गुरु जहाँ बैठता है वहाँ अपने मनको ले जाकर कैसे बैठायें?

उत्तर : एक सज्जन किसी महात्माके पास गये और उन्होंने उनसे पूछा—'ध्यान कैसे करें?' महात्माने उन्हें राम-कृष्णका ध्यान बता दिया। पर, जब वे सज्जन ध्यान करनेके लिए बैठें, तब ध्यान ही न लगे। घबड़ा गये और घबड़ाकर फिर गये महात्माके पास। 'महाराज, आपने जो बताया, उसमें तो हमारा ध्यान ही नहीं लगता है।' महात्माने पूछा—'आखिर उस समय होता क्या है?'

वे बोले कि मेरे पास एक भैंस थी, जो मुझे बहुत प्रिय थी और अब कुछ दिन हुए मर गयी है। जब भी मैं ध्यान करने बैठता हूँ, वह भैंस मेरे ध्यानमें आती है। महात्माने कहा—'बहुत बढ़िया!' फिर बोले—'देखो, अब तुम राम कृष्णका नहीं, भैंसका ही ध्यान किया करो। भैंसके ही सींग हैं, उसकी पीठ है, पाँव है, मुँह है, काली-काली पूँछ है, इनमें-से भैंस किसका नाम है? हड्डी-मांस-चामके ढेरका नाम भैंस है कि जो उसमें साँस चलती है, उसका नाम भैंस है कि जो वह अपने बच्चेको चाटती है, प्यार करती है, उसका नाम भैंस है? भैंसमें जो बुद्धि है कि इधरसे शेर आजाये, तो उधर भाग जाये, उस बुद्धिका नाम भैंस है या कि जब वह खा-पीकर बैठती है और फेन निकाल-निकालकर पागुर करने लगती है और आनन्द लेने लगती है, उसके आनन्दका नाम भैंस है? आखिर भैंस है क्या; तुम यह निश्चय करो!'

अब वह सोचने लगा! सोचने लगा तो भैंस कटते-कटते उसका हड्डी-माँस कट गया, साँस कट गयी, उसके नाक-कान-आँख कट गये, उसका प्यार, उसकी समझदारी कट गयी और उसकी प्रियता जो

बाहरसे आती थी, सो कट गयी। फिर गया महात्माके पास, तो महात्मा बोले कि 'अच्छा, भैंसका ध्यान तो कर आये, अब जरा अपने बारेमें विचार करो और देखो कि भैंसकी हड्डी, माँस, चाम तो वह नहीं, तुम हो। भैंसकी साँस तो वह नहीं, तुम हो।'

इसी तरह जब तुम गुरुके बारेमें विचार करोगे कि इनका शरीर दिव्य है, चिन्मय है तो उनकी दिव्यता व चिन्मयताका चिन्तन करते-करते तुम्हारा मन भी दिव्य और चिन्मय हो जायेगा और तुम भी अपने शरीरको भूल जाओगे और तुम्हारी 'ध्येयाकार समापत्ति' हो जायेगी। तब तुम देखोगे कि गुरु तो साक्षात् परमात्माके स्वरूपमें बैठा है और उसी समय तुम्हें अपने परमात्मा, अपने गुरुके सूक्ष्म स्वरूपका उतना-उतना ज्ञान हो जायेगा, जितना-जितना ज्ञान तुम्हें अपने सूक्ष्म स्वरूपका होगा। जबतक तुम अपनेको हड्डी, माँस, चाम समझ रहे हो, तबतक गुरुमें भी हड्डी, माँस, चामकी बुद्धि होना सम्भव है। परन्तु, भावसे जैसे आप जयपुरकी बनी राम, कृष्ण, शिवकी मूर्तिको साक्षात् भगवान् मानते हैं और गण्डकी शिलाको शालग्राम मानते हैं, वैसे ही अपने भावसे, अपनी श्रद्धासे मनुष्यके रूपमें दीखते हुए गुरुको भी आप पहले दिव्य रूपमें देखिये और उनकी जो क्रिया है, उनका कर्मके रूपमें नहीं, लीलाके रूपमें देखिये! इस तरह जितनी-जितनी सूक्ष्मता आपके आत्मामें बढ़ेगी, उतना-ही-उतना गुरुका सूक्ष्मरूप आपको दिखायी पड़ेगा—

झण्डा गाड़ो जायके हद-बेहदके पार,
हद-बेहदके पार दूर जहाँ अनहद बाजे,
हद बेहदके पार है हमारी चौकी,

जो हद-बेहदके पार है, वह हमारे बैठनेकी जगह है।

उपासनाके ग्रन्थोंमें इस तरहका वर्णन आता है कि प्रसादको भोजन समझना अपराध है, मूर्त्तिको जड़ समझना अपराध है और गुरुको मनुष्य समझना अपराध है। और फिर, जैसे-जैसे आपकी श्रद्धा बढ़ेगी, समझ बढ़ेगी, आपकी स्थिति ऊँची होती जायेगी, वैसे-ही-वैसे आप अपने सद्गुरुके आसनके पास पहुँचते जायेंगे और वह आपकी उपासना हो जायेगी!

: २६ :

वेदान्त नामका विरोधी नहीं !

प्रश्न : बचपनसे ही मेरी निष्ठा भगवन्नाममें बहुत अधिक रही। विद्यार्थी-जीवनमें सेवा-सत्सङ्गकी प्रेरणा मिली। कई वर्षतक नाम-जप व निष्काम सेवा करता रहा। साथ-ही-साथ ईश्वरके सौन्दर्यका चिन्तन भी होता रहा, पर फिर आपके सत्सङ्गमें वेदान्त-श्रवणने एक नया मोड़ दिया। निराकारमें निष्ठा जगी और अब नाम-जपमें रुचि नहीं होती है। कृपया मार्ग-दर्शन कराइये !

उत्तर : वेदान्त-श्रवण नाम-निष्ठाका विरोधी तो नहीं है। वह तो आपके ब्याहका भी विरोधी नहीं है, आपके बच्चेका भी विरोधी नहीं है। यदि आप—'हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते'—त्रिलोकका भी संहार कर डालें तो वेदान्त उसका भी विरोधी नहीं है। बल्कि, वेदान्त तो अविरोधी सिद्धान्त है। उसमें न कर्मका विरोध है, न उपासनाका विरोध है और न ही योगका विरोध है। बल्कि संन्यासीके लिए तो ऐसा आया है कि यदि वह देख रहा है कि किसीके खेतमें घुसकर कोई पशु खा रहा है तो उसको वहाँसे हटावे नहीं और न तो खेतके

मालिकको ही इसकी सूचना दे। यहाँतक कि यदि कोई किसीकी चोरी कर रहा हो तो भी संन्यासीको हल्ला नहीं करना चाहिए, यह खबर नहीं देनी चाहिए कि यह चोरी कर रहा है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो वह माल जिसने अपना मान रक्खा हैं उसका भी नहीं है और जो चोरी कर रहा है, उसका भी नहीं है। सारा-का-सारा माल ईश्वरका है। तो भाई मेरे, ऐसी स्थितिमें यदि वेदान्तके कारण आपकी नाम-निष्ठामें बाधा पड़ी है तो वह वेदान्त ठीक न समझनेके कारण पड़ी है।

आप अपने माँ-बापकी सेवा कीजिये, उनके पाँव छूइये और बड़ोंका आदर कीजिये; भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यसे प्रेम कीजिये, पर दूसरे किसीके सौन्दर्य-माधुर्यमें मत फँसिये, भला! भगवान्का नाम जैसे निष्ठापूर्वक आप लेते आये हैं, वैसे ही लेते चलिये और जो ज्ञानमें आपकी रुचि है उसको समझनेके लिए, उसको पूरी करनेके लिए, यदि आपको वेदान्त समझानेवाला सद्गुरु मिल जाये तो उससे समझिये और नहीं मिला तो भगवान्पर छोड़ दीजिये। मैं भगवान्की सेवा-पूजा कर रहा हूँ, वे जब ठीक समझेंगे तब हमको ज्ञान भी दे देंगे। इसके लिए आप अपने किसी भी अच्छे कामको छोड़िये मत। भगवान्ने आपको जो योग्यता दी है उसका सदुपयोग कीजिये। माने, यदि आप खेती करके अन्न पैदा कर सकते हैं तो कीजिये—लोग खायेंगे; आप कपड़ा बना सकते हैं तो कपड़ा बनाइये—लोग पहनेंगे; आप दवा बना सकते हैं तो बनाइये—लोगोंका रोग दूर होगा। कहनेका मतलब यह है कि आप राजनीतिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हितका कोई काम भी कर सकते हैं और धीरे-धीरे वेदान्तका ज्ञान भी प्राप्त करते चलिये।

'पञ्चदशी' वेदान्तका एक बड़ा कट्टर, विकट ग्रन्थ है! उसमें यह बात बतायी है कि जैसे भूख मिटानेके लिए, उस समय हमें जो भी भोजन मिल जाता है, हम वही खा लेते हैं—यह आग्रह नहीं करते हैं कि खीर मिलेगी तभी हम खायेंगे या कोई विदेशी भोजन मिलेगा तभी हम खायेंगे और जबतक ऐसा नहीं होता तबतक समझो कि भूख ही नहीं है। वैसे ही यदि आपके मनमें किसी भी कारणसे विक्षेप होता है तो उस विक्षेपको, चाहे जैसे भी हो—नाम-जप करनेसे, नाम-संकीर्तन करनेसे,

भगवान्‌की पूजा करनेसे, एकान्तमें बैठनेसे या भीड़में जानेसे, जैसे भी हो—पहले आप उसे दूर कर लीजिये और फिर अपने लक्ष्यमें संलग्न होइये। माने पञ्चदशीकारने कहा कि जिस प्रकार भूख मिटानेके लिए हम तत्काल उचित भोजनका सेवन कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने मनका विक्षेप मिटानेके लिए हमें तात्कालिक उपाय कर लेना चाहिए।

आप अपनी नाम-निष्ठाको दृढ़ कीजिये। यह बहुत दुर्लभ और कीमती वस्तु है और तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी छोड़नेकी वस्तु नहीं है। आप जीभसे नाम लेते रहिये और तत्त्वज्ञानमें अपनेको ब्रह्म देखते रहिये। अपनेको ब्रह्म समझनेवाले क्या जीभसे नाम लेनेसे जीव हो जायेंगे? क्या पूजा करनेसे भिखारी हो जायेंगे? अरे बाबा ब्रह्म ब्रह्म ही रहेगा, कुछ और नहीं होगा। इसलिए, अपने जीवनमें जो अच्छे काम हैं उनको छोड़नेका कभी प्रयास नहीं करना चाहिए बल्कि खूब प्रेमसे उनको करते रहना चाहिए। भगवान्‌की बड़ी कृपासे, आपकी जीभपर भगवान्‌का नाम आया है। भगवान्‌का नाम ही नहीं बल्कि स्वयं भगवान् आये हैं। इसलिए आप जप छोड़िये मत, करते चलिये।

अब, एक बात आपको और सुना देते हैं। आप हमारा प्रवचन सुनकर निराकारमें निष्ठावान् होते हैं—हमको इसकी खुशी तो बहुत है, लेकिन हम स्वयं रोज जप करते हैं। ऐसा कोई दिन नहीं बीता होगा—बीमारीमें भी, आराममें भी, जिस दिन हमने कुछ समय तक भगवान्‌के नामका जप न किया हो। यह बात मैं आपको इसलिए बताता हूँ कि हमारा निराकार-सम्बन्धी प्रवचन आपके नाम-जपमें बाधक न बने, साधक बने।

●

: २७ :

अपने ख्यालको बदलिये

प्रश्न : श्रीकृष्ण जो सबके आराध्यदेव हैं—उन्होंने जब अपने वंशकी रक्षा नहीं की तो हम जीवोंकी रक्षा कैसे करेंगे ? कृपया समझाइये ।

उत्तर : आपके वंशकी रक्षा करनेके लिए उन्होंने अपना वंश मिटा दिया—ऐसा क्यों नहीं बोलते हैं ? यह तो महाभारतमें, विष्णु-पुराणमें स्पष्टरूपसे आता है कि श्रीकृष्णने कहा कि यदि हम यदुवंशको ज्यों-का-त्यों छोड़कर चले जायेंगे तो जैसे असुरोंके द्वारा संसारका अहित हुआ वैसे ही ये यदुवंशी भी 'उद्वेलेन विनश्यति' अपनी मर्यादा तोड़ देंगे और संसारका नाश कर देंगे। तो, संसारका नाश न हो, पृथिवीकी रक्षा हो इसके लिए भगवान्‌ने अपने वंशको मिटाकर, आपके वंशकी रक्षा की । क्योंकि, भगवान् आपको भी वैसा ही अपना मानते हैं जैसा यदुवंशको । आप भी भगवान्‌के ही वंशमें हैं और यदुवंशी भी भगवान्‌के ही वंशमें थे । अतः आप दोनोंमें कोई भेद मत कीजिये ।

'रक्षा'के माने जिन्दा रखना नहीं होता है; रक्षाके माने तो दुष्टको मारना भी होता है। दुष्टका नाश भी रक्षाका कार्य है और शिष्टका जीवन भी रक्षाका कार्य है। इसलिए, भगवान् जैसे पाण्डव-वंशके घटोत्कच आदिका विनाश करते हैं, वैसे ही दुर्योधन पक्षके भीष्मादिका भी विनाश करते हैं। भगवान्‌के लिए, कोई पक्षपात नहीं है। सृष्टिका जब, जैसे हित होता है; तब वैसा ही करते हैं। हिंसा माने अहित नहीं, हिंसा माने अधर्म नहीं। यह तो जैनोंमें ऐसा अर्थ प्रचलित हो गया। असलमें तो हित चाहिए, हित-भावना चाहिए ।

करुणा करके डाकूकी रक्षा करना धर्म नहीं है और आततायीके प्रति अहिंसाका बर्ताव करना भी धर्म नहीं है; जैसे उस प्राणीका हित होता हो वैसा करो 'यदेव हिततमम् तदेव नो ब्रूहि'—यदि हिंसासे अहित होता हो तो हिंसा मत करो और यदि अहिंसासे अहित होता हो

तो अहिंसा भी मत करो। अर्थात् अपने जीवनमें हित-भावना सम्पूर्ण रूपसे चाहिए—वह ऑपरेशन करनेसे हो, हाथ कटा देनेसे हो, पाँव कटा देनेसे हो, आँख निकलवा देनेसे हो या फिर हृदय बदल देनेसे हो !

भगवान्‌ने जगत्‌के हितके लिए ही यदुवंशियोंका नाश कर दिया और एक दिन ऐसा आयेगा जब प्राणियोंके कुकर्म और दुःख इतने बढ़ जायेंगे कि उनके जीवित रहनेमें उनका हित नहीं होगा, तो भगवान् समग्र प्राणियोंका संहार करके महाप्रलय कर देंगे। महाप्रलय कर देनेसे भगवान्‌में दया भावनाकी या रक्षा-भावनाकी कोई न्यूनता है—इस प्रकारकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। कभी चपत लगानेमें हित होता है और कभी मक्खन लगानेमें हित होता है। जैसे प्राणीका हित होता है, वैसा ही भगवान् करते हैं। यदि आप यह समझते हैं कि भगवान् जिसको ज्यादा जिन्दा रखते हैं, रोग नहीं देते हैं, पैसा खूब देते हैं, स्त्रियाँ खूब देते हैं—उनका भगवान् हित करते हैं और दूसरोंका अहित—तो आपका यह सोचना बिल्कुल गलत है। आपका हित तो अनेक प्रकारसे सम्पन्न होता है, उसको आप पहचानिये—

तत्तेनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

हर जगह भगवान्‌की अनुकम्पा देखो ! दिखती नहीं है तो, गौरसे देखो—इक्षमाणः। जाँच करो, उसके भीतर भगवान्‌की कृपा है। समीक्षमाणः–अच्छी तरह देखो, भली-भाँति देखो।

सुष्ठुतया समीक्षमाणः–पूरी तरहसे देखो, भली-भाँति देखो–जो कुछ हो रहा है उसमें भगवान्‌की कृपा है। भगवान्‌के लिए अपने व परायेका भेद नहीं होता है। वे हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण आदिको मारते हैं तो उनका हित करनेके लिए मारते हैं 'उनका जो राक्षसका, असुरका चोला है—वह छूट जाये और फिर वे बैकुण्ठमें आकर भगवान्‌के वही पार्षद बन जायें, उनके निकट आजायें।' आपका जो यह ख्याल है कि भगवान् हमको धन देंगे, बेटा देंगे, शरीर नीरोग रक्खेंगे तब तो वे हमारी रक्षा कर रहे हैं और नहीं तो नहीं, बिल्कुल गलत है। आप भगवान्‌की रक्षामें दस्तन्दाजी मत कीजिये और अपने ख्यालको बदलिये।

•

एक व्यवस्था

प्रश्न : आत्म-चिन्तन और निष्कामभावसे व्यवहार साथ-साथ हो सकता है क्या? कृपया समझायें।

उत्तर : देखो, न तो आप चौबीसों घण्टे आत्म-चिन्तन कर सकते हो और न तो चौबीसों घण्टे निष्काम-भावसे कर्म। इसलिए, अपने जीवनमें एक व्यवस्था बना लो, भला!

सबसे पहला काम, प्रातःकाल उठकर शरीर, वस्त्र, मन आदिको पवित्र करके—अधिकारी हों तो सन्ध्या-वन्दन करें और अधिकारी न हों तो भगवान्‌का स्मरण करें। पर, वह किसी लौकिक कामना—बेटेके लिए, धनके लिए, किसी और चीजके लिए न करें, अपना कर्त्तव्य समझकर करें। निष्काम भावकी यह बात हमारी भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृतिने हमारे मूलमें ही डाल दी—**अहरहः सन्ध्यामुपासीत।**

कुछ तो हम ऐसा करें, जो पाँच मिनटके लिए ही हमारे जीवनमें निष्काम हो।

अब देखो, सन्ध्या-वन्दनमें सृष्टिके क्रमका चिन्तन है—पृथिवीके आधारपर हम बैठे हुए हैं, जलसे पवित्र हो रहे हैं; सूर्य भगवान्‌का चिन्तन कर रहे हैं—

जरा देखो—

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

और वायुके लिए—**वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।**

प्राणायाम कर रहे हैं और आकाशके लिए पवित्र शब्दका उच्चारण कर रहे हैं। मनमें पवित्र भावना है; गायत्रीका, भगवान्‌का ध्यान है और अपने जीवनमें आनन्द बना रहे, इसके लिए–**'जीवेम शरदः शतम्' 'भूयश्च शरदः शतात्'**, **'मोदेम शरदः शतम्'** बोल रहे हैं। तो, यह जो सन्ध्या-वन्दन है—इसको आप कम-से-कम रोज दस मिनटके लिए किया कीजिये। सन्ध्या-वन्दन जीवनमें निष्कामताका एक छोटा-सा उदाहरण है। इससे आपका जीवन बिल्कुल निष्काम हो जायेगा।

दूसरा है, नैमित्तिक कर्म—होम, दान, व्रत, पूजा आदि। इसमें भी

बेटेके लिए करना दूसरी चीज है और अन्तःकरण-शुद्धिके लिए करना दूसरी चीज है। आप व्यवस्थापूर्वक अपने चौबीस घण्टोंमें-से एक घण्टा, दो घण्टा समय निष्काम-भावसे कर्म करनेके लिए निकाल लीजिये और फिर किसी गरीबको दो मुट्ठी अन्न दे दीजिये, किसी प्यासेको एक गिलास पानी पिला दीजिये, अनाथको आश्रय दे दीजिये, नंगेको वस्त्र दे दीजिये, रोगीको दवा दीजिये, माने कुछ थोड़ा-सा ऐसा काम जरूर कीजिये, जो निष्काम हो। यदि आप निष्काम भावसे दूसरेकी जेब ही काटते जायेंगे और हर साल पलटन-की-पलटन तैयार करते जायेंगे तो यह निष्काम-भाव नहीं है। निष्काम भावका अर्थ है—अपनी कंगाली दूर करनेके लिए, अपने मालिक, अपने भगवान्को खुश करनेके लिए सत्यका ज्ञान प्राप्त करके, सत्यका पक्ष लेकर और सत्यसे प्रेम करके उत्तम कर्म करनेका अभ्यास। जिसके जीवनमें सत्यका उपयोग नहीं है, सत्यसे प्रेम नहीं है, वह सत्यके ज्ञानका अधिकारी भी नहीं है। इसलिए, हमें अपने जीवनकी उत्तम इच्छाकी पूर्तिके लिए और सत्यके साक्षात्कारके लिए निष्काम-भावसे कर्म करनेका अभ्यास करना चाहिए।

तीसरा है, जब नैमित्तिक कर्म, निष्काम कर्म करनेसे छुट्टी मिले, तब घर-द्वारका सब काम-काज सम्हालें और फिर थोड़ा विश्राम लेनेके लिए अपने स्वरूपका चिन्तन करें। अन्तःकरणका निर्माण निःसंकल्पतासे नहीं होता, निःसंकल्पतासे तो केवल संकल्पकी निवृत्ति होती है, आत्म-चिन्तनसे ही नवीन अन्तःकरणका निर्माण होता है और उससे हमारा अन्तःकरण भगवन्मय हो जाता है। इसलिए आत्म-चिन्तन करना बहुत ही आवश्यक है।

चौथा है, बुराईका पालन कभी न करें, बुराईका पोषण कभी न करें। अर्थात् बुराईके समर्थनके लिए अपने कर्म, अपने वचन, अपने मन और अपनी बुद्धिका प्रयोग कभी न करें। जो लोग आजकल देश-विदेशमें वेदान्त-प्रचार करते और कहते हैं कि तुम मांस खाते रहो, शराब पीते रहो, पर-स्त्रीगमन करते रहो, जुआ खेलते रहो, हिंसा करते रहो—तुमको कोई पाप नहीं लगेगा, मैं तुम्हारे मनमें जो पापका भय है उसे छुड़ानेके लिए ही आया हूँ—इतनी ऊँची बात मैं तुम्हें बता रहा हूँ—ये फरिश्ते पापियोंको पापके भयसे छुड़ाकर और पापमें—घोर पापमें डाल देते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए, ये शैतानके फरिश्ते हैं, भगवान्के नहीं।

: २६ :

मेरा-तेरा

प्रश्न : हम रोज लोगोंको मरते देखते हैं, उस क्षण मनमें वैराग्य भी आता है, पर फिर संसारमें प्रवृत्ति हो जाती है और मेरे-तेरेकी भावना, संग्रहकी भावना आ घेरती है—ऐसा क्यों होता है ? समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : हमको एक महात्माने बताया—

जहाँ तुम बैठे हो, वहाँ अगर एक साँप आजाये तो तुम क्या करोगे ?

क्या तुम पता लगाओगे कि कैसा साँप है—विषैला है कि नहीं ?

इसकी जाति क्या है—कोबरा है कि गेहुँअन ?

कहाँसे, कैसे आया है ? नहीं पहले उसको उठाकर दूर फेंकोगे, यदि ऐसा नहीं करोगे तो वह तुम्हें डँस ही लेगा ! इसलिए, पहले उसको अपनेसे दूर कर देना चाहिए और फिर खोज-बीन करनी चाहिए।

वैसे ही, यह जो मेरा-तेरा है—यह क्यों है—यह मत पूछो। जैसे रात-दिन आते-जाते रहते हैं, वैसे ही यह मेरा-तेरा और संसारके सारे

सम्बन्ध भी आते-जाते रहते हैं। इनको छोड़ना हो तो इनसे बिल्कुल एक साथ अलग हो जाना पड़ता है। पकड़कर रखनेसे तो यह कभी छूटनेवाला नहीं है।

इसलिए, इसको छोड़कर भगवान्‌को पकड़ लो—भगवान् ही तेरा है, भगवान् ही मेरा है। संसारके ये जन, यह धन, यह भवन—ये किसीके भी नहीं हैं और ये किसी दिन तुम्हें पकड़कर ऐसा पछाड़ेंगे कि तुम बिल्कुल धूलमें मिलकर रह जाओगे। सब धोखेकी टट्टी है। इसलिए सावधान रहकर अपनेको भगवान्‌के साथ जोड़ो। और भगवान्‌से जोड़कर—

मैं अपनो मन हरि सौं जोड़चो,
हरि सौं जोड़ सकल सौं तोड़चो।

भगवान्‌के साथ अपना मन जोड़नेमें ही कल्याण है, परम कल्याण है। नहीं तो दुनियामें यों ही लटकते फिरोगे, भटकते फिरोगे। दुनियामें तो हमेशा कुछ-न-कुछकी कमी रहती ही है।

देखो, जिसको बेटा नहीं होता है, वह दूसरेका बेटा गोद लेकर बेटा-वाला बनता है और फिर वह गोदवाला बेटा ऐसा सताता है कि बस! अपनी आँखसे मैंने देखा है—

काशीमें एक सज्जन थे। उन्होंने नियम किया था कि वे जिन्दगी भर काशीसे बाहर नहीं जायेंगे, लेकिन बेटा गोद ले लिया, और वह गोद लिया हुआ बेटा चला गया लन्दन और वहाँ जानेपर उसको हो गयी टी. बी.। अब मरनेकी हालत हो गयी, तो सब नियम तोड़कर उनको जाना पड़ा लन्दन।

लड़केने तो सब कुछ सत्यानाश कर ही दिया था। सब लड़के ऐसे नहीं होते हैं, कोई-कोई गोद लिये लड़के बहुत अच्छे भी होते हैं, परन्तु बाबा, तुम भगवान्‌को ही गोद ले लो ना! वे न कभी कहीं जायेंगे, न मरेंगे, न बिछुड़ेंगे, न सतायेंगे। मेरा-मेरा करनेके लिए सबसे बढ़िया भगवान् ही हैं। दुनियामें मत फँसो, इसका कहीं अन्त नहीं है।

•

सार-सार

प्रश्न : मैं वेद नहीं पढ़ सकता हूँ, पर वेदके सार-रूप जो महावाक्य हैं, जैसे ऋग्वेदमें—'प्रज्ञानम् ब्रह्म', यजुर्वेदमें—'अहं ब्रह्मास्मि', सामवेदमें 'तत्त्वमसि' और अथर्ववेदमें—'अयमात्मा ब्रह्म' हैं—कृपया इनका सार-सार—अर्थ समझायें !

उत्तर : यह तो वैसी ही बात है जैसे आजकल गणितकी जो पुस्तकें छपती हैं उनमें सवालके साथ सवालको हल करनेकी प्रक्रिया भी बतायी हुई होती है और अन्तमें उसका हल भी लिखा हुआ होता है, पर उस हलको सिर्फ याद कर लेनेसे गणित नहीं आ सकता; गणित समझनेके लिए तो आपको गणितकी पूरी प्रक्रिया समझनी पड़ती है—उत्तर तो अन्तमें निकलता है। वैसे ही, आप केवल 'प्रज्ञानम् ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' और 'अयमात्मा ब्रह्म'—इनको याद कर लें और दुहराया करें तो इससे काम नहीं बनेगा। थोड़ेमें भी इनको समझनेके लिए कम-से-कम वेदोंके उन प्रसङ्गोंको तो पढ़ ही लीजिये जिनमें ये महावाक्य आये हैं।

उपनिषद्में 'प्रज्ञानम् ब्रह्म' आया—तो वहाँ षोडश-कलावाले पुरुषका वर्णन करके अन्तमें 'प्रज्ञान' शब्दसे त्वम्-पदार्थ और 'ब्रह्म'पदसे तत्-पदार्थ और सामानाधिकरणसे दोनोंकी एकता बतायी। ये दोनों शब्द एक ही विभक्तिके और पर्यायवाची हैं। 'प्रज्ञान्' माने शुद्ध आत्मा। देखो, आप घड़ीको जानते हो। तो घड़ी हो गयी ज्ञेय और घड़ीको जाननेका करण, जाननेका औजार हो गयी आँख और जाननेवाले आप हो गये—ज्ञाता।

अब आप घड़ीको छोड़ दीजिये और मन-इन्द्रियरूप करणको भी छोड़ दीजिये और इनसे रहित जो आपका अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन आत्मा है वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेद-शून्य ब्रह्म है। ब्रह्म है—माने परिच्छेद सामान्यके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है और आप हैं स्वयं-प्रकाश प्रज्ञान। तो स्वयंप्रकाश आप और सृष्टिका अधिष्ठान ब्रह्म—दोनों एक हैं—यह बात महावाक्य बताता है।

देखो, एक दिनमें सब बात समझमें नहीं आती। आपने कभी विचार-

चन्द्रोदय, विचार-सागर, पञ्चदशी आदि ग्रन्थोंका अध्ययन किया है ? ग्रन्थोंका न सही, इनके जो जानकर महापुरुष हैं उनका सत्सङ्ग आप कभी करते हैं ? यदि आप सत्सङ्ग करते हैं और आपके जीवनमें धर्माचरणके द्वारा दुश्चरित्र मिट गया है—तो आप इसका रहस्य समझ जायेंगे।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० १-२-२४)

जिसने दुश्चरित्रका परित्याग नहीं किया, जिसके मनमें काम-क्रोधादि शान्त नहीं हुए, जिसका मन एकाग्र नहीं हुआ, जिसके मनमें नाना प्रकारकी सिद्धियोंकी लालसा है—उसका ज्ञान-विज्ञान चाहे जितना भी बड़ा हो—प्रज्ञान ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अतः आप अपने विवेकपर ध्यान दीजिये कि आपका सुख कहाँ है, दुःख कहाँ है ? क्या आत्माके अतिरिक्त और सब अनित्य है, जड़ है, दुःख है—यह बोध आपको हुआ ? तब आप आत्माको नित्य, चेतन और सुख-रूप जान सकेंगे। यदि आप 'अहं ब्रह्मास्मि'–बृहदारण्यक उपनिषद्के इस प्रसङ्गको समझेंगे—

तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम्। (बृ० ४.५.१९)

कि आपके भीतरसे झाँकनेवाला, कानके भीतरसे सुननेवाला, त्वचासे छूनेवाला, नाकसे सूँघनेवाला, जिह्वासे चखनेवाला—एक है कि अनेक है ? इन्द्रियाँ अनेक हैं, आप एक हैं। आपका मन घड़ा-कपड़ा देखता है और घड़ा-कपड़ा अलग-अलग है, आप एक हैं। घटाकार-पटाकार वृत्ति अलग-अलग है और आप एक हैं। यह जो आपका एकत्व है, वह चेतन है और उसमें न पूर्व, न पश्चिम, न बाहर है, न भीतर और न दूर है, न निकट है।

भाई, जिसके लिए महात्मा लोग इतना त्याग करते हैं, इतना वैराग्य करते हैं, इतना चिन्तन-मनन करते हैं—उसके लिए आपने तो झट ऐसे पूछ दिया जैसे कोई घास-फूस हो और अब चले जायेंगे अपनी ड्रेसकी

दुकान पर ! तो चार ड्रेस ही बनवा लीजिये ना—एक 'प्रज्ञानम् ब्रह्म'की ड्रेस हो, एक 'अहं ब्रह्मास्मि'की, एक 'तत्त्वमसि'की और एक 'अयमात्मा ब्रह्म'की और पूरी कीमत लेकर, गुरु-दक्षिणा लेकर ड्रेस दे दिया करें और फिर वे पहनकर बोला करें—अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि। नहीं भाई, ऐसे नहीं होता है। इसके लिए विवेक करना पड़ता है और विवेकसे जो अनित्य है, जड़ है, दुःख-रूप है—उससे वैराग्य करना पड़ता है और अन्तःकरणमें काम-क्रोधादिका परित्याग करना पड़ता है, इन्द्रियोंको शान्त करना पड़ता है, कर्मसे उपराम होना पड़ता है, दुःख सहने पड़ते हैं, अभिमान छोड़ना पड़ता है और एकाग्र चित्तसे चिन्तन करना पड़ता है।

जिन बन्धनोंको आप बहुत प्यारा समझकर बँधे हुए हैं, उनको छोड़ना पड़ता है। आपको सुनाता हूँ—एक महाराजाके घर मैं गया था। तो महारानी जब चलतीं तो उनकी एक दासी उनके दाहिने और एक दासी उनके बायें—जो उनके ओढ़नेकी चादर होती उसको उठाये-उठाये चलती और एक दासी उनके आगे-आगे चलती इधरसे महारानीजी, इधरसे महारानीजी, अन्नदाता, घणीखमा—तो ऐसे नहीं। फिर मैंने उनसे कहा कि पुराने ढंगके आभूषण कैसे धारण किये जाते थे ? सो उन्होंने बताया। पाँवके नाखूनसे लेकर पञ्जे तक और टखनेसे लेकर घुटने तक ५-५ सेरके। सोनेके और हीरेके जेवर। पाँच सेरके दाहिने पाँवमें, पाँच सेरके बायें पाँवमें और इतना ही हाथमें माने कम-से-कम उनके शरीरपर जेवरका बीस सेर बोझ और उनका पाँव बँधा, हाथ बँधा, सिर बँधा, चोटी बँधी और इस बन्धनसे वे खुश होती हैं, इसको अपने गौरवकी वस्तु समझती हैं।

यह हम महारानीका वर्णन नहीं कर रहे हैं, हम तो आपका वर्णन कर रहे हैं। आप ही वह महारानी हैं, जो बीस किलो नहीं, करोड़ों किलो बोझ अपने सिरपर लेकर रखते हैं और अपनेको बड़ा-भारी गौरवान्वित समझते हैं। तो जब मुमुक्षा होगी—मुमुक्षा माने जिन बन्धनोंमें आप बँधे हुए हैं—संसारकी वस्तुओंका बन्धन अलग है, व्यक्तियोंका बन्धन अलग है, सम्बन्धोंका बन्धन अलग है—तब इन बन्धनोंसे मुक्त होना चाहेंगे। और तब आपको इन महावाक्योंके अर्थका पता चलेगा।

हीरे तो बहुत हैं परन्तु यह मेरा हीरा, यह मेरा हीरा; स्त्री भी बहुत होती हैं परन्तु यह मेरी स्त्री, यह मेरी बेटी, यह मेरी बहन—

बँध गये ना आप ? और मान्यताओंका बन्धन—हम हिन्दू, हम मुसलमान, हम आर्य-समाजी, हम सनातन-धर्मी—इन सब मान्यताओंके बन्धनसे भी जब आपके मनमें छूटनेकी इच्छा होगी, मुमुक्षा होगी तो आप सद्गुरुकी शरणमें जायेंगे और हाँ, गुरुके पास पाँच-सात दुःख लेकर नहीं जाया जाता, केवल एक दुःख लेकर कि महाराज, मैं सत्यको नहीं समझता और मुझे सत्यका अनुभव नहीं—जाया जाता है। इस तरह जब सत्यका अनुभव नहीं होगा, आपको खटकेगा और उस बन्धनसे, उस जेलखानेसे आप छूटना चाहेंगे, तब सद्गुरुकी शरण होकर आप श्रवण करेंगे। श्रवण माने कानसे सुनना नहीं होता, श्रवण माने होता है—निश्चय।

सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य इन चारों महावाक्योमें इकट्ठा किया हुआ है और चारोंका अर्थ बिल्कुल एक है, नहीं तो उन्मत्त प्रलाप हो जाये, पागलका बोलना हो जाये। तो जब आप श्रवण करेंगे; तब इसका निश्चय होगा। और उसमें कोई संशय होगा तो मनन करके उसका निवारण करना पड़ेगा, बार-बार विपर्यय आवेगा तो उसको दूर करनेके लिए निदिध्यासन करना होगा और जब ब्रह्मात्मैक्य-प्रमा होकर भ्रमकी निवृत्ति होगी, तब इन महावाक्योंके अर्थका साक्षात्कार होगा।

अब, आप इन महावाक्योंके अर्थको—घास-फूस तो क्या कहें—सोडेकी बोतलकी तरह या चाय पीनेकी तरह या कि चौपाटीपर जाकर भेल-पूड़ी खाकर आनेकी तरह—तुरन्त पाना तो बात दूसरी है। इसीसे जिन लोगोंको इस तत्त्वकी जिज्ञासा नहीं है, वे सचमुच इसको मनोरंजनका एक साधन समझते हैं या यह समझते हैं कि हम बड़े चतुर हैं—पैसा कमा रहे हैं, भोग भोग रहे हैं और ये बेवकूफ, किस्मतके मारे रास्तेमें भटकते हैं और भूखों मरते हैं; न उनके पास पहननेको कपड़ा है और न बिछानेको!

तो नारायण, जिनको आप बेवकूफ समझते हैं, उनको जब अपनेसे बड़ा ज्ञानी समझकर, उनके चरणोंकी शरण ग्रहण करेंगे और श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे, तब इन महावाक्योंका जो अर्थ है, उसका आपको साक्षात्कार होगा और तब आप साक्षात् परमानन्द होंगे—इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है।

•

प्रार्थना क्यों ?

प्रश्न : जब आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, दोनों एक ही हैं, तब प्रार्थना किसलिए की जाये ? कृपया समझायें !

उत्तर : आप बिल्कुल प्रार्थना मत कीजिये, क्योंकि आपको तो इतना ऊँचा ज्ञान हो गया कि आत्मा और परमात्मा एक ही है और सारी-की-सारी प्रार्थना की ही इसलिए जाती है। तो जब आपको बिना प्रार्थनाके ही यह ज्ञान हो गया तो आपको प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही क्या ?

आपका ज्ञान आपको मुबारक रहे—आप प्रार्थना मत कीजिये और आपको प्रार्थना करनेके लिए कोई कहेगा भी नहीं।

लेकिन, आपको ज्ञान नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि आप तो प्रश्न करते हैं कि प्रार्थना क्यों की जाये ?

माने थोड़ा धुक्-धुक् है मनमें, थोड़ी दुविधा है मनमें। तो बाबा, पहले प्रार्थना की जाती है, पीछे ज्ञान होता है, ऐसा है। ऐसा नहीं है कि पहले आत्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान हो जाये, तब प्रार्थना की जाये।

प्रार्थना बहुत महत्त्वपूर्ण है। देखो, आज दुनियामें जो सबसे बड़ा मजहब है—बहुमतकी दृष्टिसे ईसाई - मजहब, उसमें ईश्वरकी प्रार्थना ही तो है ना ? प्रार्थना और सेवा—दो चीजको छोड़कर ईसाई-मजहबमें तीसरी चीज और क्या है ?

और देखो, बौद्ध-धर्म कितना बड़ा है दुनियामें। तिब्बतमें तो उसका असर है ही, कम्युनिस्ट हो जानेपर भी, चीनमें भी उसका असर है—वहाँ भी सब 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' ही बोलते हैं—वहाँ भी प्रार्थनाका महत्त्व है।

आप भी अपने जीवनमें एक सर्वोत्कृष्ट जो सबसे बड़ा है—का निश्चय कीजिये और उससे प्रार्थना कीजिये। 'हे सर्वोत्तम प्रभो, आप हमारे सामने प्रकट हो जाइये और अपना नित्य-शुद्ध-बुद्ध-रूप हमें दिखलाइये।

हे प्रभो—'असतो मा सद् गमय' मैं असत्यमें फँस गया हूँ, मुझे सत्यका अनुभव कराइये। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' मैं अज्ञानान्धकारमें भटक गया हूँ, मुझे प्रकाशका दर्शन कराइये। 'मृत्योर्मामृतं गमय' मैं मृत्युमें फँस गया हूँ, मुझे अमृतका आस्वादन कराइये।

प्रार्थना कीजिये और अपनी दीनता-हीनताका भगवान्के सामने निवेदन कीजिये। एक बार अपनी दीनता-हीनता भगवान्के सामने रखकर देखिये तो 'हे हरि हौं सब पतितनको राजा' और 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कहकर देखिये तो!

तो बोले कि महाराज, क्या रोज-रोज खल-कामी, खल-कामी बोलनेसे नेगचार हो जाता है?

वर्षों तो बोलते हो गये—'मैं मूरख खल-कामी, मैं मूरख खल-कामी' पर न मूर्खता छूटी और न खलता छूटी और न काम छूटा!

तो बोले कि तुम अपनी अयोग्यता भगवान्के सामने रख दो—और 'जेहि जाचक जाचकता जरि जाय'—तुम भगवान्के गुणोंका, भगवान्के स्वभावका चिन्तन करो। भगवान्से प्रार्थना करो कि हे प्रभो, अपना प्रेम दो, अपनी भक्ति दो, अपना ज्ञान दो—ऐसा करो कि मेरा मन आपमें लग जाये।

प्रभुके स्वभावको देखकर चुप हो जाओ। चुप हो जाना, बड़ी भारी प्रार्थना है। आप बिना कुछ माँगे रह सकते हैं? आप बिना कुछ सोचे रह सकते हैं? जरा पाँच मिनट ईश्वरके सामने निःसंकल्प होकर बैठिये तो!

जब ईश्वर देखेगा कि अरे, इसको तो कुछ नहीं चाहिए, तो आपको सब दे देगा और जब आप उससे कुछ चाहते हैं, तब वह समझता है कि भिखारी है, दे दो इसको पाँच-दस और विदा करो यहाँसे। जब आप कुछ नहीं चाहते हैं तब तो ईश्वर अपने-आपको ही दे देता है भला! सुनो एक कहानी।

एक राजा था। वह गया विदेश। वहाँसे उसने अपनी रानियोंको चिट्ठी लिखी—तुम्हें जो चाहिए, सो लिखकर भेजो, हम यहाँसे ले आयेंगे।

सब रानियोंने अपने लिए कुछ-न-कुछ मँगवाया, एक रानीने चिट्ठीमें 'एक'की संख्या लिखी और उसे भेज दिया उसने।

राजा स्वदेश लौटा और उसने सब रानियोंके घरमें उनकी मँगायी चीजें भेज दीं और स्वयं उस रानीके घरमें गया जिसने अपने पत्रमें 'एक' लिखकर भेजा था।

बोला—मेरी समझमें नहीं आया कि तुम्हें क्या चाहिए था? यह 'एक'का क्या अर्थ होता है?

रानीने कहा—एकका अर्थ होता है—आप। आप मुझे चाहिए थे—आप मिल गये।

तो भई, एकबार खाली दिलसे, खाली दिमागसे आप ईश्वरके सामने जाइये तो!

आप तो ईश्वरको दलाल मानते हैं—वह भी काहेके लिए? पैसा दिलवानेके लिए, ब्याह करानेके लिए, बेटा दिलवानेके लिए।

भगवान्‌के सामने गये और बोले—हमको बेटा चाहिए। चुप रहे भगवान्। फिर बोले—एक वर्षके भीतर चाहिए।

फिर बोले—महाराज, जरा स्वस्थ हो, सुन्दर हो, दीर्घायु हो, आज्ञाकारी हो, विद्वान् हो!

माने आप ईश्वरको अपना नौकर रखना चाहते हैं, अपने मनका काम ईश्वरसे कराना चाहते हैं।

प्रश्न यह है कि आप ईश्वरको नौकर रखना चाहते हैं या स्वयं उसके नौकर होना चाहते हैं?

जरा ईमानदारीसे आप अपनी ओर निहारिये तो!

आप क्या चाहते हैं? क्या करते हैं? वास्तवमें ईश्वरसे प्रेम होना ही ईश्वरकी प्रार्थना है।

•

: ३२ :

लड़ाई-काहेकी ?

प्रश्न : मेरी तीन देवरानी, एक सास और एक दादी सास हैं। दादी-साक्षात् देवी हैं; पर बाकी हम सबमें झगड़ा होता रहता है। घरकी यह अशान्ति और दुःख कैसे मिटे—कृपया बतायें !

उत्तर : ऐसा है कि जब आपके घरमें कोई बढ़िया चीज खानेकी आवे अथवा बने तो आप पहले सबको खिलाकर बचे तो खाइये, नहीं तो खिलाकर ही खुश हो जाइये।

कोई नयी साड़ी आवे तो पहले सबके सामने रखकर उनको पसन्द करा लीजिये; जो जिसको भावे, वह उसको दे दीजिये और फिर जो बच जावे, उसे आप पहनिये।

अर्थात् पहली बात यह हुई कि बढ़िया-बढ़िया चीज दूसरोंको मिले—इसका ध्यान रखिये।

दूसरी बात—निकम्मे मत बैठिये। निकम्मे बैठनेमें बड़ा दुःख है। यह लड़ाई-झगड़ा आता ही निकम्मेपनके कारण है। जिस समय कोई जरूरी काम नहीं होगा, उस समय लोग एक दूसरेसे लड़ेंगे-झगड़ेंगे। इसलिए हर समय कोई-न-कोई काम करते रहिये।

मैं एक स्त्रीको जानता हूँ—नाम नहीं लेता, हर समय कुछ-न-कुछ करती रहती हैं। सुबह पाँच बजे उठकर स्नान करती हैं, शङ्करजीकी पूजा करती हैं, अपने गुरुदेवको प्रणाम कर आती हैं, फिर गरीबोंको बाँटनेके लिए अपने हाथसे थोड़ी रोटी बनाती हैं, माला फेरती हैं, पाठ करती हैं, अपने हाथसे बुनती रहती हैं और गरीबोंको बाँटती हैं—मुझे भी उन्होंने अपने हाथसे बुनकर एक कम्बल दिया है।

माने जितना समय मिलता है, उनका हाथ चलता ही रहता है, लिखती हैं, बच्चोंको सम्हालती हैं, पतिको सम्हालती हैं, व्यापारकी कोई बात होती है तो वह भी कर लेती हैं—उनके जीवनमें खाली रहनेका कोई नामोनिशान नहीं है।

आप भी अपनेको निरन्तर अच्छे काममें लगाये रखिये। लोगोंके हितका काम हो तो बहुत ही बढ़िया—नहीं तो अपनेको पूजा-पाठमें ही लगाये रखिये।

तीसरी बात—बोलिये कम-से-कम। अधिक बोलनेवाला ज्यादा दुःख पहुँचाता है, ज्यादा झूठ बोलता है और ज्यादा थकता भी है। थकना केवल शक्तिके अपव्ययसे या केवल दैहिक कर्मसे ही नहीं होता है। ज्यादा बोलनेसे भी होता है।

जो ज्यादा बोलता है, अनावश्यक बोलता है उसकी शक्ति और बुद्धि दोनों क्षीण होती जाती हैं और उससे लोग घबड़ाने लगते हैं, क्योंकि जो वे नहीं सुनना चाहते, वह भी उनको सुनना पड़ता है। इसलिए, जहाँतक हो सके—बोलिये कम।

चौथी बात—यदि आप घरकी कलहसे, लड़ाईसे बचना चाहें तो सहते चलिये, सहते चलिये।

एक बहन आया करती हैं—उसकी सास उसको बहुत सताती हैं; एक दिन सास खुश थीं तो उसने पूछा— माँजी, आप मुझे इतना क्यों सताती हैं?

वे बोलीं—मैं तुमको क्या सताती हूँ, जो मेरी सास मेरे साथ करती थी, वह तुम्हें क्या मालूम?

तो भाई मेरे! लोक-व्यवहार ऐसा ही है, इसमें तो जो सहेगा, वही सिद्ध हो जायेगा।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहा करते थे-बर्दाश्त करना सबसे बड़ी सिद्धि है। जीवनमें जो बर्दाश्त कर लेगा वह सिद्ध हो जायेगा। उसके जीवनमें संकल्पकी सिद्धि हो जायेगी।

क्या आप जानते हैं कि दूसरेको आपसे कितना सहना पड़ता है? आप पाँव धमाधम करके चलते हैं—दूसरोंको सहना पड़ता है। आप गिलास, कटोरा रखते हैं और वह खन्नसे बोल जाता है—वह दूसरोंको

सहना पड़ता है। आप दरवाजा बन्द करते हैं और वह खट् बोल जाता है और दूसरोंको सहना पड़ता है। तो जब दूसरे सब आपको सहते हैं तो आप भी सबको सहते चलिये ना !

पाँचवीं बात—यदि दूसरा आपकी बातको काट दे, अथवा जो आप सुनाना चाहते हैं, वह नहीं सुनना चाहे, तो आप उसको वह बात मत सुनाइये। उसके लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। हाँ, वह आपकी बात सुनकर कुछ सीखे, कुछ करे तो और बात है। दूसरेको जो सुनाना जरूरी है, वही उसको बोलिये। घरमें जो लड़ाई-झगड़ा होता है, वह ज्यादातर जुबानके दोषसे ही होता है। इसलिए बहुत सावधानीसे इसका प्रयोग कीजिये।

आप बहन हैं—एक बात आप सुन लीजिये—आप बहुत मीठा बोलिये। इससे आप सुननेवालोंका कान पकड़ लेंगी और वे आपके चलाये चलने लगेंगे और खूब बढ़िया-बढ़िया, मीठा-मीठा जैसा जिसको अच्छा लगता है—खिलाइये। इससे आप उनकी जीभ पकड़ लेंगी, और वे आपके लिए बुरा नहीं बोलेंगे।

(i) दूसरेकी जीभ पकड़नेके लिए उसको उसकी पसन्दका भोजन देना चाहिए; (ii) दूसरोंको नचानेके लिए, उसके कानके लिए मीठी आवाज देनी चाहिए, कड़ुआ कभी मत बोलिये।

ये दो गुण यदि आप अपने जीवनमें धारण कर लें तो आपके घरमें कोई तकलीफ नहीं आयेगी और परस्परकी जो लड़ाई है—वह भी मिट जायेगी।

आप देवरानियोंको अच्छी साड़ी दीजिये। आप सासजीसे पूछ लीजिये ना कि आज घरमें कौन-सी दाल बने—मूँगकी बने कि अरहरकी बने कि उड़दकी बने। कहीं जाना हो तो भी पूछ लीजिये कि मैं जाऊँ और कौन-सी साड़ी पहनूँ ?

यह पराधीनता नहीं है—यह तो आपके जीवनमें संयम है, इससे आपकी वासना कम होगी। पूछ करके, सलाह करके काम कीजिये ना ? लड़ाई काहेकी ?

न्याय-प्राप्तिका उपाय

प्रश्न : अन्यायके सामने न्यायको झुकना चाहिए कि नहीं ? कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि न झुकनेपर न्यायकी स्थिति ही खतरेमें आ जाती है। ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिए, कृपया बतलायें !

उत्तर : हमारा कहना है कि पहले इस बातका पता लगा लेना चाहिए कि आप अपनी बुद्धिसे जिसको अन्याय मानते हैं, वह भगवान्की दृष्टिमें अन्याय है कि नहीं। क्योंकि, जिसके दिमागमें न्यायका जैसा रूप भर दिया जाता है, वह उसी रूपको न्याय मानकर बैठ जाता है, दुराग्रही हो जाता है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आप अपनी न्याय-बुद्धिकी जाँच कर लें कि वह सच्ची है और यों ही कहींसे सुनी-सुनायी बात नहीं है।

अब, आप यह देखें कि न्याय एक ही रीतिसे मिलता हो, सो बात नहीं है। कहीं न्याय प्रेमसे मिलता है, कहीं युद्ध करनेसे मिलता है, कहीं रूठनेसे मिलता है, कहीं त्यागसे मिलता है, तो कहीं सामनेवाला यदि कमजोर होता है तो दबाकर, डाँट-फटकारकर लिया जाता है कि हम यह अन्याय नहीं होने देंगे, तो कहीं दबकर जब सामनेवाला बहुत शक्तिशाली हो तो उसके सामने झुककर न्याय लिया जाता है—आप झुक जाइये, न्याय भी झुक जायेगा, कभी-कभी न्याय लेनेके लिए सत्याग्रह भी करना पड़ता है।

कहनेका मतलब यह है कि जहाँ, जिस ढङ्गसे न्याय मिलनेकी सम्भावना हो, उसी ढङ्गको अपनाना चाहिए। और कभी भी न्याय-प्राप्तिके लिए मूर्खताको नहीं स्वीकारना चाहिए। अपनेको मूर्ख बनाना, अपने ही ऊपर सबसे बड़ा अन्याय करना होता है। इसलिए, न्यायकी सच्ची जानकारी होनी चाहिए, केवल सुनी-सुनायी बात न हो कि कौआ कान ले गया और डंडा लेकर दौड़ पड़े कौवेके पीछे। ऐसा नहीं होना चाहिए। अवसरके अनुसार न्याय प्राप्त करनेमें आपको कभी दुःख नहीं होगा। कहीं हँसकर न्याय लीजिये, कहीं रोकर, कहीं बोलकर और कहीं चुप रहकर। 'स्वकार्यं साध्यते विद्वान्'—विद्वान् पुरुष अपना काम जैसे बनता है बना लेता है।

अपने कामको बिगाड़ना मूर्खता है और न्यायके नामपर संघर्ष, युद्ध, वैमनस्य मत बढ़ाइये, बल्कि चतुराईके साथ न्याय प्राप्त कीजिये।

: ३४ :

नारीका कर्त्तव्य

प्रश्न : एक बहन पूछ रही हैं कि आजके पुरुष प्रायः बहुत ही स्वार्थी, कामी एवं कठोर प्रकृतिके लगते हैं। ऐसेमें, आजके युगमें अपने पतिके प्रति, समाजके प्रति और राष्ट्रके प्रति नारीका क्या कर्त्तव्य है—कृपया समझायें !

उत्तर : बहनजी, आपको जरूर ही कष्ट होगा, पीड़ा होगी। आपकी पीड़ाके प्रति हम सहानुभूति रखते हैं। आपके अनुभवको तो हम झुठला नहीं सकते; पर आपको दुःख मिटानेके कुछ उपाय बताते हैं।

एक सास हैं। अभी जिन्दा हैं, उनकी बहू भी है। बेटेको घर लौटनेमें बहुत देर होती थी तो बहू बहुत दुःखी होती ! रोज ऐसे ही होता।

एक दिन सासने बहूसे कहा—बहू देख, घरके भीतर जबतक वह रहता है, तुम्हारा पति है, तुम्हारा है—उसको खिलाओ-पिलाओ, उसको प्यार करो, उसकी सेवा करो, लेकिन जब वह घरसे बाहर चला जाता है तब उसका पीछा मत करो, उसके साथ सी० आई० डी० मत लगाओ, उसकी जाँच-पड़ताल मत करो !

यदि अपने जीवनको सुखी रखना है तो उसको फैलाओ मत ! वस्तुतः वैवाहिक जीवन फैलानेके लिए नहीं, समेटनेके लिए होता है। अपने मनको बहुत फैलानेका अर्थ ही अपने जीवनमें दुःख बुलाना होता है। इसलिए, हमें अपने मनको समेटना चाहिए, उसको बहुत फैलावेंगे तो कहीं-न-कहीसे उसमें दुःख निकल ही आवेगा।

दूसरी बात—आपको अपने धर्मकी फिक्र ज्यादा करनी चाहिए—हम अपने धर्मका ठीक पालन कर रहे हैं कि नहीं ? यदि दूसरेके धर्मकी ज्यादा फिक्र करेंगे, तो आपके जीवनमें जो त्रुटि होगी उसका दुःख तो

रहेगा ही, दूसरेके जीवनमें जो त्रुटि होगी, उसका दुःख भी आपके हृदयमें आजायेगा और इससे आपका दुःख डबल हो जायेगा। तो आप अपने हृदयमें पाप मत आने दीजिये, दुःख मत आने दीजिये और दूसरा आदमी आपके मनके अनुसार चले यह जो संकल्प है, इसको आप छोड़ दीजिये यह आपको दुःखी करता है।

इसके लिए आप ऐसा सोचिये ना कि आप दोनोंके पूर्व-जन्म अलग-अलग हैं, दोनोंके जन्म-स्थान अलग-अलग हैं, दोनोंके माता-पिता अलग-अलग हैं, सङ्ग-साथ अलग-अलग है, पढ़ाई अलग-अलग हुई है—तो ऐसी स्थितिमें दो मन एक साथ जुड़कर एक तरहका काम करेंगे ऐसी आशा रखनेमें ही बहुत बड़ी त्रुटि है।

इसलिए, आप अपने धर्मका पालन निष्ठापूर्वक कीजिये और दूसरा अपने धर्मका पालन नहीं करता है तो उसको मत करने दीजिये।

तीसरी बात है कि आप अपने पतिकी सेवा तो कीजिये ही; साथ-साथमें अपने सास-ससुर, ननद-देवरकी भी सेवा कीजिये। आपके पास समय हो तो आपकी जाति, आपके प्रान्त, आपके राष्ट्र, हिन्दुत्व, ब्राह्मणत्व, सन्यासित्व और पूरी मानवताकी भी सेवा कीजिये। परन्तु बहनजी, आप दूसरेको धर्मनिष्ठ बनानेकी कोशिश मत कीजिये, इससे आपको तकलीफ होगी; आप स्वयं धर्मनिष्ठ बनकर अपने सम्पूर्ण धर्मका पालन करें और उसको जितना उदार बना सकें बनावें।

यदि आप सबके बच्चोंको अपना समझकर प्यार देंगी, अपने माता-पिताके समान ही सास-ससुरको मान-सम्मान देंगी, अपने घरमें जैसी स्वच्छता रखना चाहती हैं, वैसी ही स्वच्छता प्रान्त और देशमें भी रखना चाहेंगी, अपने शरीरको जैसा स्वस्थ रखना चाहती हैं, वैसा ही समग्र मानवताके प्रति स्वस्थताका भाव रखेंगी, तो आपको इसी जीवनमें और जहाँ आप हैं, वहाँ ही परमात्माका साक्षात्कार हो जायेगा।

इसलिए बहनजी, आप अपनी ओर नजर रखो, दूसरेकी ओर नजर रखना जरा कम करो। इससे आपका दुःख मिट जायेगा और आपको सच्चे सुखकी प्राप्ति होगी।

●

: ३५ :

मौनकी आवश्यकता

प्रश्न : मनको स्वस्थ रखनेके लिए क्या मौनकी आवश्यकता है ?

उत्तर : देहको स्वस्थ रखनेकी जरूरत है ना ? यह मन भी एक देह ही है। जिसका मन स्वस्थ नहीं रहेगा, उसका देह भी स्वस्थ नहीं रहेगा।

देहको स्वस्थ रखना क्या है ? जब देहको किसी दूसरी चीजकी जरूरत नहीं मालूम पड़े—दवाकी भी नहीं, विश्रामकी भी नहीं, तब आप समझें कि आपका शरीर स्वस्थ है, कर्मरत है। इसी प्रकार जब आपके मनको भी किसी दूसरेकी जरूरत नहीं मालूम पड़े तब उसे स्वस्थ समझिये। परन्तु, यदि आपका मन किसी दूसरेके घर जानेके लिए, सिनेमा देखनेके लिए, किसीसे मिलनेके लिए लालायित होता है तो उसका मतलब होता है कि आपका मन अभी अपनेमें तृप्त नहीं है। वह कुछ पाकर, कुछ उधार लेकर, कुछ भीख लेकर, पराये घरमें रहकर सुखी होना चाहता है, स्वस्थ होना चाहता है।

स्वस्थता क्या है ? अपने आपमें रहना ही स्वस्थता है। 'स्व' माने अपना और 'स्थ' माने रहना। माने अपने आपमें रहना। यानि जो अपने आपमें रह रहा है वह स्वस्थ है और जो दूसरेमें रह रहा है वह अस्वस्थ है। तो अस्वस्थताको आप पहचानिये। आपका मन ज्यादा करके दूसरोंके घरमें रहता है। स्त्रियोंको जब अपने घरमें आराम नहीं

मिलता है तब वे पड़ोसीके घरमें या फिर दुकानोंमें जाकर बैठ जाती हैं। इसी तरह पुरुषोंको भी यदि अपने घरमें उद्वेग होता है—स्त्री टोकती रहती है अथवा बच्चे उच्छृङ्खलता करते रहते हैं, माँग बढ़ाते रहते हैं तो वे थोड़ी देर क्लबमें चले जाते हैं या घूम-घाम आते हैं और अपनेको सुखी अनुभव करते हैं।

अस्वस्थता क्या है? दूसरेके घरमें जाकर अपनेको सुखी अनुभव करना; अपने आप घरमें दुःखी होना अस्वस्थता है। इससे बचनेके लिए या तो आप अपने घरमें बैठ जाइये या एक साथ यानि भगवान्‌के साथ विवाह कर लीजिये। सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ या तो एक परमात्माके आश्रित रहने लगें या अपने स्वरूपमें स्थित हो जायें, परमात्माके साथ विवाह कर लें या ब्रह्मचारिणी रहें। स्वस्थ रहनेके लिए, सिवाय इसके और गति नहीं है।

आप अपनेको बिल्कुल ठीक रखिये, बिल्कुल स्वस्थ रखिये। यह जो हमारे मनमें शोक होता है, भय होता है, मोह होता है सब नामसझीका लक्षण है। होता क्या है कि इस समय जो अच्छा काम है, वह तो हम करते नहीं हैं और दूसरेसे कहते हैं कि हम मर जायें तो यह कर देना। तो, जब हमने अपनी जिन्दगीमें वह काम नहीं किया तब, हमारे मरनेके बाद दूसरे लोग वह काम कर देंगे—ऐसा हमारा सोचना भी गलत है दूसरे लोग वह काम बिल्कुल नहीं करते हैं। इसीलिए लोग कहते हैं कि जो करना है सो अपने जीवनकालमें ही कर लेना चाहिए। मान लें, किसी महात्माके बारेमें आपको प्रचार करना है; तो उसके रहते-रहते यदि करते तो देखकर वह भी खुश होता। उसके मरनेके बाद करेंगे तो क्या करेंगे!

देखो, एक सच्ची घटना सुनाते हैं। वृन्दावनमें एक महात्मा थे। उनका नाम था—ग्वारिया बाबा। बड़े सिद्ध महापुरुष थे और खूब मस्तीमें रहते थे। बड़े-बड़े रजवाड़े उनके शिष्य थे, परन्तु उन्होंने कोई कुटिया अपने लिए नहीं बना रखी थी और न ही कोई चेले-चेली अपने साथ रखते थे। कहीं भी खा लेते और कहीं भी सो जाते। एक दिन उन्होंने स्वयं कहींसे पर्चे छपवाकर मँगवा लिये और लोगोंके हाथसे पर्चे वृन्दावनमें बँटवा दिये—शोक-समाचार—'ग्वारिया बाबाका देहावसान हो

गया। उनके लिए शोक-सभा आयोजित की गयी है।' समय और स्थान सब पर्चोंपर छपा हुआ था। उसके अनुसार चार बजे निम्बार्क पाठशालामें बहुत-से महात्मा जो अपनेसे उनको बड़ा मानते थे, वे भी और, और भी बहुत-से महात्मा इकट्ठे हुए, हजारोंकी संख्यामें जनता भी इकट्ठी हुई। सभापति बनाये गये। भाषण शुरू हुआ। ग्वारिया बाबामें क्या-क्या महानता थी कैसे महात्मा थे, कैसे जीवन व्यतीत करते थे। सब वक्ता, एकके बाद एक बोलने लगे। जब, अन्तमें सभापतिका भाषण होनेवाला था, ग्वारिया बाबा बीचमें उठकर खड़े हो गये।

लोगोंमें बड़ा कौतूहल हुआ कि ये ग्वारिया बाबा हैं सचमें या कि उनका भूत ? ग्वारिया बाबा बोले—'मैं ग्वारिया ही हूँ, भूत नहीं।' लोगोंने पूछा—'तो यह सब क्या हुआ, कैसे हुआ ?' तब बाबा बोले कि मेरे मनमें आया कि देखूँ, कैसे मेरे मर जानेके बाद तुमलोग लोगोंको मेरी महिमा गा-गाकर सुनाते हो, मेरे मरनेके बाद करते तो मुझको तो उसका मजा मिलता नहीं, मैं उससे वंचित ही रह जाता ना! इसलिए, मैंने ही पर्चे छपवाये और मैंने ही बँटवाये—यह सोचकर कि मैं भी वह मजा ले लूँ!

तो भाई मेरे, जो करना है, वह इसी जीवनमें कर लो। कलके लिए कुछ बाकी मत रखो। जो कल करना है उसको आज कर लो और जो आज करना है उसको उत्तराह्लमें नहीं, पूर्वाह्लमें ही—दोपहरके बाद नहीं दोपहरके पहले कर लो।

उठो, जागो! अपने मनको स्वस्थ रखो, अपने आपको स्वस्थ रखो। परायेका चिन्तन मत करो और आनन्द मनाओ!'

अब देखो, मौनका अर्थ होता है—न कुछ सोचना, न कुछ बोलना। पहली बात यह है कि मौन वाणीकी तपस्या नहीं है, मनकी तपस्या है; और आप गीतामें अच्छी तरहसे देख लें—

'मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनं आत्मविनिग्रहः'—तो यह जो तपस्या है—'मौनं आत्मविनिग्रह-भावसंशुद्धि'—हमारा भाव शुद्ध करती है। अतः मौनका अर्थ हुआ—मनका मौन।

आप देखिये, आपका मन किसका चिन्तन करता है। दुश्मनका चिन्तन करता है तो आपका मन दुश्मनके घर चला गया और बेटे-बेटी,

रिश्तेदारोंका चिन्तन करता है तो आपका मन रिश्तेदारोंके घरमें घूम रहा है और यदि आपका मन साधु-महात्मामें गया तो आपका मन सत्सङ्ग कर रहा है। यदि आपके मनको एक जगह बैठनेमें कोई उद्वेग है, कोई अशान्ति है—तो इसका अर्थ है कि आपका मन स्वस्थ नहीं है। हमारा शरीर जब दर्द करने लगता, तब हम कभी दाहिनी करवट लेटते हैं, कभी बायीं करवट लेटते हैं, कभी सीधे लेटते हैं और कभी उठकर बैठ भी जाते हैं। तो यह क्या है ? यह हमारे अस्वस्थ शरीरका लक्षण है। इसी प्रकार मनमें जब उद्वेग होता है तब वह कभी दाहिनेके घर, कभी बायेंके घर, कभी सामनेके घर और कभी पीछेके घर जाता है। यह उद्वेगका ही लक्षण है।

सो, मौन, क्या ? जब हमारा मन शान्त होकर अपने घरमें रहे और और परमात्माके सिवाय किसी दूसरेका चिन्तन न करे और अपने अन्तः-करणसे, अपने अधिष्ठानसे बाहर न जाये। परमात्मा यानि—'धियो यो नः प्रचोदयात्'—वह जो प्रेरक है, उसके साथ एक होकर रहे। कुछ लोग समझते हैं कि हमारा मन बहुत स्वस्थ है और हमारी बुद्धि तीक्ष्ण है। परन्तु कहाँ आपका मन है, कहाँ आपकी बुद्धि है और कहाँ आपकी स्वस्थता है ? एक जगह तो मन टिकता नहीं है। इसलिए, मनका मौन मौनका असली रूप है और उसको प्राप्त करनेके लिए हमें वाणीके भी मौनकी आवश्यकता है। क्योंकि मन बिना शब्दके कुछ सोचता नहीं है, कहीं जाता नहीं है। जितना भी ज्ञान है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' वह शब्दके द्वारा ही गृहीत होता है।

शास्त्रमें कहा गया है कि बिना शब्दके किसी ज्ञानका पता नहीं चलता है—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।

जितना भी ज्ञान होता है अथवा जितना भी मनमें सोचते हैं एक नम्बर, दो नम्बर, तीन नम्बर कहकर उसके लिए शब्दका उच्चारण करते ही हैं।

अब प्रश्न यह है कि हम मनको मौन करें, तब शब्द निकलना बन्द होगा अथवा शब्द निकलना बन्द करें तब मन मौन होगा ? तो मन तो अपने हाथमें है नहीं कि उसको हम पकड़कर कह दें अथवा रोक दें कि

बेटा, अब मत सोचो ! हाँ शब्दका उच्चारण जो कि वाणी, यानि कर्मेन्द्रियके द्वारा होता है उस कर्मेन्द्रियके द्वारा होनेवाले काम यानि वाणी—शब्दोच्चारणको हम अवश्य रोक सकते हैं। अतः वाणीसे आप शब्दका उच्चारण रोक दीजिये। अब जब शब्द रुक जायेंगे तब आपका मन भी मौन हो जायेगा। जिस प्रकार कमरेके किवाड़ बन्द कर लेनेपर अपनेको विश्राम मिलता है, उसी प्रकार जीभके किवाड़ बन्द कर लेनेपर मनको विश्राम मिलता है और यह विश्राम हमारे तन-मन-जीवन सबके लिए स्वास्थ्यदायक होता है।

ठीक वैसे ही, जैसे सोकर उठनेपर शरीरमें लघुत्व-हल्कापन मालूम पड़ता है और उस समय जो भी हम विचार करते हैं—अक्सर ठीक होता है। इसी प्रकार मौन रखनेके बाद हमारा मन बहुत हल्का होता है और जो हम विचार करते हैं—वह बहुत तत्त्वस्पर्शी होता है।

एक बार मैं करीब तेरह महीने तक मौन रहा। केवल एक बार घण्टे भर प्रवचन करना और बाकी समय मौन रहता। प्रवचनके सिवाय और कुछ नहीं बोलता। आपको बताऊँ—उस समय जैसी बुद्धि निखरी, बातें स्पष्ट हुईं वैसी पढ़कर याद करनेसे नहीं होती हैं। इसका मतलब यह होता है कि जब हम अपनी वाणीको रोक लेते हैं, तब मन भीतर सोचने लगता है और जब मन भीतर सोचने लगता है, तब भीतर जो परमात्मा भरा हुआ है वह उसमें आ जाता है। इसलिए वाणीको रोक देनेसे मनकी बाहरी गति रुक जाती है, वह अन्तर्भाव हो जाता है और उसे परमात्माका दर्शन होने लगता है।

उपनिषदोंमें तो यहाँ तक आया है कि—

'बिना बोले ही सारा-का-सारा प्रवचन कर दें।'

मौन जीवनमें बहुत उपयोगी है। इससे विचार भी बढ़ता है और शक्ति भी बढ़ती है। भोग करनेकी भी शक्ति बढ़ती है। किसी भी इन्द्रियपर नियन्त्रण मनुष्यके लिए कल्याणकारी ही होता है। यदि जिह्वापर हो, मनपर हो, तो कहना ही क्या है ?

•

: ३६ :

प्रेम अन्धा होता है

प्रश्न : कहते हैं कि प्रेम अन्धा होता है। कृपया बतायें कि हम प्रेम करें या न करें ?

उत्तर : प्रेम अगर करनेसे हो जाता तो फिर पूछना ही क्या रहता ? यह तो पहले हो जाता है, तब इसका पता चलता है। तभी तो इसे अन्धा कहते हैं। पर, यदि आप भगवान्‌से प्रेम करेंगे तो वह अन्धा नहीं होगा और भगवान्‌के सिवाय किसी भी दूसरेसे प्रेम करेंगे तो वह अन्धा होगा—क्योंकि आप ऐसी वस्तुसे प्रेम कर रहे हैं जो नाशवान् है, वह जायेगी तो आपको रुलाकर जायेगी और आप उसको छोड़कर जायेंगे तो रोयेंगे—'प्रियं त्वाम् रोदत्स्यति।' श्रुति भगवती कहती है कि दुनियामें तुम जिस किसीसे प्रेम करोगे, वह तुम्हारे बन्धन व रोदनका कारण बनेगी। यदि वह तुम्हारे पास रहेगी तो तुम्हें बाँधकर रखेगी और उसको छोड़कर तुम कहीं जा नहीं सकते। यदि वह जायेगी, तो रुलावेगी—'प्रियम् त्वाम् रोदत्स्यति।' रोद और रुद् दोनों धातुसे यह 'रोदत्स्यति' शब्द बनता है। संसारसे प्रेम करनेपर बन्धन और दुःख

दोनों प्राप्त होगा। संसारके प्रेमकी गति ही यह है कि जो इससे प्रेम करता है, वह फँसता ही है। पर, इससे ठीक विपरीत है—परमात्मासे प्रेम करना। परमात्मा न तो रहकर बाँधता है और न ही कहीं छोड़कर जाता है। इसलिए परमात्मा बाँधता भी नहीं है और रुलाता भी नहीं है। परमात्मामें न बन्धन है, न रोदन। वह परमानन्द-स्वरूप है, अपना आत्मा है। असलमें सच्चा प्रेम उसीसे होता है और सबसे तो नकली प्रेम होता है—भला!'

श्रुतिमें इसका विचार आया कि धनसे, पतिसे, पत्नीसे, देवताओंसे और सबसे प्यारा कौन है? तो वहाँ निर्णय हुआ कि धनसे, पतिसे, पत्नीसे, पुत्रसे—सबसे ज्यादा प्रिय अपना आत्मा है—

नवारे प्रत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मानस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
नवारे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥

तो 'अन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रियात्'—जो तुम दूसरोंसे प्रेम करते हो, उन सब दूसरोंसे ज्यादा प्रेम तुम्हारा किससे है? अपनी आत्मासे ही ना! हम अलग रहनेवाले ईश्वरसे भी प्रेम करते जाते हैं और सोचते रहते हैं कि इससे ईश्वर प्रसन्न होगा। पर, जरा सोचिये तो कि ईश्वरके प्रसन्न होनेसे क्या होगा? हम ही प्रसन्न होंगे। माने अन्तिम गति, अन्तिम निष्ठा जो होगी या आखिरी चोट जो लगेगी, वह इस बातपर लगेगी कि हम सुखी होंगे। इसीसे शास्त्रोंने सुखकी परिभाषा इस तरहसे की है—

अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखत्वम्।

हम पैसा क्यों चाहते हैं? सुखके लिए। धर्म क्यों चाहते हैं, सुखके लिए; पति, पत्नी, पुत्र, मकान क्यों चाहते हैं? सुखके लिए; ईश्वरकी भक्ति क्यों चाहते हैं? सुखके लिए। पर, प्रश्न यह है कि हम सुख क्यों चाहते हैं? हम सुख सुखके लिए चाहते हैं; हम सुख किसी दूसरी वस्तुके लिए नहीं चाहते हैं, किसी दूसरे व्यक्तिके लिए नहीं चाहते हैं। बाजार क्यों जा रहे हैं, मित्रसे मिलनेके लिए; मित्रसे क्यों मिल रहे हैं,

उससे पैसा लेना है; पैसा लेकर क्या करना है, पत्नीके लिए जेवर बनवाना है; पत्नीके लिए जेवर क्यों बनवाना है, पत्नी खुश रहेगी; पत्नीको खुश क्यों रखना है—वह खुश रहेगी तो हम खुश रह सकेंगे। परन्तु यह प्रश्न नहीं होता है कि आप क्यों खुश रहना चाहते हैं? प्रश्नकी अन्तिम सीमा, सुखकी अन्तिम निष्ठा, पराकाष्ठा अपने आपमें है, अपने आत्मामें है। इसलिए प्रेम माने तृप्ति; प्रेम माने परमानन्द।

प्रेम सकर्मक भी है और अकर्मक भी है। 'प्रयति इति प्रेमा'—प्रयति-प्रयते-प्रीणाति इति प्रेमा, प्रियते इति प्रेमा—'प्रीणाति'से जो प्रेम बनता है वह सकर्मक होता है और 'प्रियते'से जो प्रेम बनता है वह अकर्मक होता है। प्रेम माने तृप्ति। पर, तृप्ति, कहीं जड़ न हो जाये इसलिए प्यास भी चाहिए। प्रेमका पेट कभी भरता नहीं—और, और, और—

ऋषिं जुषामहे कृष्णतृष्णातत्त्वमिव स्थितं।

यह प्रीति क्या है? कृष्ण-तृष्णा! प्यारेके लिए प्यास और प्यारेकी प्यास। यदि प्रेममें तृप्ति हो जाये कि बस, अब और आगे नहीं, अब आगे नहीं तो प्रेम जड़ हो जायेगा, सीमित हो जायेगा। प्रेमके लिए प्यास चाहिए—और, और, और! अभी और, अभी और, अभी और। तृप्ति भी चाहिए। तृप्ति न हो तो प्रेम चाहेगा कौन? प्यास न होगा तो प्रेम बढ़ेगा कैसे? इसलिए प्रेममें तृप्ति और प्यास दोनों जरूरी है और जब प्रेम ईश्वरसे होता है तब हमारी सत्ता, हमारा ज्ञान, हमारा आनन्द—तीनों प्रेम रूप हो जाते हैं और हम परमात्मासे तादात्म्य—सत्-तादात्म्य, चित्-तादात्म्य, आनन्द-तादात्म्यका अनुभव करते हैं। पर, यदि बोध हो ही जाये, तब तो तादात्म्यकी भी आवश्यकता नहीं रहती, आप स्वयं ही आनन्द हैं।

•

: ३७ :

उपासनाकी विधि

प्रश्न : उपासना किसे कहते हैं ? इसकी विधि क्या है—कृपया समझायें !

उत्तर : 'उपासना' शब्दका प्रयोग गीतामें देवताकी उपासनाके लिए भी है, गुरुकी उपासनाके लिए भी है और भगवान्‌की उपासनाके लिए भी है। 'उप' उपसर्ग है और उपवेशनार्थ धातुसे उपासना शब्द बना है। अपने इष्टदेवके पास बैठनेका नाम उपासना है। इसे यों भी कह सकते हैं कि देवताकी सन्निधिमें, गुरुकी सन्निधिमें और ईश्वरकी सन्निधिमें बैठनेका नाम उपासना है।

उपासना निर्गुण भी होती है और सगुण भी होती है। उपासना निराकार भी होती है और साकार भी होती है। इसके अलावा एक ऐसा अद्वितीय परमतत्त्व है कि जिसमें उपास्य-उपासकका भेद होता ही नहीं है। तो, इसको आप यहाँसे आरम्भ करो कि देखनेमें तो वस्तु लगती हो दूसरी और हो जाये उसमें महत्त्व-बुद्धिकी स्थापना। जैसे, पकड़ते तो हैं बापकी अँगुलीपर कहते हैं कि बापको ही पकड़कर चल रहे हैं। ऐसे ही परमेश्वर बहुत बड़ा है। हमारा मन जो अल्प-अल्पमें, फँसा हुआ है, उसे वहाँसे निकालकर बड़ेमें ले जाना आवश्यक है। स्थूलमें-से निकालकर सूक्ष्ममें ले जाना आवश्यक है। अनित्यमें-से निकालकर नित्यमें ले जाना आवश्यक है। परिच्छिन्नमें-से निकालकर व्यापकमें ले जाना आवश्यक है। इसके लिए जो आलम्बन ग्रहण किया जाता है—वह होगा तो आपके सामने शालग्राम और आप कहेंगे कि ये चतुर्भुज नारायण हैं। ये ही कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता हैं। और देखनेमें तो लगेगा पत्थर पर, भाव करेंगे कि ये भगवान् हैं, देखनेमें गुरु लगेंगे मनुष्य और भाव करेंगे कि गुरु भगवान् हैं—इसका नाम हो जायेगा उपासना।

उपासनाके कई भेद होते हैं। इसके लिए कोई शालग्राम, शिवलिङ्ग आदि द्रव्यका आलम्बन लेते हैं, कोई प्रणाम आदि क्रियाका आलम्बन लेते हैं और कोई प्रणव आदि शब्दका आलम्बन लेते हैं—माने स्थूलका आलम्बन, सूक्ष्मका आलम्बन और आनन्दका आलम्बन। सामान्य रूपसे देवताकी उपासनाको भी उपासना कहते हैं और भगवान्‌की उपासनाको

भी उपासना कहते हैं। गुरुकी उपासना इसमें थोड़ी कठिन इसलिए पड़ती है कि गुरुमें भगवद्‌बुद्धि होनी आवश्यक है। नहीं तो, जैसे मूर्तिमें पत्थर-बुद्धि हो तो उपासना फलप्रद नहीं होती, वैसे ही गुरुमें यदि मनुष्य-बुद्धि होगी कि जैसा हड्डी-मांस-चामका हमारा शरीर है, वैसा ही गुरुजीका भी है, तो वह उपासनाकी कक्षामें नहीं आती।

गुरुकी उपासनाके लिए अपने मनको वहाँ ले जाकर बैठाओ जहाँ गुरु बैठता है, जहाँ उसकी स्थिति है—परब्रह्म परमात्मामें, सगुण ईश्वरमें असङ्ग द्रष्टामें, अखण्ड समाधिमें। माने गुरुको जो स्थिति प्राप्त है, उसको प्राप्त करनेका प्रयास करो, तो गुरुकी उपासना होगी। यदि इस विषयमें आपको विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो ज्ञानेश्वरी टीकामें, जहाँ 'आचार्योपासनम्' आया है, उसको विस्तारसे पढ़िये और, और भी अधिक जानकारी प्राप्त करनी हो तो उपनिषदोंमें जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी उपासनाएँ बतायी हैं—उनका अध्ययन कीजिये। भगवान्‌के साकाररूपकी उपासना देखनी हो तो पुराणोंमें देखिये!

वैसे, 'उपासना'का सीधा-सादा अर्थ है—अपने अन्तःकरणको दिव्य बनानेकी प्रक्रिया। अपने अन्तःकरणको भौतिक पदार्थोंसे नहीं, चिन्मय पदार्थोंसे भरपूर करना, ताकि अन्तःकरण ही चिन्मय हो जाये और चिन्मय अन्तःकरणसे जब तुम चिन्मयका ध्यान करोगे तो स्वयं तुम भी चिन्मय हो जाओगे। असलमें, ध्यानका ही नाम अन्तःकरण है। आप कौन हैं? जिसका आप ध्यान करते हैं आप वही हैं। आपका अन्तःकरण क्या है? जिसके ध्यानमें आप लगे रहते हैं वही आपका अन्तःकरण है, धनका ध्यान, मकानका ध्यान, बेटी-बेटेका ध्यान, नाती-पोतेका ध्यान, स्त्रीका ध्यान–माने आपका अन्तःकरण तत्तदाकार है और यदि आप भगवान्‌का ध्यान करेंगे तो आपका अन्तःकरण भगवदाकार हो जायेगा।

जैसा कि पहले बताया—उपासना कई तरहसे होती है। पर, जिसका गुरु जिसको जैसी उपासना बता दे, उसको वैसी ही करनी चाहिए; क्योंकि उपासना आलम्बनके रूपमें होती है। आलम्बन बदला नहीं जाता। ऐसा नहीं होता कि रामकी पूजा बहुत कर ली अब कृष्णकी करेंगे, अथवा कृष्णकी पूजा बहुत कर ली अब रामकी करेंगे। परमात्मा अचल है। इसलिए, जब, जहाँ तुम्हारी वृत्ति अचल हो जायेगी, तब, वहीं परमात्माके दर्शनकी योग्यता आ जायेगी। बस, महत्त्व-बुद्धि पूर्वक अपनी बुद्धिको एक आलम्बनमें स्थिर करनेका नाम ही 'उपासना' है। •

: ३८ :

भक्तिका प्रादुर्भाव

प्रश्न : हम कैसे जानें कि हमारे जीवनमें भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ है ? हमारे व्यवहारमें क्या परिवर्तन होना चाहिए, कृपया समझायें !

उत्तर : शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें यह बात कही गयी है कि हमारे अन्तःकरणमें राग और द्वेष—दोनों एक साथ नहीं रहते हैं, क्योंकि ये कार्य दोनों परस्परविरोधी हैं। इसलिए, यदि हम भगवान्‌के प्रति अपने हृदयमें राग रखना चाहें तो संसारमें किसी भी प्राणीके प्रति, वस्तुके प्रति, क्रियाके प्रति द्वेष नहीं होना चाहिए। द्वेष आग है और वह जिस हृदयमें रहता है उसमें आग जलती रहती है, धुँआ होता रहता है।

आपके घरमें कोई अतिथि आवेगा, कोई आपका प्रिय मेहमान आवेगा तो आप उसको आगकी भट्टीपर ले जाकर बैठायेंगे ? नहीं ना ? तो फिर जब आपके हृदयमें भगवान् रह रहे हैं तब, आप किसीसे द्वेष करके, अपने हृदयमें आग जलाकर उसको धुँआधार बनाकर उनको ताप क्यों रहे हैं ? भक्ति हमारे हृदयमें आरही है, इसका पता ही तब चलता है जब हमारे हृदयमें संसारके किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष नहीं रहता।

महात्माओंका हृदय आप देखेंगे ? संसारियोंके कामका तो नहीं है, पर सुना देता हूँ—एक महात्मासे किसीने दूसरे साधुकी निन्दा की—'महाराज, इनके पास तो स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ बैठी रहती हैं।' उन्होंने कहा—'ओ हो, लगता है उनके अन्दर श्रीकृष्णका अंश बहुत अधिक है, तभी तो स्त्रियाँ घेरे रहती हैं।

एकने किसी चोरको पकड़कर, महात्माके सामने खड़ा कर दिया—'महाराज, यह चोर है।' महात्माने तुरन्त हाथ जोड़ा, सिर झुकाया—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

इसमें श्यामसुन्दर, नन्दनन्दनका अंश बहुत अधिक है—जिसको ये छिपा नहीं पाते हैं—यह भी एक हृदय है।

कबीर साहब रास्तेमें चले जा रहे थे। कुछ लोगोंने एक वेश्याको धन देकर कह दिया कि इनको बदनाम करना है। अब वेश्या सड़कपर आगयी और उसने कबीर साहबका कपड़ा पकड़ लिया और कहने लगी—तुमने हमारे साथ ऐसा किया, ऐसा किया, ऐसा किया—अब हमारा निर्वाह करो। अब उसने तो पकड़ा था उनका कपड़ा और कबीर साहबने पकड़ लिया उसका हाथ—'चलो-चलो। चलो हमारे घरमें, निर्वाहकी क्या बात है? हम तुमको हमेशाके लिए अपने घरमें रखेंगे।' इतना सुनते ही वह बेचारी काँप गयी। बोली—'महाराज, क्षमा करना। दूसरोंके कहनेसे मैंने ऐसा किया, आपमें कोई दोष नहीं है।

एक चोर रातको भागता हुआ कबीर साहबके दरवाजेपर आगया। किवाड़ खटखटायी। कबीर साहबने किवाड़ी खोल दी। थरं-थरं काँपे—पुलिस पकड़नेके लिए पीछे आरही थी। भीतर ले लिया। बोले—'देखो, यह मेरी लड़की सो रही है, सो जाओ इसके साथ, मैं तुमको चादर ओढ़ा देता हूँ' वह सो गया। पुलिस आयी, पूछा उसने—'कोई चोर तुम्हारे घरमें आया है? कबीर साहबने कहा—'हमारे घरमें मेरी पत्नी है, मेरा बेटा है, मेरी लड़की है।' पुलिसने तलाशी की—'यह कौन है?' 'यह तो मेरा जँवाई है। सो रहा है ना लड़कीके साथ?'

तो सन्त वह होता है जो पापीसे पापीको भी अपने जवाँईकी तरह आदरसे रखता है; उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय कुछ होता ही नहीं है। आप अपने हृदयको क्यों बिगाड़ते हैं? भक्ति आपके हृदयमें आने लगी है इसकी पहचान यह है कि संसारमें बुरे-से-बुरेके प्रति भी आपके मनमें द्वेष न आवे—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक्॥

जो संसारमें कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीके बारेमें यह नहीं सोचे कि यह पापी है, वह भक्त है और आपके हृदयमें पाप बढ़ रहा है इसकी पहचान यह है कि—'पापी सर्वत्र पापम् आशंकते'—आप दूसरोंको पापी मानते हैं—माने—पापियोंसे आपकी इतनी पहचान है और वे आपके

हृदयमें इस तरह भरे हुए हैं कि जो भी आपके सामने आता है, आपको पापी दीखता है। गीतामें आप पढ़ते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

'सर्वभूतानाम्'का क्या अर्थ है कि प्राणी चाहे कैसा भी हो-सूअर हो, साँप हो, शेर हो। किसीके प्रति द्वेष न हो—साँपसे भी द्वेष नहीं, शेरसे भी द्वेष नहीं। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—सबके प्रति मैत्रीका भाव, सबमें भगवान्का दर्शन। सावधान रहकर आप अपने हृदयको ऐसा बनाइये और उसकी रक्षा कीजिये। जिस समय आपके हृदयमें द्वेषकी आग लगेगी, उस क्या आप भगवान्का चिन्तन कर सकेंगे? जिस कामसे अपने भगवान् ही भूल जाते हों, वह काम आप करेंगे? भक्ति एक रसकी वृत्ति है, रसात्मिका वृत्ति है, रसात्मिका भक्ति है—'रसरूपः परमात्मा।' माने रसस्वरूप परमात्मा जब हमारे हृदयसे एक होते हैं तब हमारी भक्ति आगे बढ़ती है।

१. अच्छा लो, भक्तिकी और पहचान बता देते हैं—

कोई कैसा भी अपराध करे उसके प्रति अपने हृदयमें क्षमाका भाव बना रहे।

२. अपना समय व्यर्थ न व्यतीत हो।

३. संसारमें किसीसे राग-द्वेष न हो।

४. विद्याका, बुद्धिका, जातिका, धनका, वर्णका, आश्रमका और प्रतिष्ठाका—कैसा भी अभिमान न हो।

५. भगवान् मिलेंगे—यह आशा बनी रहे, कभी न टूटे।

६. भगवान्से मिलनेकी उत्कण्ठा बनी रहे—अब मिलेंगे, अब मिलेंगे; कब मिलेंगे—जल्दी मिलेंगे।

७. काम करते समय भी भगवान्का नाम जीभपर आता रहे।

८. भगवान्के गुणोंके श्रवणमें, वर्णनमें प्रीति हो।

९. भगवान्के धाममें—वृन्दावन, अयोध्या, काशी, हरिद्वार, मन्दिर, सत्सङ्गमें प्रीति हो।

ये नौ बातें यदि आपके जीवनमें आने लगे तो आप समझो कि अब भक्ति महारानीकी पायल आपके हृदयमें बजने लगी है।

•

: ३६ :

सत्यमेव जयते

प्रश्न : 'सत्यमेव जयते नानृतं'—सत्यवादी विजयको प्राप्त करता है मिथ्यावादी नहीं—कृपया समझायें !

उत्तर : पहली बात तो यह है कि यहाँ वादीकी कोई चर्चा नहीं है—न सत्यवादीकी और न मिथ्यावादीकी। और फिर, वादी-प्रतिवादीकी बात तो यह होती है कि यदि वादीका वकील बड़ा हो, बुद्धिमान हो तो चाहे जैसा वह सिद्ध कर दे और प्रतिवादीका वकील यदि बड़ा हो तो चाहे जैसा वह सिद्ध कर दे। तो जो ज्यादा बुद्धिमान होगा वह, जिसको लोग झूठ समझते हैं उसको भी सच सिद्ध कर देगा और जिसको लोग सच समझते हैं उसको भी झूठ सिद्ध कर देगा। सारा-का-सारा बुद्धिका खेल है। वकील जब हारता है तब हम वकीलका दोष मानते हैं—जजका नहीं और न्यायका भी नहीं—वकीलने अपने पक्षको पूर्ण रूपसे जैसा रखना चाहिए, वैसा रखा नहीं। हमारा कहना तो यह है कि संसारमें सब अनिर्वचनीय है—एक दृष्टिसे सब सच और एक दृष्टिसे सब झूठ।

'सत्यमेव जयते'का अर्थ है—सत्य एक है। आपके सामने बहुत अच्छी-अच्छी चीजें आयीं और चली गयीं और बुरी-बुरी चीजें आयीं और वे भी चली गयीं। लेकिन, आप ज्यों-के-त्यों रहे। आपने एक घड़ा देखा, दो घड़े देखे, हजार घड़े देखे और घड़ोंका न होना भी देखा। पर, आप ज्यों-के-त्यों हैं—यहाँ भी, वहाँ भी; यह भी, वह भी। सब आपने देखा—आप सत्य हैं, त्रिकालाबाधित सत्य हैं और अनृत जो है—वह तो मिट जायेगा। अनृत माने झूठ, मिथ्या—कल था, आज नहीं है और आज है, कल नहीं रहेगा और कल यदि रह भी गया तो परसों नहीं रहेगा। माने सत्य हमेशा बना रहेगा और मिथ्या मिट जायेगा—सपने मिट-मिट जाते हैं, जीवन नहीं मिटता है।

अतः सत्यता तो कभी मिटती नहीं है, बदलती नहीं है—अबाधित सत्य। बदलनेवाली चीजका नाम सत्य नहीं होता। जिसको आप तलाक दे सकते हैं वह आपका पति नहीं है; जिसको आप तलाक दे सकते हैं वह आपकी पत्नी नहीं है। सत्य तो वह है जो—

येन रूपेण यत् निश्चितं तन्न व्यभिचरति।

माने, जो स्वरूप उसका निश्चित हो गया, उससे वह कभी पृथक् होता ही नहीं है। यह दुनिया जो है—यह अध्यस्त है, मिथ्या है—यह बदलती रहती है। हर-जन्ममें बेटे बदलते हैं, पति बदलता है, पत्नी बदलती है—इसी जन्ममें बदल जाते हैं—मकान बदल जाता है, हीरा-मोती बदल जाता है, पति-पत्नी बदल जाते हैं, सिरके बाल बदल जाते हैं—कालेसे सफेद हो जाते हैं—तो इनका नाम सत्य नहीं है। अच्छाजी, आप कहते हैं कि धन मेरा था। सचमुच धन मेरा था, लेकिन मैं मुक-दमेमें हार गया। तो सत्यको तो जीतना चाहिए था ना? यहाँ तो झूठ जीत गया।

तो आप तुरन्त कहेंगे कि सत्यकी जीत व्यवहारमें देखनेमें नहीं आती और झूठकी जीत देखनेमें आती है—यही ना? पर, आपने कभी सोचा है कि जिस चीजको आपने अपनी माना था, क्या उसको अपनी मानना सत्य था? आपके पिता, पितामहका क्या उस चीजको अपनी मानना सत्य था? यदि सत्य होता तो जब हीरेको चोर उठाता तो वह पुकारता कि मेरे मालिक, सोओ मत जाग जाओ, मुझे चोर ले जा रहा है; मकान

कहता कि मेरे मालिक, मुझे बेचो मत, तुम्हारे पास ही रहूँगा; जमीन कहती कि मैं तुम्हें छोड़कर दूसरेके पास नहीं जाऊँगी।

वस्तुतः, आप, संसारके व्यवहारमें जिसे सत्य मानकर बैठे हुए हैं, वह न्यायकी दृष्टिसे, ईमानदारीकी दृष्टिसे, यथार्थकी दृष्टिसे न कभी सत्य था, न है और न होगा। यह तो एक मिथ्या ज्ञान है कि यह चीज मेरी है। और नानृतं—इस मिथ्या ज्ञानकी जीत कभी नहीं होगी—चाहे हीरा न रहे, चाहे आप न रहें। यह एक अनन्त है, एक असत्य है, एक मिथ्या है कि यह चीज मेरी है और यह मैं हूँ। और तो और, यह देह भी आपका नहीं है और आपके रखे यह भी नहीं रहेगा। फिर रहेगा कौन? जीतेगा कौन? सत्यमेव—जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मा है, जो परमात्मा है, जो साक्षात् ब्रह्म है—वह रहेगा, वह जीतेगा–वही इस मायाके खेलका, इस प्रकृतिकी रचनाका स्वामी है और उसीकी जोत होगी।

उपनिषद् बोलती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। सत्य माने–तुम्हारा रुपया-पैसा, धन-दौलत, औरत-मर्द नहीं—इनको उपनिषद् सत्य नहीं बोलती है। श्रुति इस दुनियाके व्यवहारका अनुवाद करनेवाली, दोहरानेवाली नहीं है। श्रुति तो–जो बात तुम्हारी समझमें किसी भी प्रमाणसे नहीं आ रही है, उसको समझानेवाली है। यह अज्ञात-ज्ञापक है; यह अविद्या-निवर्त्तक है। यह आँख, नाक, कान, मन, बुद्धिसे सोची हुई जो चीज़ें हैं, उनका निरूपण करनेवाली चीज नहीं है। इसलिए श्रुतिका अर्थ है—'सत्य' माने ब्रह्म और 'जयते' माने रहेगा। ब्रह्म ही रहेगा, माया-छाया कोई उसको नहीं मिल सकेगी।

यह अमृत, जो प्रपञ्चमें मैं - मेरा है, यह कभी नहीं रहेगा। यह एक-न-एक दिन छूटेगा। तुम्हारा शरीर छोड़कर तुम जाओ, चाहे यह छोड़ जाये, एक-न-एक दिन जायेगा जरूर, छूटेगा जरूर। यदि इससे प्रेम करोगे तो—'प्रियं त्वां रोदस्यति'—तो यह तुम्हें बाँधकर जड़-जगत्में रखेगा और तुमको बारम्बार रुलावेगा। जो भी इससे प्रेम करेगा, उसको रोना ही पड़ेगा। इसलिए इसको अनृत समझकर, मिथ्या समझकर एक सत्यसे, परमात्मासे ही प्रेम करना चाहिए।

•

: ४० :

आनन्द-ही-आनन्द

प्रश्न : आनन्द जयन्तीके आनन्दोत्सवपर कोई ऐसी युक्ति बतलाइये कि हम सबके जीवनसे आप-ही-आप—आनन्द-ही-आनन्द बना रहे।

उत्तर : देखो, युक्ति करनेसे जो चीज मिलती है, वह हमेशाके लिए नहीं मिलती है। जितनी भी तुम युक्ति करो, उससे जो चीज मिलेगी वह अनित्य ही होगी। इसलिए, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌के अनुग्रहपर अपना विश्वास होना चाहिए। और हमको नित्य आनन्द मिले—ऐसे नहीं—आपकी बुद्धि जिसको दुःख मानती है वह भी भगवान्‌का ही दिया हुआ है, जब आप ऐसा देखेगें तब उसमें भी आपको आनन्द आवेगा!

आप यह मत देखिये कि घरमें धन आया कि नहीं, रोग गया कि नहीं, बेटा हुआ कि नहीं—यह देखिये कि यह सब करनेवाला कौन है? वही धन देनेवाला है, वही धन लेनेवाला है। वही चिकोटी काटनेवाला है, वही चुम्बन करनेवाला है। चपत लगानेवाला भी वही है और प्यार करनेवाला भी वही है।

इसलिए, आप धन और निर्धनताको मत देखिये, प्यार और चपतको मत देखिये, रोग और आरोग्यको मत देखिये। देखिये, उस एक देनेवालेको जिसका हाथ हर जगह, हर समय, हर काममें रहता है। और जब आप वस्तुकी ओर नहीं देखेंगे, क्रियाकी ओर नहीं देखेंगे, अपनी पसन्दकी ओर नहीं देखेंगे और देनेवालेकी ओर देखेंगे तब, आपका जो आनन्द है वह सदा बना रहेगा।

उस देनेवालेका नाम है—भगवान्, उसका नाम है परमेश्वर—उसपर आपकी दृष्टि रहेगी तो हमेशा आपका आनन्द बना रहेगा!

●

गणेश वन्दना क्यों ?

प्रश्न : श्रीगणेशजीका ध्यान कब, क्यों और कैसे करना चाहिए और इनकी आराधनाका क्या महत्त्व है—समझानेकी कृपा करें !

उत्तर : श्रीगणेशजी महाराज बुद्धि और सिद्धि दोनोंके स्वामी हैं। कोई भी काम करते समय गणेशजीका स्मरण करना आवश्यक रहता है। जो भी काम कीजिये, विचार करके कीजिये। काम किसलिए कर रहे हैं, उसकी सिद्धि क्या होगी, प्रयोजन क्या होगा—सभी बातोंका विचार कर लेना चाहिए। माने बुद्धि और प्रयोजन दोनों होने चाहिए। निकम्मे पानी पीट रहे हैं तो वह कोई काम नहीं है और बिना सोचे-समझे कोई काम कर रहे हैं तो वह भी ठीक नहीं है—गलत है। 'अविचार्य यत्किञ्चित् प्रतिपद्यमानो मूढः'—अर्थात् मूढ़ किसको कहते हैं कि जो बिना विचारके चाहे किसी भी बातको मान बैठे और 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—चाहे बुद्धि कितनी भी कम हो—बिना प्रयोजनका विचार किये कोई किसी काममें नहीं लगता है। अतः गणेशजी महाराज बुद्धि और सिद्धिके स्वामी हैं इसलिए सबसे पहले उनका स्मरण करना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि श्रीगणेशजीकी माँ हैं उमा जो शक्ति रूप हैं और पिता हैं शिव—जो ज्ञानरूप हैं। माने शक्ति और ज्ञानके सम्मिलित पुत्र हैं गणेश। इसका अर्थ है कि कोई भी काम आपको करना हो तो उस बारेमें पूरा ज्ञान होना चाहिए और उसको करनेका सामर्थ्य भी होना चाहिए। ऐसा नहीं कि हम दो मनका बोझ उठाना चाहें और हमारे अन्दर शक्ति न हो, ज्ञान और बलके सम्मिलित होनेपर ही कोई कार्य सम्पन्न हो सकता है। और यह कब हो सकता है ? जब कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंपर अपना संयम ठीक-ठीक हो। पाँच कर्मेन्द्रिय गण हैं और पाँच ही ज्ञानेन्द्रिय गण है और एक गण अन्तःकरणका भी है और इन सब गणोंका जो स्वामी है, जो मालिक है—उसका नाम है गणेश। 'गण'का एक अर्थ होता है—जनता। तो गणेश माने जनताके ईश्वर। इसका मतलब हुआ कि जनता भी हमारे साथ होनी चाहिए और

मनोवृत्तियोंका जो गण है, वह भी एकाग्र होना चाहिए। इसलिए, कोई भी काम करनेके लिए हमें अपनी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियको सन्तुलित, संयमित रखना चाहिए। इसलिए भी गणेशकी पूजा सबसे पहले होनी आवश्यक है।

वक्रतुण्ड महाकाय सूर्यकोटिसमप्रभ।
अविघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा॥

'सर्वकार्येषु सर्वदा'–ही ठीक है यहाँ। क्योंकि चोर भी चोरी करनेके लिए चलते हैं तब गणेशजीकी वन्दना करते हैं और यदि कोई मुकदमा होता है तो मुकदमेके दोनों ही पक्षके लोग गणेशजीकी वन्दना करते हैं— इसलिए 'सर्वकार्येषु सर्वदा' ही ठीक है।

इसके अलावा भागवतमें यह कथा आयी है कि जब देवता और दैत्यों ने समुद्र-मन्थन आरम्भ किया तब जो मन्दाचल पहाड़ था, वह समुद्रपर टिके ही नहीं—कभी डूबे, कभी उतराये, कभी डूबे, कभी उतराये। तब विष्णु भगवान्‌ने कहा कि प्रारम्भमें गणेशजीकी पूजा नहीं की गयी इस-लिए विघ्न पड़ रहा है, तो पहले गणेशजीकी पूजा करो। बादमें उन लोगोंने गणेशजीकी पूजा की और उनका कार्य सम्पन्न हुआ।

यह सब तो हुई आध्यात्मिक बात। अब आप देखिये हमारे ऋषियोंका एक अनुसन्धान ! यह अपूर्व है और जो दूसरे किसी मजहबमें नहीं है। वह यह है कि जो जड़ जगत् हम देखते हैं, यह है अधिभूत और एक है अध्यात्म-जगत्, जो रहता है—हमारे शरीरमें। अर्थात्— फूल है अधिभूत और उसको दिखानेवाली आँख है अध्यात्म और इन दोनोंके बीचमें है एक 'अधिदैव-शक्ति'। इसके अनुग्रहसे ही हमारी आँख फूलको देख सकती है।

वह अनुग्रह है और भौतिकरूपसे वह दिखायी नहीं पड़ती है। जैसे सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल। यह भी ठीक है कि हम बिना रोशनीके फूलको भी नहीं देख सकते हैं। तो फूल है अधिभूत, आँख है अध्यात्म और सूर्य है अधिदैव। सूर्यमें जो अधिदैविक शक्ति है, उसके बारेमें यदि हमारी जानकारी हो जाये तो हम इस जड़-जगत्से ऊपर उठ सकते हैं और जो ज्ञान इन इन्द्रियोंको बाहरका नहीं होता है, वह सब ज्ञान हमें हो सकता है। जैसे—

'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।'

यदि आप संयम करेंगे और देखेंगे कि जो सत्ता हमारे अन्तःकरणको जीवनदान कर रही है और जो चेतना हमारे अन्तःकरणको चेतनादान कर रही है—वह ही सत् और वह ही चित् जैसा हमारे अन्तःकरणमें है वैसा ही सूर्यमें भी है। वहाँ भी वही सत्ता है जो हममें है और वहाँ भी वही चित् है जो हममें है; क्योंकि आकारके बिना सत्तामें भेद नहीं होता है और वृत्तिके बिना चित्तामें भी भेद नहीं होता है। तो जैसे हम साकार और सवृत्तिक हैं और चेतनाके द्वारा वृत्तियाँ भी और आकार भी प्रकाशित होते हैं, वैसे ही सूर्यमें भी जो सूर्य-मण्डलरूप आकार है और उसमें जो प्रकाश है, उसमें भी वही सत्ता और वही चेतन है जो हमारे शरीरके भीतर है।

यह जो अधिदैव जगत्का वर्णन है विशेषकरके वेदोंमें—ऋग्वेदसे लेकर सभी वेदोंमें और ब्राह्मणोंमें, आराण्यकोंमें और पुराणोंमें वह बड़ा विलक्षण है—वह हमको जड़-जगत्से उठाकर न शुद्ध चेतन और न शुद्ध जड़, बल्कि इन दोनोंके बीचमें जो शक्ति है उसमें स्थापित करता है। शुद्ध चेतनका जिज्ञासु लोग अनुसन्धानकर रहे हैं और शुद्ध जड़में हम यान्त्रिक रूपसे फँसे हुए हैं। परन्तु इन दोनोंके बीचमें, जो मन और इन्द्रियोंको अनुग्रह देनेवाली शक्तियाँ हैं, उनको, हम वेदके द्वारा जान सकते हैं; वे 'लेबोरेटरी'में नहीं जानी जा सकतीं, प्रयोगशालामें भी नहीं जानी जा सकतीं और वे हमको भौतिक आकर्षणसे उठाती हैं और आध्यात्मिक भोगसे भी बचाती हैं।

उन गणोंका, उन शक्तियोंका—सब ज्ञानेन्द्रियोंका, सब कर्मेन्द्रियोंका जो स्वामी है उसको गणेश कहते हैं और गणेशकी वन्दना हमारी कर्मेन्द्रियोंको और ज्ञानेन्द्रियोंको परम-शक्ति प्रदान करनेवाली है।

उमाप्राण-शक्ति और शिवज्ञान-शक्ति दोनोंके सम्मिलनसे उत्पन्न हुए हैं गणेश—अधिदैव शक्ति हैं इसलिए इनकी वन्दना सर्वोपरि है, सर्वप्रथम है।

●

: ४२ :

महात्मा रोगी क्यों ?

प्रश्न : प्रायः देखा जाता है कि जितने भी बड़े महात्मा होते हैं, वे रोगी होते हैं। तो क्या उनको स्वास्थ्य-सम्बन्धी जानकारी नहीं होती ? कृपया समझायें !

उत्तर : हाँ जी, यह बात बिल्कुल सही है और हम आपकी बातको मान लेते हैं। पर, ऐसा होता यों है कि ये जो भक्त-लोग आते हैं, वे महात्माके पाँव छू-छूकर अपना रोग महात्माको सर्मपित कर देते हैं। अब, महात्मा तो होता है एक और भक्त होते हैं अनेक; और उनकी वह प्रार्थना—'हे महाराज, हमारा रोग मिट जाये'—(बोलकर तो नहीं कहते, मन-ही-मन कहते हैं) सुनकर महात्मा द्रवित हो जाता है और उनका रोग स्वयं ले लेता है। हमको एक बारकी बात याद है—मोकल-पुरके बाबा हमारे घर आरहे थे। तो एक सज्जनने गाँवके बाहर ही अपने बेटेको लाकर उनके चरणोंमें डाल दिया (उसको आती थी मिर्गी—मुँहमें-से लार निकलती और हाथ-पाँव ऐंठ जाते) और प्रार्थना की—'महाराज, इसको अच्छा कर दीजिये !'

बाबा बोले—'देखो, इसने पूर्वजन्ममें ब्रह्म-हत्या की है, जिसके फल-स्वरूप इसको यह कष्ट भोगना पड़ रहा है; तो अब तुम बताओ कि उस ब्रह्म-हत्याको मैं कहाँ, किसके पास भेजूँ ? मैं ले लूँ या तुमको दे दूँ ? तो, एक बात तो यह है कि जब भक्त लोग अपना रोग मिटानेकी प्रार्थना महात्मासे करते हैं तब वे उसका कुछ अंश ले लेते हैं।

दूसरी बात यह है कि महात्मा लोग जानते हैं कि संसारी पुरुष रोगी होनेसे अपने आत्माको ही रोगी समझेगा और बहुत दुःखी होगा और हमारे शरीरमें रोग आ भी जायेगा तो हम शरीरको भले ही रोगी समझ लें, आत्माको तो रोगी नहीं समझेंगे ना ? और इसलिए, हमको रोगका कम दुःख होगा और संसारीको बहुत होगा; अतः इसके शरीरमें-से रोगको हमारे शरीरमें आ जाने दो, कोई हर्ज नहीं है।

अच्छा, अब तीसरी बात सुनो—इसको बोलते हैं—कविता, काव्य ! रोग जो हैं, वे बेचारे सोचते हैं कि इस महात्माका तो अब यह आखिरी जन्म है, इसलिए इसके बाद यह अब कभी हमको मिलेगा नहीं; अतः इसके शरीरमें आ-आकर, इसको छू-छूकर हम अपनेको पवित्र कर लें, और आ जाते हैं !

और सुनो—जैनोंका एक सम्प्रदाय है, जिसमें आदमी भले ही भूखों मर जाये, उसको दान नहीं देते हैं। कहते हैं—यह अपना प्रारब्ध भोग रहा है तो उसमें हम क्यों बाधा डालें ? उनके यहाँ तो ऐसा भी है कि रोगीको दवा भी नहीं देते हैं।

अब हम इसे दूसरी तरहसे समझाते हैं। एक श्लोक है—

श्रमात् अनिष्टसंस्पर्शात् दोषात् इष्टविवर्जनात्।
चतुर्भिः कारणैः रोगाः प्रवर्तन्ते शारीरिषु ॥

इन चार कारणोंसे शरीरमें रोग आते हैं। श्रमात् माने शक्तिसे अधिक परिश्रम करनेसे। तो महात्मा लोग अपने शरीरकी परवाह न करके ज्यादा परिश्रम करते हैं, इसलिए उनके शरीरमें ज्यादा रोग आते हैं।

दूसरी बात–'अनिष्टसंस्पर्शात्'। वे महात्मा आपको जैसा परमानन्दमें

देखना चाहते हैं, वैसा आपका जीवन दिखायी नहीं पड़ता, तो उनके शरीरमें ज्यादा रोग होता है।

तीसरी बात—'दोषात्'। सबके शरीरमें बात, कफ, पित्तकी प्रधानता होती ही है, तीनों दोष होते ही हैं, तो इनकी विषमतासे भी रोग होते हैं।

चौथी बात—'इष्टविवर्जनात्'। महात्मा लोग चाहते हैं कि सुखी रहनेके लिए आप ऐसा काम करें और आप नहीं करते हैं और चाहते हैं—ऐसा काम आप नहीं करें और आप करते हैं, तो उनकी इच्छामें प्रतिघात होता है, इसलिए ज्यादा रोगी होते हैं।

मुख्य बात यह है कि महात्मा बहुत दयालु होते हैं, दूसरेको दुःखी देखकर उसके दुःखका आरोप अपने शरीरमें कर लेते हैं और इसलिए महात्मा ज्यादातर रोगी पाये जाते हैं।

अब देखो—सबसे निचले दर्जेकी बात तो है—प्रारब्ध; प्रारब्धसे यह रोग आया। मध्यम दर्जेकी बात यह है कि हमारे प्यारेका भेजा हुआ है, इससे प्यार करना चाहिए! सुनो, एक सच्ची घटना सुनाता हूँ—संसारी लोग तो सुनकर आश्चर्य करेंगे। एक महात्मा थे गंगाके किनारे। ठण्डके दिन जब आये तब उनके एक भक्तके मनमें बड़ा प्रेम उमड़ा। उसने उनके लिए एक रूईकी बगलबन्दी, समझो शेरवानी बनवा दी और उनको पहना दी। अब एक दिन ऐसा हुआ कि वे वह पहने-पहने आगके पास चले गये और आगका एक पतंगा आकर उसपर पड़ गया और उसमें आग लग गयी। जब आग लग गयी तब महात्माजी उसको बुझानेके बजाय मुँहसे और फूँकने लग गये! क्यों फूँकने लगे? कि भगवान्‌ने आग लगायी है, यह आग बड़ी प्यारी है, इसमें यह शरीर जल जाये। सोचो, संसारी लोगोंके मनमें क्या कभी ऐसी बात आ सकती है? महात्मा तो यही कहता है—

कबिरा बैद बुलाइया पकड़ दिखायी मेरी बाँय।
बावरा बैद मरम का जानै करक करैजे माँय।

भक्तके हृदयमें भगवान्‌के वियोगका जो दुःख हो रहा है, उसके सामने शरीरके रोगकी कोई कीमत नहीं है। वह तो कहता है—

जाहु बैद घर आपने तेरा किया न होय ।
जिन यह वेदना निर्मई दूर करेगा सोय ॥

वैद तुम अपने घर चले जाओ, तुमसे यह रोग अच्छा नहीं होगा। जब पूछा कि किससे होगा ? तो बोले—जिन्होंने यह रोग दिया है, वे ही इसे दूर करेंगे।

और सुनिये—

काढ़ि करैजो मैं धरूँ रे कागा तूँ ले जाय ।
जा देशां म्हारा पीव बसैं है, वा देखत तूँ खाय ॥

तो यह जो संसारी लोग रोगकी बड़ी भारी परवाह करते हैं, वह महात्माओंको नहीं होती है। उनको तो मरनेमें, जीनेमें, रोगमें, आरोग्यमें सर्वत्र भगवान्‌का हाथ दीखता है—पर, यह तो है मध्यम दर्जेकी बात। उत्तम दर्जेकी बात तो यह है कि उनकी दृष्टिमें न शरीर है, न रोग, न दुःख है, न दारिद्रय। अज्ञानियोंकी दृष्टिमें शरीर है और उसमें रोग है और उसकी दवा-दारू है और वे अज्ञानी अपनी नजर, अपनी बुद्धि दूसरेपर लादते रहते हैं।

तो, सबसे नीचे दर्जेकी बात है—प्रारब्ध। उससे ऊँचे दर्जेकी बात है—सबमें भगवान्‌का हाथ और अव्वल दर्जेकी बात है—अपने स्वरूपमें, परब्रह्म परमात्मामें न रोग है, न दुःख और न ही कोई व्यवहार और परमार्थका भेद। व्यवहार और परमार्थका भेद भी अज्ञानकी दृष्टिसे होता है, सद्ज्ञानकी दृष्टिसे नहीं। ऐसा नहीं होता कि व्यवहारमें मनुष्य है और परमार्थमें ब्रह्म है। असलमें, परमार्थ ही परमार्थ है, परमात्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही आत्मा है, दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

•

: ४३ :

अपनी माला

प्रश्न : दूसरोंकी मालासे जप क्यों नहीं किया जाता है, कृपया समझायें !

उत्तर : मालामें भी एक मालावच्छिन्न चैतन्य होता है और उसमें भी अन्तःकरणके बीज होते हैं और जब उसकी प्राण-प्रतिष्ठा—पीपलके पत्तेपर मालाको रखकर पूजा करके और 'माले-माले-महामाले !' कहकर की जाती है—तब उसमें वृत्ति जाग्रत हो जाती है, चेतना जाग्रत हो जाती है और माला चैतन्य हो जाती है और उसमें परमात्माका आभास आजाता है। फिर, यदि उसपर एक ही मन्त्रका जप किया जाये तो धीरे-धीरे उस मन्त्रकी चैतन्य-शक्ति साधकके शरीरमें प्रवेश करती है। इसलिए, दूसरेकी मालासे जप नहीं करना चाहिए। अपनी माला मणिसे भी बढ़कर है !

एक बार वृन्दावनमें दो भक्तोंमें लड़ाई हो गयी। एकने कहा—'इन्होंने हमारा हीरा चुरा लिया।' दूसरेने कहा—'इन्होंने हमारा पारस चुरा लिया।' मुकदमा हो गया। अदालतमें गया। दोनोंने अपनी-अपनी बात कही। कलक्टरने पूछा—'तुमको हीरा कहाँसे मिला ?' उसने कहा—'हमको हमारे गुरुने दिया था।' 'कहाँ रखते थे ?' 'अपने कण्ठमें बाँधकर रखते थे।' (तुलसीके मणकेको वैष्णव लोग 'हीरा' बोलते हैं)। दूसरेसे पूछा—'तुमको पारस कहाँसे मिला कि इसने चुरा लिया ?' (भगवान्‌के प्रसादको 'पारस' बोलते हैं)। वह बोला—'मुझको फलाँ मन्दिरसे रोज प्रसाद—'पारस' मिलता था, इसने बन्द कर दिया।

तो भाई, भगवान्‌का प्रसाद 'पारस' है और माला 'मणि' है। पर, आजकलके बाबूलोग तो यों ही मालाको लटकाये-लटकाये फिरते हैं—कभी जूठे हाथसे छू लेते हैं, तो कभी जेबमें ही रख लेते हैं। असलमें जिसके द्वारा भगवान्‌का नाम लिया जाता है, वह कोई साधारण वस्तु नहीं होती है, बड़े आदरकी वस्तु होती है।

पर, क्या कहा जाये ? आजकल न तो गुरु बनानेकी प्रथा है और न ही उसमें निष्ठा रखनेकी और इसलिए, उसकी दी हुई मालाका भी कोई आदर नहीं करता है। कोई-कोई तो एक ही मालापर न जाने कितने मन्त्र जप लेते हैं—जितनी कामना होगी, उतने ही मन्त्र होंगे और उतने ही देवता होंगे—यह कामना हनुमानजी पूरी करेंगे, यह कामना भूत-भैरव पूरी करेंगे, यह कामना शङ्कर भगवान् पूरी करेंगे। कहनेका मतलब यह है कि कोई भी कायदेके अनुसार, मर्यादाके अनुसार जप नहीं करता है। इसलिए भाई मेरे, वह माला, जिसमें एक देवताकी प्राण-प्रतिष्ठा की हुई होती है और उससे जब एक ही मन्त्र जपा जाता है, तब वह साधकके लिए कल्याणकारिणी होता है। इसलिए, अपनी माला दूसरेको नहीं देनी चाहिए और न ही दूसरेकी माला लेनी चाहिए। और लेना-देना तो क्या बल्कि दूसरेको अपनी माला दिखाना भी नहीं चाहिए।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके यहाँ यदि कभी किसीकी माला खो जाती, तो वे उसपर जुर्माना करते—धनी आदमी होता तो एक माला खो जानेपर पाँच मन दूध गंगाजीको चढ़वाते और गरीब आदमी होता तो सवा सेर दूध गंगाजीको चढ़वाते तब नयी माला दिया करते।

'मा' माने लक्ष्मी, 'मा' माने प्रभा, 'मा' माने शोभा, मा माने यथार्थ ज्ञान और जिसमें लीन रहे वह 'माला'। तो माला लोगोंको दिखानेकी चीज नहीं है, बहुत गुप्त रखनेकी चीज है। बल्कि जपते समय भी माला ढकी हुई होनी चाहिए। हृदयके सामने हाथ रखकर, तर्जनी लगाये बिना और सुमेरुका उल्लंघन किये बिना मालासे जप करना चाहिए। और जबतक एक माला पूरी न हो—बीचमें बोलना नहीं चाहिए, दूसरेकी ओर देखना नहीं चाहिए, इशारे नहीं करने चाहिए और किसी कारणवश यदि बीचमें उठना पड़े तो कम-से-कम एक माला पूरी करके और आचमन करके उठना चाहिए और दुबारा बैठना हो तो हाथ-पाँव धोकर, आचमन करके बैठना चाहिए। कहनेका मतलब यह कि मालाकी पवित्रताकी जितनी रक्षा आप करोगे, उतनी ही पवित्रता आपके जीवनमें आयेगी।

देखो, आज बिना पूछे ही एक उपासककी तरह आपको मैंने मालाके विषयमें सब बात बता दी। •

: ४४ :

लूज कनेक्शन ?

प्रश्न : जीवनमें आत्म-विश्वासकी कमी है। कृपया इसके सञ्चारकी युक्ति बतायें !

उत्तर : जब किसी काममें हमको अपनी असमर्थता मालूम पड़ती है तब हम अपनेसे बलवानका आश्रय लेते हैं। रुपयेकी कमी होती है तो किसी बड़े सेठकी सहायता ले लेते हैं; कहीं लड़ाई-भिड़ाईमें कमजोर पड़े तो पहलवानको बुला लेते हैं और पड़ोसियोंको बुला लेते हैं। ठीक इसी तरह यदि आपको अपनेमें आत्मबलकी कोई कमी मालूम पड़ती हो तो आप सबसे अधिक बल जिसमें है, उस परमेश्वरका आसरा ग्रहण कीजिये और उनसे प्रार्थना कीजिये—

बलमसि बलं मयि धेहि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।

आप बलस्वरूप हैं—हे प्रभो, आप अपना बल मुझमें स्थापित कीजिये; आप तेजस्वरूप हैं प्रभो, आप अपना तेज मुझमें स्थापित कीजिये। तो जैसे, निर्बल पुरुष बलवानका आश्रय लेकर अपना कार्य सम्पन्न करता है, वैसे ही सबसे बलवान जो परमेश्वर है, उसका आश्रय लेकर हमें अपनी निर्बलता मिटानी चाहिए।

आत्मबलमें जो न्यूनता दीखती है, वह विशेषकर अपने स्वरूपका बोध न होनेके कारण दीखती है। अपने स्वरूपका बोध क्या है ? भगवान्‌ने हमको तीन अवस्थाएँ दी हैं—इसमें स्वप्नावस्था जो है, वह हमारे बोधके लिए है। स्वप्नमें हम नयी धरती बनाते हैं; नया समुद्र,

नये सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र-तारे बनाते हैं और इसके लिए वहाँ न दूसरे देशमें जाना होता है, न दूसरे कालकी प्रतीक्षा होती है। वहाँ तो बस भावसे भावान्तरकी प्राप्ति होती है। एक मनुष्य पहले अपनेको गृहस्थ मानता है और बादमें वही अपनेको संन्यासी मानता है। तो क्या फर्क हुआ? क्या हमारी चित्तवृत्ति गृहस्थमें-से उठकर, यात्रा करके संन्यासी-शरीरमें पहुँची? नहीं, इसको बोलते हैं—भावसे भावान्तर! पहले गृहस्थ भाव था, अब संन्यासी-भाव हो गया। पहले घट-भाव था, अब पट-भाव हो गया और इसीको हमलोग जन्म मानते हैं! जन्म क्या है? एक भाव छोड़कर दूसरा-भाव ग्रहण करना। कुमारी कन्या विवाह होनेके पहले अपनेको कुमारी मानती है और विवाह हो जानेपर अपनेको पत्नी मानती है।

तो अन्तर क्या पड़ा? पहले उसमें कुमारीका भाव था, अब पत्नीका भाव हो गया। इसी प्रकार मनुष्यमें यह जो निर्बलता है—वह भी एक प्रकारका भाव है! आत्मा न निर्बल है, न सबल है।

परमात्मा, जो सारी दुनियाका पावर-हाउस है, उसके साथ उसका 'कनेक्शन' है, सम्बन्ध है। जब उसको भ्रम हो जाता है कि हमारा 'कनेक्शन' कटा हुआ है और मैं कमजोर हूँ, तब वह अपनेको निर्बल मानता है।

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।

प्रह्लाद कहते हैं—पिताजी, सुन लीजिये केवल मेरा बल ही परमेश्वर नहीं है, आपका बल भी परमेश्वर है और दुनियामें जितनी भी बलवान वस्तुएँ हैं, सबका बल ही परमेश्वर है।

अतः आप अपने 'कनेक्शन'को, अपने सम्बन्धको, जो ईश्वरके साथ है—'लूज' मत होने दीजिये, कमजोर मत होने दीजिये। उसको बिलकुल पक्का रखिये। देखिये, आपके अन्दर कोई निर्बलता नहीं है। आप सुषुप्ति कालमें भी जीवित रहते हैं, सपना बनाकर भी जीवित रहते हैं और जाग्रतमें भी जीवित रहते हैं। छोड़कर जिन्दा रहते हैं, पकड़कर भी जिन्दा रहते हैं। आपमें किसी प्रकारके बलकी कोई कमी नहीं है। आप भ्रम छोड़ दीजिये। आपमें बहुत बड़ा बल है।

•

: ४५ :

आप खुश रहिये !

प्रश्न : मैं कोशिश करती हूँ कि मैं अपनी तरफसे सबको खुश रखूँ, परन्तु ऐसा करते-करते कभी-कभी मैं बहुत मानसिक थकानका अनुभव करती हूँ। लगता है, दुनियामें स्वार्थ बहुत बढ़ता जा रहा है, सब अपनी-ही-अपनी सोचते हैं। ऐसेमें क्या करना चाहिए, कृपया समझायें !

उत्तर : देखो, दुनियामें अबतक कोई ऐसा न हुआ है, न है और न होगा, जो सबको खुश रख सके। ईश्वर ही सबको खुश नहीं रख सकता है, तो आप कहाँसे सबको खुश रख सकेंगे ? इसलिए, सबको खुश रखनेकी बात तो छोड़ दीजिये।

यह हो सकता है कि आप खुश रहिये और अपनी खुशीका दान करते चलिये। आपके सामने जो आवे, उसके लिए उठकर खड़े हो जाइये, हाथ जोड़िये, मुस्कुराकर मीठी-मीठी बात कीजिये।

अगर नाश्ता-पानी करा सकते हों, तो उसको नाश्ता-पानी कराइये; उसका खूब आदर कीजिये और अपनेको खूब खुश रखिये।

देखिये, हृदयकी स्थिति एक कुँए सरीखी है। जैसे, कुँएमें भीतरसे ही पानी निकलता है, बाहरसे डाला नहीं जाता, वैसे-ही हृदयमें भी भीतरसे खुशी निकलती है, बाहरसे खुशी डाली नहीं जाती है।

जैसे, जितना-जितना पानी आप कुँएमें-से निकालते जाते हैं, उतना-उतना पानी उसमें बढ़ता जाता है, वैसे ही आप जितनी-जितनी खुशी बाँटेंगे, उतनी-उतनी आपकी खुशी बढ़ेगी और लोग भी खुश होंगे और आप भी खुश होंगे।

यदि आप समझेंगे कि दुनियाके लोग स्वार्थी हो गये हैं, बेईमान हो गये हैं, चोर हो गये हैं—या जिनके बारेमें आपकी ऐसी भावना होगी, वे आपसे कभी खुश नहीं होंगे।

सीधी बात है, जिनको आप स्वार्थी समझेंगी, बेईमान समझेंगी, वह भला आपसे कैसे सुखी होगा ? और कौन आपपर खुश होगा ?

तो आप, स्वयं स्वार्थी मत बनिये और अपने तनसे, मनसे, धनसे, धर्मके अनुशासनके अनुसार जितने लोगोंको खुशी दे सकते हैं, उनको खुशी देते चलिये !

जो आपके पास आवे उसका आदर कीजिये ! झुंझलाइये मत। आँख नीची करके मत बैठ जाइये। मुँह मत फेर लीजिये। इस ढंगसे पेश आइये कि वह देखकर खुश हो जाये और जो खुश न हो, उसके यहाँ तो जाना ही नहीं चाहिए—

आवत ही हर्ष नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसै मेह॥

आप खूब आनन्दमें रहिये और दूसरे स्वार्थी हैं या चोर हैं या कि बेईमान हैं, इसका फैसला करनेका ठेका सरकारको लेने दीजिये, आप क्यों लेती हैं, आप तो सरकार हैं नहीं ?

•

: ४६ :

तनको लगाये रखिये

प्रश्न : भगवान्‌की भक्ति तनसे होती है, मनसे नहीं होती; क्योंकि मन स्थिर नहीं रहता है—कृपा कर इसका कोई उपाय बताइये !

उत्तर : लगता है आपको कोई ऐसा आदमी मिल गया है जिसने आपकी वृत्तिमें, आपके मनमें गड़बड़ी पैदा कर दी है। जरूर ही आपके सङ्गमें कहीं दोष है। आप देखो, जितनी भी क्रिया होती है, तनसे ही होती है, भक्ति भी तनसे ही की जाती है और मन उसमें जरूर रहता है, क्योंकि बिना मनके तो तनसे क्रिया होगी कैसे ? यदि आप अकेले मनको लगाना चाहें तो मन तो अकेला कभी रहता ही नहीं है, इसलिए मनको तनसे मिलाकर ही लगाना पड़ता है। जब हम तनको किसी काममें लगा देते हैं, तब धीरे-धीरे मन भी उसमें लग जाता है भला !

देखो, आपको जीभकी बात बताते हैं। आप जब भगवान्‌की भक्ति करते हैं तब जरूर जीभसे भगवान्‌के नामका जप करते होंगे ! अच्छा, तो आप भगवान्‌के एक ही नामका जप क्यों करते हैं ? यह भगवान्‌का नाम है, यह विश्वास है तभी ना ? और विश्वास कहाँ रहता है ? विश्वास मनमें ही रहता है, तो इस तरह आपका मन भगवान्‌में लगा कि नहीं लगा ? लगा ना ! अच्छा, विश्वास मनमें है और जीभ बार-बार, वही नाम लेती है। यह चामकी जीभ बार-बार भगवान्‌का नाम क्यों लेती है ? क्योंकि आपका मन उसमें है और वह बार-बार जीभको हिलाता है, तभी तो आप भगवान्‌का नाम लेते हैं। और जीभ जब हिलती है तब आपका अन्नमय कोष तो लगा ही (जीभ अन्नमय कोषमें ही है) माने आपका स्थूल देह तो लगा ही और प्राणमय कोष भी लग गया; क्योंकि जीभ हिलती है और यह भगवान्‌का नाम है, यह विश्वास आपके मनमें है, तो मनोमय कोष भी लग गया और आपका विचार है कि यह हमारे लिए कल्याणकारी है, तो विज्ञानमय कोष, आपकी बुद्धि भी लग गयी, माने आपके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय सभी कोष लग

गये और जब सब कोष लग गये और आपको विश्वास रहा कि भगवान्के नाममें ही आनन्द है, तो आपको कभी-न-कभी आनन्द भी मिलेगा ही।

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥

भले ही कुछ दिन लग जायें, लेकिन आपके जीवनमें आनन्दका उदय अवश्य होगा।

अतः पहले आप केवल तनको ही भगवान्की भक्तिमें लगाइये। जब तन लगायेंगे तब आपका मन बन्दरकी तरह इधर-उधर नाच-कूदकर फिर तनमें ही लौट आयेगा। जैसे बालक माँकी गोदमें-से उठकर और इधर-उधर खेल-कूदकर वापस माँकी गोदमें ही आकर बैठ जाता है, वैसे ही यह मन भी पहले सैलानी होता है, इधर-उधर घूमता है, फिर थोड़ी-थोड़ी देरके लिए आ-आकर स्थानापन्न—कायम मुकाम होता है और फिर एक जगह स्थिर-मुस्तकिल हो जाता है। इसलिए आप मनकी फिक्र मत कीजिये, तनको भगवान्की सेवामें लगाये रखिये। हाथ आपके वशमें है। माला फेरिये, पूजा कीजिये। पाँव आपके वशमें है, उससे परिक्रमा कीजिये। आपके वशमें आपका फल है, फूल है, उसको भगवान्को चढ़ाइये और जो-जो आपके वशमें है उसको आप भगवान्की सेवा-पूजामें लगाइये और जो वशमें नहीं है, उसकी फिक्र मत कीजिये।

एक ठाकुर साहब हमारे पास आये। उस समय जमींदारी-उन्मूलन हो रहा था, उन्होंने मुझसे कहा कि मैं आपको एक गाँव समर्पित करता हूँ। मैंने कहा कि ठाकुर साहब, राजा ही थे और उनको यह अधिकार दिया हुआ था कि पहले गवर्नर उनको नमस्कार करता, फिर वे उनको नमस्कार करते, जमींदारी-उन्मूलन हो रहा है तो आपके 'सीर' है कुछ? माने क्या आप उस जमीनमें खेती करते हैं, क्योंकि यदि खेती करते हों तो जमींदारी-उन्मूलनके बाद भी वह हमें मिल जायेगी, तो बोले—ना, महाराज; वह गाँव तो हमारे गाँवसे दूर है, इसलिए हम उसमें खेती तो नहीं करते हैं। मैंने पूछा—अच्छा, सरकारकी ओरसे आपको उसका कितना मुआवजा मिलेगा? तो बोले—गाँव तो सरकारने हमको 'माफी'में दिया है, तो मुआवजा तो कुछ मिलेगा नहीं। (यह

जमीन १४ मील लम्बी और २ मील चौड़ी थी, जो 'माफी'में उनको मिली थी) तो न हमको जमीन मिलेगी और न उसके बदलेमें कुछ धन मिलेगा। वह गाँव ठाकुर साहब हमको देना चाहते थे। दूसरे एकने कहा—'हमारे इतने रुपये फलाँ आदमीके पास हमारे दुश्मनके पास निकलते हैं, जब मुझे मिलेंगे तब मैं आपको उसमें-से १० प्रतिशत दूँगा।' वास्तवमें होता यही है कि जो चीज हमारे पासमें है उसे तो ईश्वरको देते नहीं हैं और ऐसी चीजको जो अपने वशमें नहीं है, समर्पित करनेकी इच्छा करने लगते हैं। तो, यह मन जो है ना, यह यदि तुम्हारे वशमें हो तब तो तुम इसको भगवान्‌को दे सकते हो, पर यदि वह वशमें नहीं है, तो तुम उसको भगवान्‌की सेवा-पूजामें लगानेका संकल्प ही छोड़ दो। भाई, हाथ हमारे वशमें है, हाथसे हम पूजा करेंगे; जीभ हमारे वशमें है, जीभसे हम भगवान्‌का नाम लेंगे; शरीर हमारे वशमें है, शरीरसे हम भगवान्‌की परिक्रमा करेंगे। और यदि कभी मन भी घूमते-फिरते हमारे वशमें आगया, तो उससे भी हम भजन-ध्यान कर लेंगे; लेकिन अभी तो वह हमारा है नहीं, तो हम क्यों उसकी बात सोचें ?

लगता है, आपको पूजा करते देखकर किसी आदमीके मनमें लालच आगया कि यह किसी-न-किसी प्रकार हमारा चेला हो जाये। तो कैसे हो ? अरे! तुम तो केवल देहसे पूजा करते हो, मनसे तो करते नहीं। आओ, हमारे चेले बनो, हम तुम्हारा मन भगवान्‌में लगा देंगे। तो इस तरहकी गड़बड़ी पैदा करनेके लिए और दूसरेके साधनमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए और अपना चेला बनानेके लिए बहुत-से लोग घूमा करते हैं, उनसे सावधान रहना चाहिए और अपनी पूजा, अपनी साधना, अपने भजनमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं करना चाहिए। जैसे, डाकू लोग पुलिसका वेश धारणकर आते हैं, वैसे ही आजकल ठग लोग साधुका वेश धारण-कर आते हैं। इनसे सावधान नहीं रहेंगे तो ये—'इतः नष्टो ततः भ्रष्टः' यहाँसे नष्ट करेंगे, वहाँसे भ्रष्ट करेंगे। माने मन तो लगेगा नहीं और तन जो लगा हुआ है, उसको भी छुड़ा देंगे। इसलिए, आप सावधान रहकर, तनको भगवान्‌की सेवामें लगाये रखिये और भगवान्‌से प्रार्थना करते रहिये कि आपका मन वे अपनी पसन्दका बनाकर उसे भी अपनेमें लगा लें।

•

: ४७ :

दीक्षा : जीवनका आवश्यक अङ्ग

प्रश्न : कृपया बतलायें कि दीक्षा लेनेका क्या महत्त्व है, यह कैसे ली जाती है और इसका निर्वाह कैसे किया जाता है ?

उत्तर : देखो, जैसे डाक्टरी पास करनेपर भी बड़े डॉक्टरके साथ रहना, देखना-सीखना जरूरी होता है; वकालत पास करनेपर भी वकीलके पास रहना-सीखना जरूरी होता है, वैसे ही ईश्वरसे मिलनेके लिए, अनजाने रास्तेपर चलनेके लिए किसी जानकारकी सहायता लेना आवश्यक है ।

ईश्वर एक ऐसी वस्तु है, सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसको आप आँख-से देख भी सकते हैं, नाकसे सूँघ भी सकते हैं और जिसे जीभसे चखकर भी जान सकते हैं। परन्तु इन्द्रियोंका विषय भी नहीं है, वह तो आपकी सभी इन्द्रियोंको संचालित करनेवाला, अन्तर्यामी, आपका आत्मा ही है। किसी भी इन्द्रियकी ऐसी गति नहीं है कि वह उल्टा होकर आपको देखे। उसके लिए प्रमाण होता है—वाक्य। गुरु जो है, वह—

चरणदास गुरु किरपा कीन्ही
उलट गयी मोरी नैन पुतरिया।

हमारी छठी इन्द्रियका दरवाजा खोल देता है, हमें बाहरकी चीजोंको देखने-वाली आँखकी जगह, भीतर देखनेवाली आँख, आत्मा-परमात्माको देखने-वाली शक्तिका दान करता है। माने गुरु ईश्वरका दान करता है और शिष्य उसको ग्रहण करता है, पचा लेता है। ईश्वरका दान करनेको 'दी' बोलते हैं और पचानेकी शक्तिको 'क्षा' बोलते हैं। इस तरह बनता है—'दीक्षा'। दीक्षा माने-देना और पचाना, गुरुका देना और शिष्यका पचाना।

अच्छा, जिसका कोई गुरु नहीं है, उसका कोई सच्चा हितैषी भी नहीं है। क्या आप ऐसे हैं कि आपका लोक-परलोकमें, स्वार्थ-परमार्थमें कोई मार्ग दिखानेवाला नहीं है? फिर तो आप बहुत असहाय हैं। अच्छा क्या आप इतने बुद्धिमान् हैं और अपनी बुद्धिका आपको इतना अभिमान है कि आप अपनेसे बड़ा ज्ञानी किसीको समझते ही नहीं हैं? अभिमानकी पराकाष्ठा है भाई!

दीक्षा कई तरहसे होती है—आँखसे देखकर, संकल्पसे, हाथसे छूकर और मन्त्र-दान करके। अब जैसी शिष्यकी योग्यता होगी, उसके अनुसार ही दीक्षा होगी। योग्यता क्या है? तो शिष्यकी योग्यता है—श्रद्धा और गुरुकी योग्यता है—अनुग्रह। जैसे वर-वधूका समागम होनेसे पुत्र उत्पन्न होता है, वैसे ही श्रद्धा और अनुग्रहका समागम होनेसे जीवनमें एक विशेष प्रकारकी शक्ति, एक विशेष प्रकारके आत्मबलका उदय होता है और शिष्यके लिए इष्टका, मन्त्रका और साधनाका निश्चय होता है, ताकि आप उसको बदल न दें। नहीं तो कभी किसीसे कुछ सुनेंगे, कभी किसीसे कुछ और जो जिसकी तारीफ करनेमें 'एक्सपर्ट' होगा, अपने इष्ट व मन्त्रकी खूब-खूब महिमा सुनायेगा, वही करनेका मन हो जायेगा। फिर कभी 'योगा' करेंगे, तो कभी विपश्यना करेंगे, कभी वेदान्त पढ़ने लगेंगे, तो कभी राम-कृष्णकी उपासना करने लगेंगे, कभी निराकार तो कभी साकार। माने आपके सामने जो सुन्दर लड़का या लड़की आवेगी उसीसे ब्याह करनेका अर्थ होता है कि एक ही पुरुष या एक ही स्त्री हमारे जीवनमें रहे, वैसे ही, मन्त्र लेनेका अर्थ होता है—एक ही निष्ठा

हमारे जीवनमें हो जाये, एक ही हमारा मन्त्र रहे और एक ही हमारा इष्ट रहे।

एक बात आप और ध्यानमें रखें। निष्ठा ही आत्मबल देती है। यही भक्त बनाती है, यही स्थितप्रज्ञ बनाती है। परमात्मा एक अचल वस्तु है। उसके लिए जब हमारा मन अचल हो जाता है, तब अचल और अचल दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

इसलिए, गुरु हमको अपने इष्टमें, अपने ध्यानमें, अपनी पूजामें, अपने मन्त्रमें अचलता, निष्ठा देता है और आप जो चाहते हैं सो, आपको देता है। देनेमें, दिलानेमें समर्थ होता है। हम तो कहते हैं कि वे लोग दुनियामें बड़े अभागे हैं, जिनके गुरु नहीं हैं।

देखो, यह बात भी तो है कि यदि आप वेश्याके घरमें भी जाना चाहते हों तो आपको मार्ग-दर्शक चाहिए; जुआ खेलना चाहते हों तो भी आपको कोई बतानेवाला चाहिए; किसीकी हत्या करना चाहते हों तो भी कोई बतानेवाला चाहिए, फिर यह जो ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग है, भक्ति है, साधना है, उसको आप किसी बतानेवालेके बिना, गुरुके बिना कैसे तय कर लेते हैं, यह एक आश्चर्यकी बात है।

गुरु आपको मन्त्र भी देता है, साधना भी बताता है, इष्टका निश्चय भी कराता है और गलती होनेपर उसको सुधार भी देता है। सुधार ही नहीं देता है, गलतीको साधन बना देता है। आप बुरा न मानें, एक बात मैं आपको कहता हूँ—ईश्वर सब है, इसलिए उसकी प्राप्तिका साधन भी सब है।

सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें, सब व्यक्तिमें, सब क्रियामें ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है, केवल आपको अभी तक पहचान करानेवाला मिला नहीं है, इसीसे आप ईश्वरको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतः दीक्षा तो साधनाका, साधनाका नहीं, जीवनका आवश्यक अङ्ग है, दीक्षाके बिना तो जीवन पशु-जीवन है।

•

: ४८ :

जीवनमें स्थिरता

प्रश्न : स्थितप्रज्ञ कौन हो सकता है और जिसका योग सिद्ध हो गया है उसमें और स्थितप्रज्ञमें क्या अन्तर है ? योग कैसे सिद्ध होता है और गीताके इन दो श्लोकोंमें—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।

और

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

में सामञ्जस्य बैठता है या नहीं, कृपया समझायें !

उत्तर : प्रश्न तो लम्बा है और एक व्याख्यानमें भी पूरा होने लायक नहीं है, पर बोलना तो है ही ।

गीताके ही दूसरे अध्यायमें यह बात कही गयी कि जो लोग कामनाओंके पीछे दौड़ते हैं—सकाम हैं, वे किसी निश्चयपर दृढ़ नहीं रह सकते । जहाँ-जहाँ और जिस-जिससे उनकी कामना पूर्ण होगी वहाँ-वहाँ वे जायेंगे और वही-वही उपाय करेंगे—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।

यह निश्चयात्मक बुद्धि कैसे हो ? तो उसके लिए विचारका निरूपण किया कि जो योगी है, सांख्यवाला है, विचारक है और एकाग्रचित्त है, उसकी बुद्धि निश्चयात्मक होती है और उसीको व्यवहारमें सफलता

मिलती है और जिसकी बुद्धिमें निश्चय पक्का नहीं होता—आज कुछ, कल कुछ, परसों कुछ, वह व्यवहारमें कभी सफल नहीं होता क्योंकि लोग उसपर विश्वास नहीं करते हैं, वे जानते हैं कि यह हमेशा मनके अनुसार, 'मूड'के अनुसार चलता है और पता नहीं कब, क्या 'मूड' आ जाये—तो 'मूड'-से-'मूड'की खराबी तो होती ही है, मूढ़ता भी होती है, तो ऐसे मनके अनुसार और 'मूड'के अनुसार नहीं चलना चाहिए।

अब हम आपको स्थितप्रज्ञकी बात सुनाते हैं—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

इसकी व्याख्यामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीने कहा कि स्थितप्रज्ञ दो तरहका होता है—एक तो जो समाधिमें बैठा है सो—समाधिस्थ और दूसरा—

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।

व्यवहारमें स्थित।

अब दो प्रकारका स्थितप्रज्ञ हो जानेसे जो असंगति पहले बतायी गयी थी कि एक 'योगयुक्त' होता है और एक 'स्थितप्रज्ञ'—वह असंगति दूर हो गयी। क्योंकि एक ही स्थितप्रज्ञ जब समाधिस्थ होता है तो उसको योगयुक्त कह देते हैं और वही जब व्यवहारमें स्थित होता है तो उसको जीवनमुक्त, स्थितप्रज्ञ कह देते हैं।

अच्छा, अब स्थितप्रज्ञके लिए आपको एक बात सुनाते हैं—गीता किसी मजहबका ग्रन्थ नहीं है। यह न ग्रन्थ है, न पन्थ है। गीताका कहना है कि जीवनमें बुद्धिकी प्रधानता होनी चाहिए। जब कि दुनियामें ऐसा कोई मजहब नहीं है—बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, यहूदी—जिसमें श्रद्धाको प्रधानता न दी गयी हो और सब यही कहते हैं कि हमारी पुस्तकपर, हमारी कुरान-शरीफपर, या हमारे आचार्य मुहम्मद साहबपर श्रद्धा करो और उनकी बात मानो। अगर उनकी बातसे आप जरा भी टस-से-मस, इधर-उधर हुए तो आपके लिए दोजखका दरवाजा खुला है और विहिस्तका बन्द। आप स्वर्गमें नहीं जा सकते, आपको नरकमें जाना पड़ेगा। पर, गीता कहती है—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।

बुद्धिकी शरण लो। और 'कृपणाः फलहेतवः'—जो दुनियाको पकड़कर बैठे हुए हैं और बैठना चाहते हैं और दुनिया बढ़ाना चाहते हैं—हमें यह मिले, यह मिले, यह मिले—वे मँगते हैं, भिखारी हैं। एक कथा सुना देते हैं आपको—एक भिखारी था, भिखारी क्या महात्मा था। उसका नियम था कि उसे जो भी मिलता उसको वह उसी दिन खर्च कर देता। अब एक दिन उसको इतना मिला कि उसके पास दो पैसा बच गया। वह सोचने लगा, इसको किस कामके लिए खर्च करें। अपने साथियोंसे (दूसरे भिखारियोंसे) उसने पूछा—'तुम्हें चाहिए' ?

वे बोले—'क्या हम तुमसे गरीब हैं जो तुमसे दो पैसेकी भिक्षा लेंगे, दान लेंगे।' एकने व्यंग्य कर दिया—'किसी पण्डितसे, किसी धर्मशास्त्रीसे जाकर पूछ आओ।' पण्डितसे पूछा तो पण्डितने कहा कि मैं पहले दो रुपयेकी दक्षिणा लेता हूँ, तब धर्मकी व्यवस्था बताता हूँ। लौट आया। तभी उसको मालूम हुआ कि फलाँ राजा किसी दूसरेपर आक्रमण करने जा रहा है। आक्रमण क्यों कर रहा है ? पता चला कि दूसरा बहुत धनी है, सो जाकर उसको लूटेगा।

भिखारीके मनमें आया कि निश्चय ही यह राजा गरीब होगा—तभी तो लोगोंका खून-खराबा करके भी, लोगोंको मारकर भी धन इकठ्ठा करना चाहता है। अतः, जिस रास्तेसे राजा जानेवाला था, उस रास्तेपर जाकर वह बैठ गया। कुछ देरमें राजाकी सवारी वहाँसे निकली तो उसने वे दो पैसे ले जाकर राजाकी गोदमें रख दिये। बड़ा आश्चर्य हुआ राजाको। पूछा उसने—'क्या बात है भाई !' वह बोला—'महाराज, बहुत दिनोंसे हमको एक गरीबकी खोज थी, कोई गरीब मिल जाये तो उसको हम अपनी पूँजी दे दें। आज आप मिल गये, इसलिए आपको मैंने अपनी पूँजी, दो पैसे दे दिये। राजा स्तब्ध हो गया। 'मैं गरीब हूँ !' तो भाई, पैसेसे ही कोई गरीब नहीं होता है।

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

गरीब वह होता है जिसके हृदयमें तृष्णा है, धनकी प्यास है। यदि मन सन्तुष्ट है, तो गरीबी और धन-सम्पदामें कोई भेद ही नहीं है—को धनवान् को दरिद्रः ? असलमें, जो लोग त्याग करनेमें असमर्थ हैं औरवे

ही कृपण हैं। तो, भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि बुद्धिकी शरण बनी रहनी चाहिए।

आगे बताया कि यदि आप बुद्धिकी शरण लेंगे तो आपको पाप-पुण्य नहीं लगेंगे—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

यदि मनुष्य बुद्धिमान् हो तो पाप-पुण्यको यहीं छोड़कर जाता है, साथ लेकर नहीं जाता—बुद्धियुक्तो जहातीह। ऐसी बुद्धि होती है उसकी ऐसी समझदारीसे वह काम करता है कि उसको पाप न लगता है और न तो पुण्य लगता है; इस तरहसे वह कालिखकी कोठरीमें-से निकल आता है कि कालिखकी एक रेखा भी उसपर नहीं लगती है। अतः, समझदारीसे काम करना चाहिए—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

यह भी बताया कि,

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

यदि तुम समझदारीसे काम करोगे तो तुमको सुख-दुःख भी नहीं लगेंगे। ऐसी समझदारीसे काम करते चलो कि सुखमें फँसो मत और दुःखसे घबड़ाओ मत। पर यह कब होगा? जब कि समझदारी बनी रहेगी—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

तीसरी बात यह कही गयी कि यदि तुम बुद्धिका आश्रय लो, समझदारी नहीं छोड़ो तो—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

जब तुम्हारी बुद्धि निश्चल हो जायेगी तो जीवनमें स्थिरता आजायेगी। तरह-तरहकी बात सुनकर जैसे मनुष्यका मन डाँवाडोल हो जाता है। कभी इधर जाता है, कभी उधर जाता है। जो हवा बही उसीमें बह गया। कभी उनके पीछे गया, कभी उनके पीछे गया! कभी उस साधनामें गया, कभी उस साधनामें गया और जैसे तारीफ सुन-सुनकर आदमी डॉक्टर बदलता जाये या दवा बदलता जाये, तो उसका जीना, उसका निरोग होना मुश्किल है, वैसे ही साधनामें भी जो तारीफ सुन-सुनकर परिवर्तन करते रहते हैं, उनका आगे बढ़ना (किसी भी मार्गमें)

संभव नहीं है। कहनेका तात्पर्य यह है कि तारीफ सुन-सुनकर जो तुम्हारी बुद्धि विप्रतिपन्न हो गयी है, वह यदि तुम बुद्धिका आश्रय लोगे तो ठीक हो जायेगी, तुम एक निश्चयात्मक स्थितिमें पहुँच जाओगे।

इस तरह हम देखते हैं कि स्थितप्रज्ञ होनेके लिए छह बातपर ध्यान देना जरूरी है। (i) हमारे मनमें कामना न हो। हम रामके अनुसार चलें, कामके अनुसार न चलें। 'प्रजहाति यदा कामान्।' (ii.) जब दुःख-सुख आवें—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः'—दुःख आवे तो घबड़ाओ मत। यह भी नहीं रहेगा, जायेगा। एक बात और है—पहले दिन दुःख जितना बड़ा मालूम पड़ता है दूसरे दिन उससे छोटा हो जाता है, तीसरे दिन और छोटा और चौथे दिन और छोटा, हो जाता है। अतः दुःख आवे घबड़ाओ मत। यह मत कहो कि यह चला जावे और सुख आवे तो उसको पकड़कर रखो मत। एक महात्मा इसको ऐसे कहते कि यदि तुम्हारे जीवनमें सुख आवे तो उसको बाँट दो और यदि दुःख आवे तो उसको स्वीकार मत करो—मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान धारण मत करो, वह अपने आप चला जायेगा। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने—दुःखके निमित्त सबके जीवनमें आते हैं की व्याख्यामें कहा है कि जब दुःखाकार वृत्ति होती है तब भगवदाकार वृत्ति या ब्रह्माकार वृत्ति कर ली जाये तो दुःखकी वृत्ति नहीं रहेगी।

परन्तु, दुःखका जो अभिमान है कि मैं दुःखी हूँ, यह तो बिलकुल बेवकूफी है, अविद्या है, अज्ञान है, भ्रान्ति है। इसको श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज बेकूफी, बेवकूफी नहीं, बेकूफी बोलते थे। मैं दुःखी हूँ—इस बातको एक मिनट, दो मिनट, चार मिनट भी अपने मनमें धारण करना भ्रान्ति है, भूल है; क्योंकि आत्मा सदा सुख-रूप है, सुख-राशि है।

यह हुई दूसरी बात। (iii.) अब तीसरी बात यह है कि जीवनमें अच्छे-बुरे मिलते ही रहते हैं—

तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।

कोई अच्छी बात मिल गयी, कोई अच्छा आदमी मिल गया और उसके अभिनन्दनमें ही लग गये अथवा कोई बुरी बात हो गयी, कोई बुरा आदमी मिल गया, तो उसके पीछे ही पड़ गये कि इसको खदेड़कर ही छोड़ेंगे। इससे बचना चाहिए। देखो, दुनियामें अच्छाई-बुराई घटती-बढ़ती रहती है; कृष्ण-पक्ष, शुक्ल-पक्ष आते-जाते रहते हैं। उनमें कहीं

फँसना नहीं चाहिए। (iv.) चौथी बात है, जब चाहें तब अपने हाथ, पाँव, जबानको समेटकर बैठ जायें—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है, हमलोगोंके गाँवकी तरफ पोखर (तालाब)के किनारे कछुये चलते रहते। हम बच्चे क्या करते कि एक ढेला उठाते और उनकी ओर फेंक देते। ज्यों ही ढेला उनके पास पहुँचता कि वे झट अपना हाथ-पाँव-मुँह समेटकर अपनी ढाल (जो कि उनकी पीठकी ही होती है)के भीतर बैठ जाते और थोड़ी देरके बाद फिर चलने लगते। तो ऐसे ही अपने हाथ-पाँव-जीभ विशेषकरके रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय अपने वशमें होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि कुछ दिन बिलकुल खाना ही छोड़ दिया या कि जंगलमें ही भाग गये। **इन्द्रियोंको मारना नहीं है, इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखना है।** रसनेन्द्रिय माने जिससे हम रस लेते हैं, स्वाद लेते हैं वह और जननेन्द्रिय माने जिससे हम बच्चा पैदा करते हैं, वह। यदि ये दोनों इन्द्रियाँ वशमें हो जायें, तो 'जीते सर्वं जीते रसः' फिर सभी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है। तो चौथी बात हुई इन्द्रियोंको समेटनेका सामर्थ्य अपनेमें होना चाहिए। (v.) पाँचवी बात यह है कि अपने ऐन्द्रियक व्यवहारके सम्बन्धमें एक मर्यादा बना ली जाये—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(vi) छठीं बात है कि अपने स्वरूपका जब ज्ञान हो जायेगा—

परं दृष्ट्वा निवर्तते।

तब फिर संसारमें राग-द्वेष नहीं रहेगा और आप स्थितप्रज्ञ हो जायेंगे—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

और बादमें इसमें जो विघ्न हैं, उनका वर्णन है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

और जो काम करनेकी प्रणाली है, उसका वर्णन है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

समुद्रकी तरह स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने स्थानपर बैठा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

माने भोग स्वयं महात्माके पास आते हैं, महात्मा भोगोंके पास नहीं जाता। ठीक वैसे ही, जैसे नदियाँ समुद्रके पास आती हैं, समुद्र नदियोंके पास नहीं जाता।

एक बात योग-युक्तके विषयमें जो पूछी गयी—'युक्ताहारविहारस्य'—अब इसमें भी देखो कि समाधि कहाँ है? इसमें कहते हैं कि आप जो आहार-विहार करते हैं, उसको सन्तुलित रखिये। आजकल जैसे डाक्टर-लोग कैलोरीज गिनकर रोगीको खानेके लिए बताते हैं, वैसे ही हमारे शास्त्र भी सन्तुलित भोजन करना ही बताते हैं। शास्त्रके अनुसार भोजन एक प्रकारकी औषधि ही है—

भिक्षौषधं भुज्यताम्।

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं कि भोजन भोग नहीं है, भोजन भूख-रूप रोगकी दवा है। जैसे दवा ले लेनेसे रोग दब जाता है वैसे ही खा लेनेसे भूख दब जाती है। आठ ग्रास रोज खाते जाओ, महीनेमें २४० ग्रास हो जायेंगे, भूख भी दब जायेगी और हर महीनेमें चान्द्रायण व्रत भी हो जायेगा—

युक्ताहारविहारस्य।

हाँ, परिश्रम भी जितनी शक्ति हो उतना ही करना चाहिए।

आहार सन्तुलित हो, विहार नियमित हो, कर्म अपनी शक्तिके अनुरूप हो और सोने और जागनेका एक समय हो तो योग, वह दुःख मिटनेवाला हो गया—'योगो भवति दुःखहा।' नहीं तो—'देखा-देखी करे जोग, छीजै काया बाढ़े रोग।' अतः सावधान!

एक हमारे मित्र थे। भोजनके बड़े शौकीन। जिस दिन उन्हें अच्छा भोजन मिल जाता खूब खा लेते और फिर जब तकलीफ होती तब बोलते, बड़ी भारी गलती हो गयी, अब नहीं करेंगे और फिर तीन-चार दिन तक भोजन ही छोड़ देते और फिर जब तीन-चार दिन बाद बढ़िया भोजन सामने आता तब फिर खा लेते, अपना नियम तोड़ देते।

अन्तमें उनको 'संग्रहणी' हो गयी। अभी भी जिन्दा हैं, पर संग्रहणीसे पीड़ित हैं। इसलिए जीवनमें आहार माने आहारकी मात्रा होनी चाहिए और विहार माने जीवनमें नियम होने चाहिए। शक्तिके अनुरूप ही हमें कर्म करना चाहिए और कब सोवें और कब जागें—इसका एक समय

निश्चित होना चाहिए। आजकल भी एक ऐसा घराना है कि जिनके यहाँ रातको नौ बजे सबलोग अपने-अपने कमरेमें चले जाते हैं, कोई बाहर नहीं रहता और फिर सबेरे पाँच बजे सब उठ जाते हैं और नौकर तो पाँच बजेसे भी पहले उठ जाते हैं।

हम रहते हैं उनके घरमें, इसलिए रोज देखते हैं कि जब नौ बज रहे हैं तो सब सोनेके लिए उठ जाते हैं, प्रणाम करते हैं और हम यदि प्रसाद न दें तो माँग लेते हैं—'महाराजजी प्रसाद दीजिये' और जाकर सो जाते हैं और सवेरे पाँच बजे फिर हाजिर। तो, अपने जीवनमें सोनेका, जागनेका, खानेका, पीनेका, टहलनेका और कर्म करनेका नियम होना ही योग है।

मुझे आपको यह सुनानेमें कोई संकोच नहीं है कि गीतामें समाधि लगानेका नाम ही योग है, ऐसा नहीं है, वहाँ तो—

सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

योगी दो तरहके होते हैं—एक परमयोगी और दूसरे अपरयोगी। योगी कौन है कि जो आँख बन्द करके समाधि लगाता है और परमयोगी कौन है? जो खुली आँखसे सब देख रहा है और दूसरेके दुःखमें वैसी ही सहानुभूति रखता है जैसे अपने ऊपर दुःख आनेपर और जैसे अपने सुखमें सुखी होता है वैसे ही दूसरेके सुखमें सुखी होता है, इसका नाम है परम योगी।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

इसलिए गीतामें स्थितप्रज्ञ और योगीमें कोई अन्तर नहीं है और न ही इसमें कोई असङ्गति या विसङ्गति है। आप काम करते हुए भी, व्यवहारमें रहते हुए भी योगी हो सकते हैं। ●

: ४६ :

आस्तिकता

प्रश्न : महाराजश्री, श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

में बताया गया कि साधन-रहित पुरुषके अन्तःकरणमें श्रेष्ठबुद्धि नहीं होती और न ही आस्तिक भाव होता है। फिर आगे बताया कि बिना आस्तिक भाववाले पुरुषको शान्ति नहीं होती। ऐसा क्यों? कृपया समझायें!

उत्तर : गीताके इसी अध्यायमें ही पहले यह बात बतायी गयी है कि जिनकी बुद्धिमें अनेक कामनाएँ रहती हैं—हमको स्वर्ग मिले, भोग मिले, अर्थ मिले, सम्मान मिले, उनकी बुद्धि बँट जाती है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

इसको यों भी कह सकते हैं कि जिनकी बुद्धि अपने लक्ष्यके सम्बन्धमें निश्चत नहीं है कि हमको क्या प्राप्त करना है, उनकी बुद्धिकी बहुत शाखा हो जाती है—'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च।' जिसकी गिनती नहीं की जा सकती है कि कितनी है और उसका अन्त कब और कहाँ होगा!

एक साथ अनेक वस्तुओंको बुद्धि चाहती है, यह हो गयी बहुशाखा और कितना प्राप्त होनेके बाद बुद्धि शान्त होगी, इसका कुछ पता नहीं होता—तो यह हो गयी अनन्तता। एकके बाद एक, एकके बाद एक, एकके बाद एक—धन हो जाये, मकान हो जाये, व्याह हो जाये, बेटा हो जाये, बेटा पढ़-लिख जाये, उसका व्याह हो जाये, उसके बेटा हो जाये—कामना जो है, वह कहीं भी जाकर पूरी नहीं होती, एकके बाद एक आती रहती है। माने, कालमें बुद्धिका अन्त नहीं होता है। पर, यदि वह कामना एकके बारेमें हो जाये, माने एकके बारेमें अनन्तबुद्धि हो जाये तो वह परमात्मासे मिला सकती है।

ऐसा मिले, फिर ऐसा मिले, फिर ऐसा मिले—माने, अन्ततक यानि जबतक परमानन्दस्वरूप परमात्मा नहीं मिलेगा तबतक बुद्धि काल-क्रमसे बढ़ती रहेगी और जब परमात्मा मिल जायेगा, तब वह शान्त हो जायेगी। लेकिन जिसकी बुद्धि बहुशाखा है माने, एक साथ ही बहुत

वस्तु चाहती है—यह मिले, यह मिले, यह मिले, वह किसी भी निश्चयपर नहीं पहुँचे। इसलिए—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

वह चाहे स्वर्गकी ही हो, तो फिर स्वर्गके ऊपर—स्वर्गमें भी तो एकसे दस गुणित, शत गुणित—एकसे शत गुणित, एकसे शत गुणित—तैतरीय उपनिषद्‌में दस बार यह बताया गया है कि एक मनुष्यको जितना आनन्द होता है, उससे सौ-सौ गुणित आनन्द मानव-गन्धर्वको और फिर उससे सौ-सौ-गुणित आनन्द देव-गन्धर्वको होता है। बल्कि, यहाँतक कहा जाता है कि पहले हम स्वर्गको भी चाहेंगे तो उसके बाद ब्रह्मलोकको चाहेंगे, विष्णु-लोकको चाहेंगे और फिर शिव-लोकको चाहेंगे। तो 'वेद-वादरताः पार्थ—अतः ऐसे जो लोग हैं—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

उनकी बुद्धि एकाग्रतापर कभी नहीं पहुँचेगी, 'समाधौ' माने एकाग्रता और फिर वह भटकती ही रहेगी। इसके लिए क्या करना चाहिए? अपने व्यवहारको सुधारना चाहिए।

अब फिर वहाँ चलते हैं जहाँ प्रश्न है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

वहाँ बता दिया कि आप इन्द्रियोंसे व्यवहार तो कीजिये, परन्तु, कहीं राग-द्वेष मत कीजिये—'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'—माने किसीके राग-द्वेषमें पड़कर न रह जायें। राग माने मुहब्बत, माने किसीका रंग अपने दिलमें छा जाना और द्वेष माने किसीसे अपने दिलमें जलन होना; सुखाशयी राग और दुःखाशयी द्वेष। 'द्वेषःज्वलनात्मकः चित्तवृत्तिविशेषः'—चित्तमें जलनकी वृत्तिका नाम द्वेष होता है और जब किसीके रंगमें हम इतने रंग जाते हैं कि उसका असली रूप ही भूल

जाता है—जैसे, एक व्यक्ति बाजारमें वस्त्र खरीदनेके लिए गया, ता उसने उसका रंग देखा, उसकी चमक देखी, उसकी डिजाइन देखी, लेकिन यह नहीं देखा कि वह सूती है कि टेरीकॉटन कि रेशमी। माने कपड़ेकी 'क्वालिटी' नहीं देखी; उसकी चमक-दमक देखी लेकिन, उसकी असलियत नहीं देखी, तो यह राग हो गया। अतः, हम व्यवहार तो सब करें लेकिन केवल ऊपरकी चमक-दमकमें न फँस जायें और बुराईसे परहेज तो करें लेकिन उसके लिए अपने दिलको न जलायें—यह बहुत बड़ी बात है।

एक बार मैं माँजी (कानपुरवाली)के साथ कहीं जा रहा था। रास्तेमें ड्राइवरसे मोटर चलानेमें थोड़ी गलती हो गयी। गलती हो गयी तो माँजीकी आँखें लाल-लाल हो गयीं और चेहरा तमतमा गया। लगा कि शायद अपने लिए कम और मेरे लिए ही ज्यादा। ऐसा हुआ, वे ड्राइवरको कुछ कहने ही जा रही थीं कि मैंने कहा—'माँजी, आपकी आँखें लाल हो गयी हैं और चेहरा तमतमा गया है, इसलिए इस समय आप कुछ मत बोलिये। ड्राइवरको तो तकलीफ होगी बादमें, जब आप बोलेंगी तब, पर आपको तकलीफ हो गयी। तो, ड्राइवरको कुछ कहनेके पहले आप अपनी तकलीफ तो मिटा लें!

चुप रह गयीं वे। फिर, उनका ध्यान उस ओरसे हटानेके लिए मैंने उनसे कुछ खानेको माँग लिया और वे मुझे खिलानेमें लग गयीं। तो, हम व्यवहार तो सबके साथ करें, पर अपने दिलको न जलायें, बाहर न फेंके। द्वेषसे दिल भीतर-ही-भीतर जलता रहता है और रागसे हम दिल बाहर फेंक देते हैं। इसलिए, हमें राग और द्वेष दोनोंसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिए!

अच्छा, ऐसा भी है कि जिस इन्द्रियसे हम काम करें, वह हमारे काबूमें हो—'आत्मवश्यैः'—हाथको जहाँ चाहें वहाँ रोक दें; जीभको जब चाहें तब बोलनेसे रोक दें, यह नहीं कि बोलने लगें तो बोलते ही जायेंगे अथवा बरसने लगें तो बरसते ही जायेंगे। नहीं; बरसते ही मत जाना, जहाँ रोकना हो वहाँ रोक देना—'आत्मवश्यैः'।

और मन? मन अपना आज्ञाकारी हो 'विधेयात्मा'—ऐसे पुरुषको शान्तिकी प्राप्ति होती है—

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।

'प्रसादम्' माने प्रसन्नता और प्रसन्नता माने चित्तकी निर्मलता—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

जब चित्त प्रसन्न रहेगा, निर्मल जलके समान रहेगा, तब आपको दुःख नहीं होगा। महात्मा लोग इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—एक मन पत्थरके समान होता है, उसपर लकीर खींच देंगे तो वह बहुत दिनों तक बनी रहेगी; किसीने तारीफ कर दी या किसीने गाली दे दी तो उसकी लकीर अपने दिलमें बन गयी—ये हमारे बड़े प्रेमी हैं, हमारी तारीफ करते हैं और ये हमारे दुश्मन हैं, हमारा अपमान करते हैं—ऐसा दिल पत्थरके समान है। दूसरा दिल बालूके समान होता है, उसपर लकीर तो पड़ जाती है, पर जब हवा चलती है तब वह लकीर अपने आप मिट जाती है और तीसरी तरहका दिल होता है—पानीके समान, लकीर पड़ती ही नहीं। पानीमें लकीर खींचते चले जाओ, खींचते चले जाओ पर, खिंचती ही नहीं। तो, अपना दिल पानीके समान होना चाहिए।

एक बात आप यह भी ध्यानमें रखें कि आपका कोई भी कदम—सुखमें या दुःखमें, घबड़ाकर नहीं उठे। सब सोच-समझकर करें। ऐसा नहीं कि जैसे, किसी व्यापारीने कोई सौदा किया और उसमें घाटा हो गया और घाटेके दुःखसे उद्विग्न होकर, उससे भी बड़ा कोई दूसरा सौदा कर लिया, घाटा पूरा कर लेंगे यह सोचकर और उसमें भी मार खा गया। तो, ऐसा नहीं करना चाहिए, सब काम विवेकपूर्वक ही करना चाहिए। 'प्रसादे' माने निर्मल जलके समान और 'प्रसन्नचेतसः' माने, निर्मल जलके समान हमारे अन्तःकरणपर दुःखका कोई असर न पड़े। दुःखके असरसे आप जो भी काम करेंगे, वह बिल्कुल बिगड़ जायेगा और आपको यही सुननेको मिलेगा कि ये हमसे कड़ुआ बोलते हैं, ठीकसे बात नहीं करते हैं, हमको नुकसान पहुँचाते हैं, और इस तरह आपके लिए लोगोंका 'आइडिया' बिगड़ जायेगा। तो, चाहे जो भी हो जाये, अपनी प्रसन्नतामें, अपनी मुस्कानमें फर्क नहीं आने पावे। हमेशा दिल मुस्कराता रहे।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते!

यदि आपका मन निर्मल रहेगा तो आपकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी। स्थितप्रज्ञ—पर्यवतिष्ठते, पर्यवस्थानका नाम है, स्थिरप्रज्ञा—माने, प्रज्ञाकी

स्थिरता, बुद्धिकी स्थिरता। यह बात आप अपने मनमें नोट कर लें कि आपके जीवनमें बाहरसे इतनी तरहके प्रभाव आयेंगे कि यदि आप उनसे प्रभावित होंगे या उनको ग्रहण करेंगे तो आपकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होगी। अरे भाई, जो कहा सो कहा गया; जो हुआ सो हो गया, वह भूल जाना-याद रखना ही, सुलक्षण-कुलक्षण है। इनसे ही पता चलता है कि भविष्यमें आदमी कैसा बनेगा, वह छोटी-छोटी बातोंका प्रभाव अपने चित्तपर लेता है कि नहीं लेता है। यदि नहीं लेता है, उसका चित्त बड़ा हो जायेगा और आगे चलकर वह महात्मा हो जायेगा और लेता है तो वह आगे चलकर क्षुद्रात्मा हो जायेगा, खुदरा मालका विक्रेता रह जायेगा। क्षुद्र माने खुदरा—तो वह खुदरा मालका विक्रेता रहेगा, थोक मालका विक्रेता कभी नहीं हो पायेगा। तो मूल बात यह है कि अपनी बुद्धि स्थिर हो।

व्यवहारमें यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि यदि आपकी बुद्धिमें, निश्चयमें, स्थिरता नहीं रहेगी तो आप समाजमें विश्वसनीय नहीं हो सकेंगे और जो मनुष्य अपनेको समाजमें विश्वसनीय नहीं बनावेगा, उसका समाजमें कोई भी स्थान नहीं रहेगा। बल्कि, समाजमें तो आपका ऐसा प्रभाव होना चाहिए कि भाई, ये तो जो कह देते हैं, उसपर अडिग हो जाते हैं और जिसको सत्य समझते हैं उसको ही अपने जीवनमें धारण करते हैं। और यदि यहाँ यह सुना और वहाँ वह सुना और वैसे ही करने लगे, तो फिर ऐसे ही इधर-उधर लटकते-भटकते रहेंगे। ऐसा नहीं होना चाहिए।

अब, इसके बाद वही श्लोक—'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' है। 'अयुक्तस्य' माने, राग-द्वेष रहित इन्द्रियोंसे व्यवहार और व्यवहार भी वशमें हो। जैसे, बचपनमें हमलोग जब कभी दौड़ते थे तो कभी-कभी दौड़ते-दौड़ते इतने वेगमें आजाते कि सामने कोई आजाता तो, अपनेको रोकना तो चाहते, पर रोक नहीं सकते और वेगमें जाकर उससे भिड़ जाते। तो, 'आत्मवश्यै'का अर्थ है कि जहाँ बोल दें—रुकना है, वहाँ रुक जायें। माने, जैसे सैनिक अनुशिष्ट होता है बिल्कुल वैसे ही अपने हाथ-पाँव, जीभ, मूत्रेन्द्रिय सब अनुशिष्ट हों, हमारी आज्ञाके अनुसार चलें, आज्ञाके विरुद्ध न चलें। माने, जब हम समझते हैं कि यह बोलना, यह करना उचित

नहीं है, तब वह नहीं बोलें, नहीं करें। यह युक्त जीवन हुआ 'युक्त आसीत मत्परः।'

दूसरे अध्यायमें इसी प्रसङ्गमें 'युक्त आसीत मत्परः'—में और, और भी—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगो समलोष्टाश्मकाञ्चन॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

'कामक्रोधोद्भवं वेगं'—वेगको सह लेनेका सामर्थ्य होना चाहिए। क्रोधके वेगमें गाली मत देने लगो, मारने मत लगो। और दूसरेकी छोड़ो, कभी-कभी तो क्रोध आता है तो लोग अपने ही बाल नोचने लगते हैं, अपनेको ही चपत लगा लेते हैं, अपना ही सिर भीतसे टकरा देते हैं! शायद आप लोगोंमें भी कोई ऐसा हो, तो यह चाहे जो बोल देना, चाहे जो कर लेना, चाहे जो खा लेना, अपने ही घरकी चीज उठाकर तोड़ देना, फोड़ देना, काम-क्रोधका वेग सहन नहीं होता!

तो, इस काम-क्रोधके वेगको जिसने वशमें कर लिया, वह युक्त है और उसकी बुद्धि विश्वसनीय है और जिसने शम-दमादि साधन-सम्पन्न होकर गुरुकी शरणमें जाकर श्रवण-मनन नहीं किया, वह अयुक्त है, उसे बुद्धिकी प्राप्ति ही नहीं होगी। वह कामके वशमें होगा तो वेश्याके वशमें होकर सबको नुकसान पहुँचा सकता है और क्रोधी होगा तो अपने शत्रुको लाभ पहुँचानेवालेको लाभ पहुँचा देगा।

अब इस बातको लेते हैं कि साधन-रहितके अन्तःकरणमें आस्तिक-भाव क्यों नहीं होता है? देखो, वृत्ति दो तरहकी होती है—अस्ति-वृत्ति और नास्ति-वृत्ति, परलोक है और परलोक नहीं है। अब, जिसके मनमें अस्ति-भाव है, माने जिसको वह 'है' समझता है, 'अस्ति' समझता है, उसके परिहारके लिए वह प्रयत्न भी करेगा। यदि अच्छी चीजमें 'अस्ति' है, तो पाना चाहेगा और बुरी चीजमें 'अस्ति' भावना होगी, वह साधना करेगा तथा जिसके हृदयमें 'अस्ति' भावना नहीं होगी, वह साधना नहीं करेगा।

इसलिए, आस्तिकता और साधनाको एक साथ परस्पर सापेक्ष कर

लेना चाहिए। जो लक्ष्य हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह है और प्राप्त होगा; यह अस्ति-भाव होना चाहिए और उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए यह साधना करनी चाहिए। यह साधनाका भाव होना चाहिए। तो, अस्ति माने आस्तिक (जिसके मनमें अस्ति-भाव है), जैसे कहते हैं—हैपनेका भाव—माने, हमें मालूम है कि यह चीज है, हीरा है, तो जब हीरा है तो हीरा हमें मिल भी सकता है। इसलिए उसको पानेके लिए हमें कोशिश करनी चाहिए। हीरा है, यह अस्तिभाव हुआ, आस्तिकता हुई और उसको पानेके लिए कोशिश करनी चाहिए, यह साधना हुई। यदि हीरा है, तो उसको पानेके लिए साधना करनी पड़ेगी और साधना करेंगे तो हीरा मिलेगा! इस तरह हम देखते हैं कि आस्तिकता और साधना दोनों परस्पर सापेक्ष ही होती है।

अब दूसरी बात, जिसके बारेमें आपका ख्याल है कि वह है ही नहीं, जैसे कि मान लें कि स्वर्ग नामकी कोई चीज है ही नहीं, तो आप स्वर्ग-प्राप्तिके लिए यज्ञ क्यों करेंगे? साधन भी छूट जायेगा। पर, यदि यह ख्याल है कि स्वर्ग है, तो उसके लिए यज्ञ करनेकी इच्छा भी होगी। इसलिए, साधना और जिस साध्यकी प्राप्तिके लिए हम साधना कर रहे हैं, उसमें आस्तिक-बुद्धि, दोनों ही एक साथ होनी चाहिए। अब, जिसमें भावनाका उदय ही नहीं हुआ, उसकी बुद्धि श्रवण-मननसे चाहे जितनी बढ़ जाये और मनमें चाहे जितनी युक्तियाँ स्फुरित होने लगें, उसे शान्ति नहीं मिलेगी।

देखो, सच्चा नास्तिक होना बड़ा मुश्किल है, वैसे कई लोग कहते हैं कि ईश्वर नहीं है। एक बार हम किसीके घर भोजन करनेको गये—पाँच-छः जने थे। मेजबान (जिनके घरमें भोजन था)ने एकसे हमारा परिचय कराया, 'ये नास्तिक हैं, ईश्वरको नहीं मानते हैं!' मुझे बहुत खुशी हुई! मैंने कहा—'ये तो नमस्कार करने योग्य हैं, बहुत बड़े हैं।' मेरी बात सुनकर वे हँसने लगे और उन्होंने मुझसे पूछा—'कैसे'? मैंने कहा—'इन्होंने सारी दुनिया छानकर देखी होगी, देश-काल, पूर्व-पश्चिमका आदि-अन्त देखा होगा और ईश्वर इनको वहाँ नहीं मिला होगा; इन्होंने कालका आदि-अन्त ढूंढ़ लिया होगा और इनको वहाँ ईश्वर नहीं मिला होगा; सृष्टिका आदि-अन्त देखा होगा और ईश्वर इनको वहाँ नहीं मिला होगा। तो देशके आदि-अन्तमें ईश्वर यदि नहीं मिला, कालके आदि-

अन्तमें ईश्वर यदि नहीं मिला, वस्तुके आदि-अन्तमें ईश्वर यदि नहीं मिला और बीचमें भी एक-एक कण, एक-एक क्षण ढूँढ़ लिया; ईश्वर नहीं मिला और जब ढूँढ़नेके लिए कोई कोना बाकी नहीं रहा, कोई कण बाकी नहीं रहा, कोई क्षण बाकी नहीं रहा, सब ढूँढ़ लिया, तब ना कहते हैं कि ईश्वर नहीं है !

तो, ये तो सर्वज्ञ हैं ! सर्वज्ञ ही क्या, हम तो इनको ईश्वर ही माननेको तैयार हैं, जिन्होंने इतना बड़ा ज्ञान प्राप्त करके ईश्वरके नाहीपनेको जाना। नहीं तो नास्तिक कैसे हैं ? सुन-सुनाके नास्तिक हैं। किसी पढ़े-लिखेके मुँहसे, अथवा किसी लेबोरेटरीवालेके साथसे, अथवा खाओ-पीओ मौज उड़ाओवाली पार्टीसे साथ हो गया होगा और आपने मान लिया होगा कि ईश्वर नहीं है। जो सचमुच ईश्वरको सर्वदेशमें, सर्वकालमें ओर सर्वरूपमें ढूँढ़कर देख लेता है, वह तो देखनेवाला ही ईश्वर है ! वह तो स्वयं बुद्ध है, संबुद्ध है। इसलिए, यह जो छोटी-मोटी नास्तिकता होती है; सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर, संगतके आधारपर, भोग-विलास करनेके लिए, चोरी करनेके लिए चला और किसीने कहा कि ईश्वर देखता है भाई ! तो झट कह दिया—'कहाँ है ईश्वर ?'

कोई पर-स्त्री या पर-पुरुष गमन करनेके लिए चला और किसीने कहा कि ईश्वरके सामने ऐसा अन्याय मत करो तो कह दिया कि ईश्वर तो है ही नहीं ! तो, ऐसे जो छोटी बुद्धिवाले नास्तिक हैं, उनकी तो कोई गिनती नहीं है और सच्चा नास्तिक दुनियामें कोई होता नहीं है !

आइन्सटीन जैसा वैज्ञानिक भी ईश्वरपर कितना विश्वास करता था। एकबार श्रीमन्नारायण, गुजरातके राज्यपाल और जमनालाल बजाजके जँवाई, आइन्सटीनसे मिलनेके लिए गये और उन्होंने उससे पूछा—'आपको इतनी उच्चकोटिकी प्रेरणा कहाँसे मिलती है ?' इसके उत्तरमें, वह उन्हें उस कमरेमें ले गया, जिस कमरेमें मरियमकी गोदमें ईसा थे और उसने बताया—'मुझे सारी प्रेरणा इनसे मिलती है।'

तो, असलमें नास्तिकताको लोग भोग-रागमें उच्छृङ्खलता प्राप्त करनेके लिए ही स्वीकार करते हैं; कभी सङ्ग बिगड़ जानेसे करते हैं, कभी बुद्धि बिगड़ जानेसे करते हैं और कभी चरित्र बिगड़ जानेसे करते हैं। अतः, यह जीवनके लिए जरा भी कल्याणकारिणी नहीं है। इसलिए ईश्वरपर विश्वास करना बहुत आवश्यक है। ●

: ५० :

प्रेम

प्रश्न : प्रेम नित्य है या अनित्य और इसका सत्यके साथ क्या सामञ्जस्यहै, कृपया बतलायें !

उत्तर : 'प्रेम' शब्द संस्कृतमें एक 'प्रीञ्' धातु है, उससे बना है, 'प्रीञ् तर्पणे'—तृप्तिके अर्थमें। माने, जिसको अपनी तृप्तिके लिए दूसरा कोई नहीं चाहिए, उसको 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम आत्माका स्वरूप है। मैं वह प्रेम हूँ, जिसको संसारकी किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। मैं वह प्रेम हूँ जिससे सुन्दर दुनियामें और कोई नहीं है। मैं वह प्रेम हूँ जिससे मधुर कोई और नहीं है।

व्यवहारमें आनन्द-स्वरूप जो आत्मा है और अन्तःकरणमें जो उसका प्रतिबिम्बन है, उसको प्रेम कहते हैं। जैसे, शीशेमें आपकी परछाईं दिखती है, तो जो आप हैं वही शीशेमें दीख रहे हैं; वैसे ही आप परमानन्द स्वरूप हैं और अन्तःकरणके शीशेमें आप जिस परमानन्दकी छायाको देखते हैं, उसका नाम 'प्रेम' है।

दूसरे शब्दोंमें, अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बत परमानन्द-स्वरूप-आत्माका नाम ही प्रेम है और यह किसी भी दूसरेसे नहीं होता, होता है तो सिर्फ आभास मात्र होता है, माने प्रेमाभास होता है। यहाँतक कि ईश्वर भी

जबतक दूसरा रहेगा, तबतक उससे भी सच्चा प्रेम नहीं होगा। बात जरा कड़ुवी है, पर ध्यान देने योग्य है।

आप ईश्वरको क्यों चाहते हैं? क्योंकि ईश्वरके मिलनेसे आपको सुख होगा; ईश्वरकी अनुभूतिसे आपको सुख होगा; ईश्वरके दर्शनसे आपको सुख होगा; ईश्वरमें स्थित होनेसे आपको सुख होगा। तो, आप अपना सुख ही तो चाहते हैं, ईश्वरका सुख थोड़े ही चाहते हैं।

अतः अपने सुख-स्वरूपका अन्तःकरणमें प्रतिबिम्ब दीखनेका नाम ही प्रेम है! संस्कृतके जो पण्डित होंगे, उनको यह बात मालूम पड़ेगी कि यह 'प्री' धातु जो है, उसके कई प्रकारसे रूप बनते हैं—प्रयति, प्रयते, प्रीणाति, प्रीणीते, प्रीयते।' यह अकर्मक-सकर्मक दोनों हैं; अपने आपमें परमानन्द, तृप्त और दूसरेको तृप्ति देना। इस प्रकार, तृप्त रहना और तृप्ति देना—प्रेमके ये दो रूप हैं। यह आत्माका स्वरूप है, तो नित्य है और यदि अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित है, तो जबतक वृत्ति है तबतक मालूम पड़ता है और सुषुप्तिकालमें इसका पता नहीं लगता है; क्योंकि जब वृत्ति लीन हो जाती है तब वृत्तिमें जो प्रतिबिम्बित है, वह भी लीन हो जाता है। इसलिए प्रेम दूसरेसे नहीं होता, अपने आपसे ही होता है।

उपनिषद्ने इस अवस्थाका अनुभव इस तरह किया है—अनुवादक उपनिषद् है, बोधक या विधायक श्रुति नहीं है, यह नहीं कि यह आदमी अपनेसे प्रेम करे, यह विधान नहीं है और अपनेसे प्रेम है—यह सिद्ध वस्तुका बोधन भी नहीं है। लोक-व्यवहारमें जैसा देखा जाता है—

न वा अरे पत्युःकामाय पतिःप्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पतिःप्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति॥

पत्नीसे प्रेम होनेसे लोग उससे प्रेम नहीं करते हैं, पत्नीके लिए पत्नी प्रिय नहीं होती है, पतिके लिए पति प्रिय नहीं होता; धनके लिए धन प्रिय नहीं होता; अपने लिए ही सब प्रिय होते हैं।

अतः हम दूसरेसे प्रेम क्यों करते हैं? यह जिज्ञासा उत्पन्न करनेके लिए श्रुतिमें प्रेमका वर्णन आता है। आप जोशमें आकर मर-मिटें, यह बात दूसरी है; थोड़ी देर मोह-वश रो लें, यह बात दूसरी है। हमने

तो श्मशानपर देखा है—बेटा मरा हुआ है, लाश जल रही है और दो जने, चार जने, आठ जने आपसमें बैठकर गप्प हाँक रहे हैं और जब दो-तीन घण्टे बैठते हैं, तब तो हँस भी लेते हैं और कहानी-किस्सा भी कह लेते हैं। तो भाई, दूसरेसे कोई प्रेम नहीं करता। हम रामको, कृष्णको, शिवको, ईश्वरको, परमेश्वरको, यहाँतक कि दूसरे ब्रह्मको भी यदि ब्रह्म दूसरा हो तो, अपने लिए ही चाहते हैं। इस तरहसे हम देखते हैं कि सबसे अधिक प्रेम हमारा अपने परम प्रियतम आत्मदेवसे ही होता है और जबतक हम इसको पहचानेंगे नहीं तबतक इससे प्रेम किया, उससे प्रेम किया; यहाँ अटके, वहाँ भटके; वहाँ लटके, वहाँ खटके; इसीमें लगे रहेंगे। असली प्रेमास्पद अपना आत्मा है।

अब, यदि आप प्रेमको व्यापक बनाना चाहते हों, तो आत्माको ब्रह्मरूपमें जानो; फिर जिससे भी आपका प्रेम होगा, वह चाहे पत्थरसे हो, चाहे पेड़से हो, चाहे पशुसे हो, चाहे पक्षीसे हो, चाहे आसमानसे हो, चाहे तारोंसे हो, अपने आपसे ही होगा। जब सब अपना आपा है तब सबसे प्रेम, अपने आपसे ही प्रेम है और जिसको हम दूसरा मानकर प्रेम करते हैं, वह अनित्य प्रेम है और वह सुषुप्ति-काल, समाधि-काल, मूर्च्छा-काल—किसी भी कालमें नहीं रहता, प्रियतमके प्रतिकूल आचरण करनेपर भी नहीं रहता है। इसलिए, नित्य आत्माके साथ जो प्रेम है वह नित्य है और अनित्य वस्तुओंके साथ जो प्रेम है वह अनित्य है।

अब देखो, देह भी अनित्य है, प्राण भी अनित्य है और मन भी अनित्य है; इसलिए, इनके साथ जो प्रेम है वह भी अनित्य है और प्रेम-स्वरूप जो आत्मा है, वह नित्य है और इसलिए, इससे जो प्रेम है वह भी नित्य है और प्रेमी, प्रेम और प्रियतम—इन तीनोंका भेद टूटे बिना पूर्ण ही नहीं होता है।

आप कहते हैं—आपका धनसे प्रेम है। पर, कोई तलवार लेकर आपपर चढ़ बैठे तो आप सारा धन उसको दे देंगे और अपने आपको बचावेंगे। तो, यह आपका धनसे प्रेम नहीं है—यह मोह है, काम है, स्वार्थ है, लोभ है। आप कहते हैं—आपका अपने पुत्रसे प्रेम है! देखिये, इस सम्बन्धमें स्वामी रामतीर्थने अपने एक व्याख्यानमें दृष्टान्त दिया है—एक बाबूजी अपने ऑफिसमें काम कर रहे थे। उनके पास खबर पहुँची कि उनके घरमें आग लग गयी है। बाबूजी तुरन्त काम

छोड़कर अपने घर पहुँच गये। वहाँ सैकड़ों लोग आग बुझानेमें लगे हुए थे। उनको मालूम हुआ कि घरके और लोग आगसे बचकर निकल आये, पर, एक छोटा बच्चा, जो उनका ही पुत्र था; बहुत प्यारा, घरमें ही रह गया!

अब वे चिल्लाने लगे—'कोई दस हजार रुपया ले ले और मेरे बेटेको निकाल कर ला दे!' अन्तमें बोले—'कोई लाख रुपया ले ले और मेरे बेटेको निकालकर ला दे!' चिल्लायें पर, खुद निकालने न जायँ। तभी वहाँ खड़ी भीड़में-से एकने कहा—'तुम दूसरेको दस हजार, लाख रुपया देनेको जब तैयार हो तब खुद ही घरमें घुसकर अपने बेटेको क्यों नहीं निकाल लाते हो?' तो अन्ततोगत्वा प्रेमका रूप यह है कि जो प्रेम अपने परमानन्द-स्वरूप आत्मासे, अन्तःकरणमें दीखते हुए अपने प्रतिबिम्बसे होता है, वह प्रेम सच्चा होता है और सब भ्रम ही होता है कि हम दूसरेसे प्रेम करते हैं। यह बात दूसरी है कि कभी जोशमें आगये तो जहर खा लें, फाँसी लगा लें, छतपरसे कूद पड़ें या मर जायें; पर, जब भी ऐसा करेंगे तब जोशमें ही करेंगे, होशमें नहीं।

और हाँ, आपको यदि कभी किसीसे प्रेममें मरना हो तो आपको मैं बिना पूछे ही एक सुझाव देता हूँ—आप पहले तीन दिन व्रत रखकर अपने घरमें थोड़ा पूजा-पाठ कर लीजिये, उसके बाद प्रयागराज जाइये और वहाँ अक्षय-वटमें अपना आत्म-श्राद्ध कर लीजिये, क्योंकि बादमें पता नहीं कोई श्राद्ध करे कि न करे! यह सब शास्त्रमें लिखा है और फिर पहले दिन यमुनाजीमें घुटने भर पानी तक जाकर लौट आइये, दूसरे दिन कमर भर पानी तक; तीसरे दिन छाती भर पानी तक और चौथे दिन यमुनाजीमें पूरा प्रवेश करके डूब मरिये! इस तरह अपने मरनेको भी धर्म बनाइये, धर्मानुकूल मरिये, मूर्खतासे नहीं, जोशमें नहीं।

अतः सच्चा प्रेम प्रत्यक् चैतन्याभिन्न सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वसे ही होता है और वहाँ प्रेमी-प्रियतमका भाव नहीं रहता है और जो दूसरोंसे प्रेम होता है, वह यदि ठग है तो दूसरेको दिखानेके लिए करता है और यदि मूर्ख है तो उसको भ्रम होता है कि मेरा उनसे प्रेम है। असलमें, प्रेम अपने आत्मासे ही होता है और किसीसे नहीं होता।

•

: ५१ :

ईर्ष्या मिटानेका सरल उपाय

प्रश्न : कृपया बतलायें कि ईर्ष्यालु स्वभाव कैसे मिट सकता है ?

उत्तर : जिससे आपके मनमें ईर्ष्या होती हो, उसके बारेमें पहले समझिये कि उसमें कौन-से ऐसे गुण हैं जिसके कारण वह आपसे आगे बढ़ रहा है और आपको उससे ईर्ष्या होती है। यदि वह आपसे आगे न बढ़ता होता, उसके जीवनमें सफलता नहीं होती, सुख नहीं होता, उसमें गुण नहीं होते, तो आप उससे ईर्ष्या क्यों करते ? है ना, कुछ विशेषता उसके जीवनमें ? तो पहले उसको जान लीजिये, समझ लीजिये और फिर उससे उत्तम गुण आप अपने जीवनमें ले आइये। अगर वह किसीको पाँच रुपया देता है और लोग उसकी इज्जत करते हैं, आदर करते हैं, आप यदि समर्थ हों तो दस रुपया दीजिये और समर्थ नहीं हों तो हाथ जोड़िये, विनयसे बात कीजिये, आनन्द दीजिये, तृप्ति दीजिये। फिर लोग आपकी भी इज्जत करेंगे, आदर करेंगे और आपको ईर्ष्या नहीं होगी, शायद लोग आपसे ईर्ष्या करने लग जायेंगे। आप गुणोंमें औरोंसे आगे बढ़िये, आपके मनमें कभी आपसे पीछे वालोंके लिए ईर्ष्या नहीं होगी।

दूसरी बात—आप ध्यान दें, रातको जब आप सोने लगें तब जिससे आपको ईर्ष्या होती है, उसको याद करें और याद करके अपने मनमें संकल्प करें कि मैं उसको अपना प्यार दूँगा, उसको अपना सद्भाव दूँगा और जिसके प्रति हमारे हृदयमें ईर्ष्याकी आग जल रही है,

उसको मैं शीतलताका अमृत अर्पित करता हूँ और इस तरह थोड़े ही दिनोंमें आप देखेंगे कि आपके हृदयमें परिवर्तन हो जायेगा। यदि आप महीने, दो महीने रोज रातको अपने प्यारका सन्देश, अपने प्यारकी भावना मन-ही-मन उसको देंगे तो आपके हृदयकी ईर्ष्या मिट जायेगी और अल्पकालमें ही आप उसके प्रशंसक, उसकी सराहना करनेवाले हो जायेंगे।

तीसरी बात—आप रोज भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि हे भगवान्, हमारे हृदयमें जो द्वेष है, ईर्ष्या है, असूया है, स्पर्धा है, क्रोध है, हिंसा है, विद्रोह है, संघर्ष है, वैमनस्य है उसे मिटा दो। द्वेष अलग चीज है—द्वेष माने जलन होना; ईर्ष्या अलग चीज है—ईर्ष्या माने किसीको अपनेसे आगे देखना पसन्द नहीं होना; असूया अलग चीज है—असूया माने दूसरे के गुणोंमें द्वेष देखना और स्पर्धा अलग चीज है—स्पर्धा माने होड़ लगाना; अतः प्रार्थना कीजिये कि हे प्रभु, इन सबको आप शान्त कर दें और हमारे हृदयको ऐसा बढ़िया बना दें, ऐसा मधुर बना दें—चमाचम कि आप उसमें रहने लगें और हमें आपका दर्शन हो!

बात इतनी ही कहनी है कि जिससे आपको ईर्ष्या है, उसकी विशेषताओंपर, उसके गुणोंपर विचार कीजिये, उन गुणोंको आदर्श मानकर अपने जीवनमें विकसित करनेकी चेष्टा कीजिये; उसको अपना प्यार भेजिये, सद्भाव भेजिये, भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। इससे अपने हृदयमें जो ईर्ष्या है, वह मिट जाती है। ईर्ष्या जलाती है। इसलिए यदि आप शीतल रहना चाहते हैं, तो जिससे आपको ईर्ष्या है उसके गुणोंका अनुसन्धान करें—

मैंने कहीं पढ़ा था—एक सज्जन रोज नदीके किनारे टहलनेके लिए जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि नदीके तटपर, एक युवा और एक युवती शराब पी रहे हैं और काम-क्रीड़ामें लगे हैं। बड़ी ग्लानि हुई। बगैर कुछ बोले वे आगे बढ़ गये। जब लौटे, तब क्या देखते हैं कि नदीमें एक नाव डूब रही है और वह शराब पीनेवाला युवा डूबते हुए लोगोंको पकड़-पकड़कर किनारे ला रहा है और वह युवती उन लोगोंके पेटमें जो पानी चला गया था, उसे निकालनेका और उनको होशमें लानेका प्रयास कर रही है। वे खड़े-खड़े देखने लगे। तभी उस युवककी दृष्टि उनपर पड़ी। उसने पुकारकर कहा—'महाशय, जब आप जा रहे थे तब तो हम

गन्दे काममें लगे थे, आप हमारी उपेक्षा करके आगे चले गये, आपने ठीक किया, पर इस समय तो हमलोग अच्छा काम कर रहे हैं, डूबते हुए, पीड़ाग्रस्त लोगोंको बचानेका प्रयास कर रहे हैं, आप भी आकर हमारी मदद कीजिये ना !'

बात सज्जनकी समझमें आगयी और वे भी वहाँ पहुँचकर उनकी मदद करने लगे।

तो भाई मेरे, कहनेका मतलब यह है कि किसीके भी जीवनमें केवल गन्दगी नहीं होती है, निश्चय ही एक-न-एक गुण, कोई-न-कोई अच्छाई होती ही है। आप सोचो, चौबीस घण्टेमें वह कितने घण्टे तक बुरा काम करता है। छः घण्टे सोता है, तब तो कोई बुरा काम नहीं करता है। शौच जाता है, लघुशंका जाता है, स्नान करता है, भोजन करता है या और भी काम करता है, तो आप उसके जीवनके गन्दगीवाले अंशको ही क्यों देखते हैं ? उसके अन्दर जो अच्छाईवाला अंश है, उसको क्यों नहीं देखते ? उसकी अच्छाइयोंको देखकर, अपने जीवनको भी अच्छाइयोंसे क्यों नहीं भरते ?

ऐसा दुनियामें कोई नहीं होता, जिसके जीवनमें कोई-न-कोई गुण न हो। यह जो हम समझते हैं कि यह पूरा-का-पूरा गन्दा है, बुरा है यह हमारी भूल है। हमको चीटींकी तरह होना चाहिए, गुबरौलेकी तरह नहीं। गुबरौला, गोबरका एक कीड़ा होता है। वह भले ही चीनीके ढेरपर हो, पर वह चीनी नहीं खायेगा, वहाँसे उतर आयेगा और जाकर गोबर ही खाने लगेगा और चींटीको यदि गोबरके ऊपर रख दिया जाये तो वह वहाँसे उतर आयेगी और जाकर चीनी खायेगी, गोबर नहीं खायेगी। आप अपने मनको चींटीकी तरह गुणग्राही बनाइये, गुबरौलेकी तरह गन्दगी ग्रहण करनेवाला कीड़ा मत बनाइये।

ध्यान दें, ईर्ष्या आग है। वह जिस लकड़ीमें लगती है, उसीको जलाती है। यदि ईर्ष्या आपके हृदयमें रहेगी तो आपको ही हानि पहुँचायेगी, जिससे आप ईर्ष्या करेंगे उसको नहीं। इसलिए ईर्ष्याके गुणावगुणपर विचार करके, जिससे आप ईर्ष्या करते हैं उससे ईर्ष्या न करके उसमें गुण ढूँढ़िये। यदि उसमें कोई गुण नहीं होता, तो वह भगवान्‌की सृष्टिमें रहता ही नहीं !

•

कड़वी और मीठी दवा !

प्रश्न : आप कहते हैं कि भगवान्‌को मित्र बनाओ, परन्तु होता यह है कि जब हमारे जीवनमें सुख आता है, तब हमें लगता है कि वे हमारे मित्र हैं और जब दुःख आता है तब मन छटपटा जाता है और नहीं लगता कि वे हमारे मित्र हैं; क्योंकि न हम उनको देख सकते हैं और न उनसे अनुरोध कर सकते हैं। तो क्या सुख और दुःख देनेमें और खासकर दुःख देनेमें, सचमें उनकी कृपा है ? कृपया समझायें !

उत्तर : हमने पहले एक कहानी सुनी थी—दो मित्र यात्रा कर रहे थे। रास्तेमें पड़ा जङ्गल। जङ्गलमें सोनेकी उपयुक्त जगह नहीं थी। और सो जानेपर कोई जीव-जन्तु आजाये, काट ले, हमला कर दे, खा जाये तो ? अतः रक्षाकी दृष्टिसे दोनोंने बारी-बारीसे सोनेका निश्चय किया। अब एक मित्र दूसरे मित्रकी गोदमें सिर रखकर सो गया। दूसरा जाग रहा था। देखा उसने, मित्रकी ओर एक साँप फुँफकारता हुआ, आरहा है। उसने कहा—'ठहरो !'

साँपने कहा—'इसने पहले मुझे चोट पहुँचायी है, मेरे बदनसे खून निकाला है, इसलिए मैं इसका खून पीकर ही जाऊँगा।'

मित्रने कहा—'तुमको इसके शरीरमें मुँह लगाना है या खूनके बदले खून चाहिए ?' बोला—'मुझे खून चाहिए इसका' उसने अपनी जेबमें-से चाकू निकाला, खोला और सोये हुए मित्रके गलेमें-से खून निकालकर, पत्तेपर रखकर साँपके सामने रख दिया–कि ले खून ! साँप खून पीकर चला गया। मित्रकी नींद बीचमें टूटी थी, पर वह वापस सो गया था। जागनेपर मित्रने पूछा, क्यों भाई, जब मैं तुम्हारे गलेमें चाकू लगा रहा था तब तुमको कैसा लगा ? उसने कहा—'लगा क्या ? मैंने देखा कि चाकू तो मेरे मित्रके हाथमें है, चाकू मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? कहीं-न-कहीं मेरा भला होगा तभी तो मेरे मित्रने चाकू ले रक्खा है हाथमें !' तो, मित्रने अपने मित्रके गलेपर चाकू क्यों लगाया ? उसके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए।

ऐसे ही भगवान्‌की ओरसे दुःख आता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है;

परन्तु वह दुःख वैसे ही आता है जैसे हमारी माँ, जब हम छोटे थे तब हमारे शरीरमें उबटन लगाती तो मैं रोता था, गरम-पानीसे नहलाती तब मैं रोता था। परन्तु माँ जो उबटन लगाती थी, वह हमें दुःख देनेके लिए नहीं लगाती थी, वह हमारी सफाईके लिए लगाती थी, जो गरम-पानीसे नहलाती थी वह हमें रुलानेके लिए नहीं नहलाती थी, साफ-सुथरा बनानेके लिए नहलाती थी। तो, भगवान् भी हमें जो दुःख देते हैं उसमें हमारा हित निहित रहता है।

आप यदि चाहें तो हम आपको ऐसी कई कथा सुना दें, जिनसे हृदय काँप जाता है। वैसे यदि यहाँ कोई उड़िया भाषाके जानकार हों, तो उड़िया भाषामें एक 'दाढ्यता-भक्ति' नामकी किताब है, जिसमें छप्पन भिन्न-भिन्न कथा हैं, पढ़ सकते हैं। उसमें भगवान् भक्तोंको ऐसी-ऐसी साँसत देते हैं कि बस! पर, बादमें उनपर कृपा भी करते हैं, उनको मिल जाते हैं।

तो, यह जो दुःख आता है वह ऐसा ही है जैसे आपके शरीरमें कोई मैल लग गयी हो या कोई रङ्ग लग गया हो, तो उसको जोरसे मलकर या गरम पानी डालकर या साबुनसे छुड़ाते हैं। हम लोगोंके घरमें जब कुत्ता बर्तन जूठा कर जाता, तब उसको आगमें डालकर शुद्ध करते, यहाँके लोग माफ करें, यहाँ तो मैंने ऐसा भी देखा है कि आईस्क्रीम एकबार कुत्तेके मुँहमें और एकबार अपने मुँहमें, फिर एकबार कुत्तेके मुँहमें और फिर एकबार अपने मुँहमें! तो यह बम्बई तो हमलोगोंके घेरेसे परे है!

तो, जिस जीवके साथ ऐसा कचरा, ऐसा मैल जुड़ गया है कि उसको घोर नरकमें जाना पड़ सकता है, उसको भगवान् थोड़ा-सा दुःख भेज देते हैं, उसकी सफाई कर देते हैं। यह उनकी कृपा नहीं तो और क्या है? वह दुःख भी तो उन्होंने चमकानेके लिए ही दिया। बच्चोंको लगता है कि माँ-बाप अच्छे नहीं हैं, हमारी वासनाओंका विरोध करते हैं और वे मामाके घर जाना चाहते हैं, बुआके घर जाना चाहते हैं, बहनके घर जाना चाहते हैं, मित्रके घर जाना चाहते हैं और इनके घर जाकर बिगड़ते हैं, चूँकि दूसरे लोग उनकी वासनाका विरोध नहीं करते हैं, इसलिए उनको बहुत अच्छे लगते हैं। घरके लोग उनका विरोध करते हैं, इसलिए वे उनको अच्छे नहीं लगते हैं। पर माँ-बाप, वासना-पूर्ति न करनेपर भी परम हितैषी हैं, मामा, बुआ, बहन नहीं।

तो जबतक ईश्वर दुःख नहीं देगा, सुख-ही-सुख देगा, तो लोग ईश्वरको मानना ही छोड़ देंगे। एक बात समझ लें कि दुःखके अन्तमें सुख आता है और सुखके अन्तमें दुःख आता है। भगवान् दिखाते रहते हैं कि यह तुम्हारे वशमें नहीं है, यह मेरे वशमें है और तुम्हारी अच्छाई जिसमें है, वही मैं करता हूँ। जैसे जागनेके बाद सोनेके लिए रात देते हैं और रातके बाद जागनेके लिए दिन देते हैं। सोना-जागना दोनों जीवनके लिए आवश्यक हैं, वैसे ही सुख और दुःख दोनों ही जीवनके लिए आवश्यक हैं।

आप विश्वास कीजिये भगवान्‌का। आप मैत्री कीजिये भगवान्‌से, दूसरेसे मित्रता करोगे तो धोखा खाओगे। वह तुम्हारा धर्म बिगाड़ेगा, तुम्हारा धन बिगाड़ेगा, तुम्हारा जीवन बिगाड़ेगा, तुम्हारी जवानीको भोग-कर चौपट कर देगा। इसलिए विश्वास करना है तो भगवान्‌का विश्वास करो और हर क्रियामें देखो कि भगवान् कैसे हमारा भला करता है!

भाईजी, हनुमानप्रसादजी एक कहानी सुनाया करते थे—एक राजा था। उसको तलवारका बड़ा शौक था। रोज नयी-नयी तलवार देखता। उसके मन्त्रीको यह बोलनेका अभ्यास था कि बहुत अच्छा हुआ, भगवान्‌ने बड़ा अच्छा किया!

एक दिन तलवार देखते-देखते राजाका अंगूठा कटकर गिर गया। मन्त्री वहीं खड़ा था। बोला—'बहुत अच्छा हुआ, भगवान्‌ने बड़ा भला किया।' राजाको आया क्रोध। बोला–'मन्त्रीको जेलमें डाल दो!' तब भी तो मन्त्रीने वैसे ही कहा–'बड़ा भला हुआ, भगवान्‌ने बहुत अच्छा किया!'

जब राजाका घाव अच्छा हो गया, तब एक दिन वह शिकारके लिए निकला। जङ्गलमें उसे डाकुओंने पकड़ लिया और ले गये बलि देनेके लिए। पर, जब देवीके सामने खड़ा किया गया तब पुरोहितने कहा—'छोड़ दो इसको, यह बलि देने योग्य नहीं है!' पूछा क्यों? वह बोले—'इसके एक अँगूठा ही नहीं है। अङ्ग-भङ्ग है, तो इसकी बलि हो चुकी है, अब नहीं हो सकती।' राजा छोड़ दिया गया। अब उसे मन्त्रीकी बात याद आयी। सचमुच भगवान्‌ने हमारा अँगूठा काटकर बड़ा भला किया। हमारा गला बच गया। गया मन्त्रीके पास जेलमें। बोला—'मन्त्रीजी, भगवान्‌ने मेरा अँगूठा काटकर तो सचमें बहुत भला किया, मेरी जान बच गयी! पर, आपको जेलमें डालकर आपका क्या भला किया? मन्त्री बोला—'महाराज! यदि मैं जेलमें नहीं होता तो मैं

भी आपके साथ शिकारके लिए जाता और आप तो अँगूठा कटा रहनेसे बच जाते और मेरी बलि हो जाती। तो अँगूठा कटनेसे आपका भला और जेलमें जानेसे मेरा भला!'

तो, आप जिसको दुःख समझते हैं, वह दुःख नहीं है, वह आपकी तपस्या है। जुकाम होता है शरीरका मैल निकाल देनेके लिए, बुखार आता है शरीरकी गर्मी शान्त करनेके लिए, संयोग-वियोग होता है हमारी सहिष्णुता, हमारी तितिक्षा बढ़ानेके लिए। आप जहाँ भी देखेंगे, जिसको आप दुःख समझते हैं, वह असलमें दुःख नहीं होता, भगवान्के द्वारा भेजा हुआ सुख ही होता है।

कह दें साफ-साफ? क्या है आपका? माँके पेटमें-से निकले थे तो नङ्गे ही तो निकले थे! एक कपड़ा तक तो शरीरपर नहीं था? चार पैसा भी तो आपके पास नहीं था? और आज आप भगवान्को उलाहना देने लगे। बीचमें इतना दिया, इतना दिया और जब इतना दिया तब कुछ नहीं और आज नहीं दिया तो ईश्वरको भला-बुरा कहने लगे! असलमें, ईश्वर ही आपका सच्चा मित्र है, सच्चा हितैषी है। आपको एक बात सुनाता हूँ—पचास-पचपन वर्ष पहलेकी बात है। एक बार हमको हँसी आयी। ऐसी हँसी आयी जो मेरे रोके न रुके। हँसते-हँसते-मेरी आँखोंसे आँसू आने लगे और मेरा शरीर छटपटाने लगा, पर मैं हँसता ही जाऊँ, हँसता ही जाऊँ। तो, मेरे एक मित्र थे। अभी हैं। उनका नाम है, श्री सुदर्शनसिंहजी 'चक्र'। वे मेरे पास ही थे। दस-बीस वर्ष तक मेरे साथ रहे, उन्होंने ऐसा कसकर एक चाँटा मेरे गालपर मारा कि तबियत बिलबिला गयी और मेरी हँसी बन्द हो गयी।

तो क्या उन्होंने मेरे साथ कोई अन्याय किया? मुझे दुःख दिया? मुझे सचमें मारा? नहीं। उन्होंने मुझे मरनेसे बचा लिया, नहीं तो मैं हँसते-हँसते मर ही जाता और यह बात तुरन्त मेरी समझमें आगयी।

यह जो, आपके घरमें ज्यादा पैसा आता है, ज्यादा स्त्रियाँ आती हैं, ज्यादा कुर्सियाँ आती हैं, ज्यादा इज्जत मिलती है, क्या ये आपको सुख देंगी? नहीं। इनको छीन लेना भी ज़रूरी होता है और यह भी आपका हित ही होता है। आप ईश्वरपर विश्वास कीजिये। वह आपका सच्चा मित्र है और जैसे आपका भला होता है, वही वह करता है—कड़वी दवा खिलाकर भी भला करता है और मीठी दवा खिलाकर भी भला करता है!

: ५३ :

गोपियोंका प्रेम

प्रश्न : अक्रूरजी श्रीकृष्णको मथुरा लेकर चले गये और गोपियाँ गोकुलमें ही रह गयीं, तो श्रीकृष्णसे इतना प्रेम होनेपर भी क्या कारण था कि वे उनके पास मथुरा नहीं चली गयीं ? क्या साधन नहीं था ? और क्या साधनके अभावमें वे पैदल नहीं जा सकती थीं ? कृपया बतलायें !

उत्तर : आप होतीं तो विलायत भी जा सकती थीं। आपके लिए तो यूरोप-अमेरिका भी दो कदम ही होते, पर—

प्रेमकी रीति यही है कि प्रेमी वही काम करता है जो उसके प्रियतमके अनुकूल पड़े, उसको सुख पहुँचावे, उसके काममें मदद करे।

श्रीकृष्ण व्रजसे मथुरा गये, कंसको मारनेके लिए, धर्म राज्यकी स्थापना करनेके लिए। यदि गोपियाँ ऐरी-गैरी प्रेमिका होतीं तो झुण्ड-

की-झुण्ड मथुरा पहुँच जातीं। पर, सोचो जरा, इससे होता क्या? श्रीकृष्ण बदनाम हो जाते, इससे न उनके पीछे लोग हो पाते, न वे कोई संगठन बना पाते, न असुरोंको मार सकते और न तो धर्म-राज्यकी स्थापना कर पाते। गोपियोंका प्रेम ऐसा नहीं था कि वे अपना सुख देखतीं, गोपियोंका प्रेम तो ऐसा था जो हर समय केवल श्रीकृष्णके सुखको, श्रीकृष्णकी सुविधाको देखता था।

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे
यद्यल्पाऽपि क्षतिरुदयते तस्यमागात् कदापि

गोपियाँ तो कहती हैं—'श्रीकृष्ण यहाँ आवेंगे तो हमें बड़ा सुख होगा, यह तो ठीक है, लेकिन, यदि उनके यहाँ आनेसे, उनके किसी भी काममें रत्ती भर भी बाधा पड़ती हो, तो वे यहाँ कभी न आवें। हम घुल-घुलकर मर जायेंगी। मरेंगी भी नहीं, क्योंकि श्रीकृष्णको मालूम होगा, तो वे दुःखी होंगे। इसलिए हम मरेंगी नहीं, घुल-घुलकर जी लेंगी, लेकिन उनके किसी भी काममें रत्ती-भर भी बाधा नहीं पहुँचावेंगी। यह प्रेमकी विशेषता है—प्रियतमका सुख, अपना सुख। और देखिये, श्रीकृष्णने नन्दबाबासे कह दिया कि हम ही व्रजमें कभी-कभी आया करेंगे। नन्दबाबा ने सोचा कि यह कहकर इसने तो मुझे मना कर दिया कि तुम मथुरामें कभी मत आना; क्योंकि यह स्वयं आनेकी बात करता है। मैं कभी-कभी आया करूँगा। तो अब मैं उसके वचनके विपरीत कैसे करूँगा?

तो भाई, प्रेमियोंका हृदय दूसरे ढंगका होता है और कामियोंका हृदय दूसरे ढङ्गका। कामी पुरुष जितना काम करता है, अपने सुखके लिए करता है, हमको सुख पहुँचे और प्रेमी जितना काम करता है प्रियतमके सुखके लिए करता है—उनको सुख पहुँचे। तो, गोपियोंके मथुरा अथवा द्वारका न जानेसे आप यह न समझें कि उनके प्रेममें कमी थी या उनके पास वाहनकी कमी थी या वे पैदल नहीं जा सकती थीं। उनके पास वाहनकी भी कमी नहीं थी और वे पैदल भी जा सकती थीं और श्रीकृष्ण भी आ सकते थे, परन्तु जो काम श्रीकृष्णको करना था, क्या ऐसा करनेसे वह होता! प्रियतमके काममें प्रेमी बाधा डाले! गोपियाँ मथुरामें जाकर बोलें कि हम श्रीकृष्णकी रखैल हैं, तो क्या वह काम बनता! गोपियाँ तो चाहती हैं—श्रीकृष्णकी पवित्रता, उनकी शक्ति, उनका

बल, उनका ऐश्वर्य लोगोंके सामने प्रकट हो; यह कदापि नहीं चाहतीं कि श्रीकृष्ण एक नचकैया है, यह प्रकट हो ! तो, प्रेमकी बात तो ऐसी होती है कि बस ! और व्रजके प्रेमियोंमें तो वह-वह चीज है जो संसारमें और कहीं नहीं मिलती है। गोपियोंके मथुरा न जानेका कारण उनका अनन्य, अनन्त और अचिन्त्य प्रेम है, कुछ और नहीं।

एक दूसरी कथा और है कि एक नन्द-नन्दन थे और एक वसुदेव-नन्दन थे। तो वसुदेव-नन्दनको वसुदेवजी गोकुलमें दे आये और वे वसुदेव-नन्दन नन्द-नन्दनमें मिल गये। और फिर जब अक्रूर लेनेके लिए गये तब नन्द-नन्दन तो वहीं रहे और वसुदेव-नन्दन उनके साथ मथुरा चले गये।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदाय और श्रीवल्लभाचार्यजीके सम्प्रदाय दोनोंमें भी ऐसा मानते हैं कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण अलग पैदा हुए और वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्ण अलग पैदा हुए और फिर दोनोंने मिलकर व्रजमें लीला की और बादमें मथुरावाले मथुरा चले गये और व्रजवाले व्रजमें ही रह गये। यह बात शायद आप लोगोंने पहले न सुनी हो, आज मैंने सुना दी।

इस तरह श्रीकृष्ण—'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'—वृन्दावन तजकर कभी एक कदम भी नहीं जाते हैं और गोपियोंको कभी कोई वियोग हुआ ही नहीं। उनका तो गोपियोंके साथ निरन्तर रास होता रहा, छेड़-छाड़ होती रही और माखन-चोरी भी होती रही। अतः जब वियोगका भान ही नहीं हुआ तो, मथुरा जाने, न जानेका प्रश्न ही नहीं रहा।

•

: ५४ :

अनुकूल भावसे चिन्तन कीजिये !

प्रश्न : देवहूतिजी कह रही हैं कि देह-गेह आदिमें 'मैं-मेरा'का दुराग्रह आपका ही कराया हुआ है, तो इसका हेतु क्या है कि एकबार कीचड़में पैर डालें और फिर धोवें ? इससे अच्छा तो उससे बचकर रहना ही है। तो ईश्वरके लिए ऐसा करना कहाँतक उचित है ? कृपया समझायें !

उत्तर : यदि इस प्रश्नके उत्तरमें हम यह कह दें कि ईश्वरने जो ऐसा किया, यह बड़ा अनुचित किया, तो क्या इस उत्तरसे प्रश्नकर्त्ताको सन्तोष हो जायेगा ? नहीं होगा। तब उसके औचित्यकी खोज करनी पड़ेगी और सही अनुसन्धानका मूल है—

षडस्मात् अनादयः।

ईश्वर अनादि है, जीव अनादि है, जगत् अनादि है, माया अनादि है और जीव-जगत्का सम्बन्ध भी अनादि है और ये सब अविद्या मूलक हैं। पर इनको जोड़नेमें ईश्वरके दो हेतु होते हैं—एक, अनादिकालसे देह-गेह आदिमें जो यह 'मैं और मेरा' जुड़ा हुआ है इसको मनुष्य शरीर-तक सम्बन्धके द्वारा, वासनाके द्वारा पहुँचा दें और वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदिके सम्बन्धसे जोड़ दें ताकि हम अच्छे काम करें और अच्छे काम करके अन्तःकरणको शुद्ध करें और अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्को प्राप्त करें !

वैसे मनुष्य बननेके पहले तो कीट-पतङ्ग न जाने क्या-क्या बन चुके हैं। तो, यह जोड़ना भी अज्ञान-निद्रामें सोये हुए जीवको जगाना और जगाकर भगवान्से मिलाना है। जैसे, एक सोये हुए बालकको माँ जगाती है और बताती है कि देखो, ये तुम्हारे पिताजी हैं, बहुत दिनोंसे परदेश गये हुए थे, अब आये हैं, उठो, इनको प्रणाम करो और फिर कहती है कि इनकी यह-यह सेवा करो और अन्तमें बताती है कि इनकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी भी बनो।

तो, माँने बालकको जगाकर उसका अपकार किया कि उपकार किया ? ऐसे ही जीव भी अज्ञान-निद्रामें सोता रहता है, परमात्मा उसको जगाकर धर्मानुकूल जीवन, मनुष्य-शरीर देते हैं और उसमें धर्म-कर्मकी योग्यता देकर उससे अच्छे काम करवाते हैं और अच्छी चीजोंसे उसका सम्बन्ध जोड़कर बुरी चीजोंसे सम्बन्ध जोड़ देते हैं।

भगवान्‌ने हमें यह मनुष्य-शरीर इसलिए दिया और इसमें 'मैं-मेरा' भी इसलिए करवाया; क्योंकि इसमें मैं-मेरा होनेसे ही मनुष्य अपने कर्त्तव्यका पालन करता है और फिर, जब भगवान् इस 'मैं-मेरे'को छुड़ाना चाहते हैं तब कृपा करके, अनुग्रह करके, वे वह 'मैं-मेरा' छुड़ा भी देते हैं।

देखो, आपलोग रोज यहाँ प्रवचनके बाद—

पिता नैव मे नैव माता न जन्म।

मेरे पिता नहीं हैं, मेरे माता नहीं हैं, मेरा जन्म नहीं है—'गुरुर्नैव शिष्यः' मेरे गुरु नहीं है, मेरे शिष्य नहीं है, बोलते हैं। पर, यह सब-का-सब 'वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम्'की व्याख्या है, जबानी जमाखर्च है। असलमें तो आपके पिता भी हैं, माता भी है, जन्म भी है, गुरु भी हैं, शिष्य भी हैं और सारे सम्बन्ध भी हैं।

तो, पहले माता-पिता होंगे तभी न जन्म होगा? और जन्म होगा तभी न आप होंगे? और आप होंगे तभी न आप शिष्य बनेंगे और आपका कोई गुरु बनेगा और फिर जब आप शिष्य बनेंगे तभी न आप—'पिता नैव मे नैव माता न जन्म', यह बोल सकेंगे।

तो आपको माता दी, पिता दिया, गुरु दिया, शिष्य बनाया—इतना सब किया और आप हैं, जो कहते हैं कि यह सब तुमने क्यों किया? प्रश्न तो यही है ना? यही तो हम कहते हैं न कि तुमने बहुत अनुचित किया कि हमको जन्म दिया, माता दी, पिता दिया, गुरु दिया। तो भाई मेरे, ईश्वरने यह अनुचित नहीं, उचित किया, आपके भलेके लिए किया। क्योंकि यह 'मैं-मेरा' जो है यह बन्धनका हेतु भी है और यही छूटनेका हेतु भी है। इसे यों समझिये—आपने अपनेको 'मैं चोर हूँ' मान लिया और चोर मेरा साथी है, ऐसा मान लिया और किसीने आपको किसी सन्तके साथ जोड़ दिया—ये आपके गुरु हैं और आप इनके शिष्य हैं, तो उसने आपको चोर बननेसे ही नहीं, हजार बुराइयोंसे बचा लिया।

आप भगवान्‌की कृपाको तो देखिये—उन्होंने कीड़ेके शरीरमें आपका 'मैं-मेरा' नहीं जोड़ा, चिड़ियाके शरीरमें 'मैं-मेरा' नहीं जोड़ा, सूअरके शरीरमें 'मैं-मेरा' नहीं जोड़ा, आपके 'मैं-मेरा'को मनुष्यके शरीरके साथ जोड़ा। यह तो भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है, बड़ी भारी करुणा है, आपपर—

कबहुँक करि करुणा नर देही।
देत ईश बिनु हेतु सनेही॥
नर-तन भव बारिधि कह बेरे।
सन्मुख मरत अनुग्रह मेरे॥
नर-तन पाइ विषय मन देहीं।
पलट सुधा ते सठ विष लेहीं॥

यह भी तो देखिये कि मनुष्य-शरीरमें यह 'मैं-मेरा' देकर भगवान्‌ने पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गके शरीरसे आपका 'मैं-मेरा' छुड़ा दिया। अब आप अपनेको धर्मात्मा बनाइये। मैं धर्मात्मा हूँ, यह अभिमान कीजिये, और यह मेरा धर्म है, यह अभिमान कीजिये—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़िये और अन्तमें सब सम्बन्धोंसे मुक्त हो जाइये। असलमें सब सम्बन्धोंसे मुक्त होनेके लिए ही मनुष्य-शरीरके साथ 'मैं-मेरा' जोड़ा हुआ है और यह परम कल्याण-कारी है।

आप देखें, भगवान्‌ने जो यह दुराग्रह दे दिया कि मैं एक पत्नी हूँ, पतिके सिवाय और कोई मेरा भोग्य नहीं है; मैं एक पति हूँ और यह पत्नी मेरी है, यह आपको अनेक स्त्री-पुरुषसे छुड़ा देता है और मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, जीवात्मा हूँ, यह 'मैं-मेरा' आपका कल्याण करता है, आपको बन्धनसे छुड़ाता है, आप इसे अच्छे काममें लगाइये।

मैं ब्राह्मण हूँ और सत्य बोलना मेरा धर्म है—इस दुराग्रहको पहले आप स्वीकार कीजिये और फिर देखिये कि इससे आपका अन्तःकरण शुद्ध होता है कि नहीं और आपको भगवान् मिलते हैं कि नहीं! यह दुराग्रह ही आपका कल्याण कर देगा।

अतः भगवान्‌ने जो कुछ किया है, दिया है, उसीमें हमारा मङ्गल है। इस अनुकूल भावसे आप उनका चिन्तन कीजिये और भगगवान्‌ने हमको बाँध दिया, गिरा दिया, नरकमें डाल दिया—यह प्रतिकूल भाव छोड़ दीजिये। सोचिये, भगवान्‌ने हमको इससे छूटनेका बहुत बड़ा हेतु बहुत बड़ा सुयोग, बहुत बड़ी सुविधा प्रदान कर दी!

: ५५ :

सब रोगोंकी औषधि : गुरु

प्रश्न : श्रीमद्भागवतमें कहा है कि सब रोगोंकी औषधि है, गुरुके चरणोंमें भक्ति और महात्मामें अड़तीस गुण होते हैं और भगवान्‌में तीस। कृपया इसपर प्रकाश डालें।

उत्तर : हमलोगोंके जीवनमें जो रोग होते हैं उनके लिए आजकल हम एलोपैथिक, होमियोपैथिक और बायोकेमिक आदि दवाओंका प्रयोग करते हैं, पर इन दवाओंमें दोष क्या है, यह नहीं जानते। डॉक्टर भी दवाका गुण तो जानते हैं कि अमुक दवा अमुक रोगको दूर करेगी, लेकिन जिसको वह दवा देनी है, उसकी प्रकृतिको, उसके स्वभावको वे नहीं पहचानते। इसका फल यह होता है कि कभी निशाना ठीक बैठ जाता है, औषधि सीधे मार्गसे चलती है और कभी निशाना ठीक नहीं बैठता तो औषधि उलटे मार्गसे चल पड़ती है।

ऐसी स्थितिमें एक ही औषधि कभी मृत्युका कारण हो जाती है, कभी रोगका कारण हो जाती है और कभी आरोग्यका कारण हो जाती है। मशीनोंसे जो परीक्षा होती है, वह बहुत बहिरङ्ग होती है, अन्तरङ्ग नहीं हो पाती। यानि वस्तुके गुण-दोषकी परीक्षा तो मशीनके द्वारा हो जाती है, परन्तु अधिकारीके गुण-दोषकी परीक्षा मशीनके द्वारा सम्भव नहीं होती। तो यह जो वस्तुनिष्ठ गुण-दोषकी धारणा है, यह निर्गुण-तत्वके अनुरूप नहीं है।

अब, देखना यह है कि मनुष्यके जीवनमें जो रोग हैं, वे क्या हैं? वे रोग दो तरहके होते हैं—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। बहिरङ्ग रोगोंकी चिकित्सा तो डॉक्टर लोग करते ही हैं और वे इतने दुःखदायी भी नहीं होते हैं जितने कि अन्तरङ्ग रोग होते हैं। वैसे, सुना है आजकल अन्त-

रङ्ग रोगोंका भी आविष्कार हमारे वैज्ञानिक कर रहे हैं; कुछ अंशमें कर चुके हैं और कुछ अंशमें कर रहे हैं, जैसे—शेरके शरीरमें अथवा मनुष्यके शरीरमें ऐसा 'इन्जेक्शन' लगा देते हैं कि वह बेहोश-सा पड़ा रहता है, अपना शौर्य-वीर्य सब भूल जाता है, तब अब उस समय उसके मनमें काम, क्रोध कैसे आवेगा ? पर, यह चिकित्सा बाहरी है और रोग है सो अन्तरङ्ग है। अतः बाहरी चिकित्सा अन्तरङ्ग रोगके सम्बन्धमें ठीक-ठीक काम नहीं देती।

आप अपनी जानकारीका विश्लेषण करें, अन्तरङ्ग रोग क्या हैं और यह भोग, यह खाना, यह पीना, हमारे लिए उचित है या अनुचित; सुखदायी है कि दुःखदायी। हमारे अन्तरङ्ग रोग हैं—काम, क्रोध, लोभ और मोह। विचार करनेपर हम देखते हैं कि हमने उचित और सुख इन दोनोंको अपने जीवनमें अलग-अलग कर दिया है। जैसे हम जानते हैं कि झूठ बोलना उचित नहीं है, परन्तु जब देखते हैं कि झूठ बोलनेसे हमको बहुत बड़ी आमदनी हो जायेगी और बस आमदनीसे हम सुखी हो जायेंगे, तो हमारी बुद्धि उचितको छोड़कर सुखकी ओर झुक जाती है। जैसे, हम समझते हैं कि ब्रह्मचर्य रखना उचित है, लेकिन जब ख्याल होता है कि इस स्त्रीसे हमें सुख मिलेगा, यह सुन्दर है, स्वस्थ है, अविवाहित है और इस पुरुषसे हमको सुख मिलेगा, यह पुरुष स्वस्थ है, सुन्दर है, बड़ा संयमी है, शौर्य-वीर्यवाला है तो उचित ब्रह्मचर्यका भङ्ग करके भी हम स्त्री-पुरुषकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं, इसीको उचित और सुखको अलग-अलग समझना कहते हैं।

जब हम किसी वस्तुको संसारमें अच्छी और सुख देनेवाली समझ बैठते हैं तब उसके प्रति अन्तःकरणमें कामका उदय होता है और काममें वायु दोष होता है, इसलिए वह जिसके हृदयमें कामना उठती है, उसके शरीरको इतना हिला देता है, इतना डाँवा-डोल कर देता है कि सारे शरीरमें पीड़ा होने लगती है। इसलिए, यदि हमारे मनमें सम्यक्त्व, माने यह चीज हमको सुख देनेवाली है की कल्पना न हो और यह चीज हमारे लिए दुर्लभ है, यह ख्याल हो तो कामनाका उदय नहीं होगा। भागवतमें बताया—'येन कामं असंकल्पयत्' सम्यक्त्वकी कल्पना मत करो इसकी आवाज बड़ी मीठी है, इसका शरीर बड़ा कोमल है, यह बहुत हृष्ट-पुष्ट है, स्वस्थ है; इसकी आँखोंमें चमक है, इसकी भौहोंमें नृत्य है,

इसके ओठोंमें प्यार है। इन कल्पनाओंसे यदि आप अपनेको मुक्त रखेंगे तो, धीरे-धीरे आपकी कामना शान्त हो जायेगी।

'क्रोधं कामविवर्जनात्' जब आप अपनी इच्छाको पूरी करनेके लिए उत्सुक रहेंगे, आकुल रहेंगे, व्याकुल रहेंगे और किसी कारणवश वह यदि पूरी नहीं होगी, उसके विपरीत कुछ हो जायेगा, तब आपके मनमें क्रोध आ जायेगा—'कं रुणद्धि इति क्रोधः।' 'क्रोध' शब्दकी नैरुक्त व्युत्पत्ति है—कं रुणद्धि, हमारे हृदयमें जो सुखका एक झरना बह रहा है उसमें यह रोध उत्पन्न कर देता है। 'क' माने सुख, रोध माने रुकावट। माने क्रोधी मनुष्यका जो सुख-स्रोत है, सुखका उद्गम है, सुखका मुम्ब है, सुखका खजाना है, वह बन्द हो जाता है। यह क्रोध एक रोग है। जब क्रोध आता है तब, जैसे आग जहाँ पैदा होती है, लगती है उसीको पहले जलाती है, वैसे ही क्रोध जिसके अन्तःकरणमें आता है, उसीको पहले वाणीसे भस्म करता है; उसकी क्रिया तो केवल चिन्गारियाँ ही फेंकती हैं, जलता तो वही है जिसके हृदयमें क्रोधकी आग लगती है। तो यदि आप यह जिद्द छोड़ दें कि आपके ही मनका हो तो आपका क्रोध शान्त हो जायेगा।

लोभ है—यह भी एक रोग है। काम बात है, क्रोध पित्त है और लोभ कफ है—

काम बात, कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करइं जो तीनउ भाई। उपजहिं सन्निपात दुःखदाई॥

जब काम, क्रोध, लोभ, तीनों अपने चित्तमें रहेंगे तब सन्निपात हो जाता है, माने जैसे आदमी जब पागल हो जाता है, तब चाहे जो बकने लगता है, वैसी ही स्थिति कामी, क्रोधी, लोभी मनुष्यकी हो जाती है। तो यह लोभ मिटेगा कैसे? 'अर्थानर्थेक्षया लोभं' आखिर लोभसे जो तुम धन कमाते हो, वह किसके लिए कमाते हो? तुम्हारे पिताजीने कमाया था, उन्होंने उपभोग नहीं किया, तुम्हारे लिए रख गये और अब तुम केवल अपने निर्वाह-भरके लिए ही नहीं कमाते हो, कमा-कमा करके अपनी अगली पीढ़ीके लिए, बल्कि अगली पीढ़ियोंके लिए जमा करते जा रहे हो।

सुनो, एक सच्ची बात। एक सेठजीको एक दिन चिन्ता हुई कि

हमारी कमाईका धन कितनी पीढ़ीतक चलेगा। तुरन्त मुनीमको बुलवाया, उससे हिसाब लगवाया। मुनीमने कहा—'सेठजी, आपका धन बारह पीढ़ीतक चल सकता है।' सेठने अपना सिर पकड़ लिया कि हमारी तेरहवीं पीढ़ी क्या खायेगी? भला, यह भी कोई बात है? वैसे ज्यादातर लोग, जो धन कमाते हैं, वे इसके उपयोगका विचार किये बिना ही कमाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ज्यादा धनसे हमारे जीवनमें तनाव बढ़ेगा। हमारे मनमें भय लगा रहेगा कि कहीं चोरी हो जायेगी, कोई लूट लेगा, टैक्समें चला जायेगा, पुलिस पकड़ लेगी, डॉक्टर ले जायेगा, वकील ले जायेगा, आदि-आदि। जिनके घरमें अधिक धन है, वे लोग डॉक्टर और दवामें कितना खर्च करते हैं, वकील और कानूनमें कितना खर्च करते हैं, कोई सोच भी नहीं सकता। अभी दो-चार दिन पहले ही कोई चर्चा हो रही थी तो किसीने बताया कि उसके घरमें दस कुत्ते हैं। तो, दस कुत्तोंकी देखभाल करनेके लिए एक-दो नौकर रखते होंगे, उनके लिए माँस मँगाते होंगे। माने दस बच्चोंके पालन-पोषणमें जितनी व्यवस्था करनी पड़ती होगी, उतनी ही व्यवस्था दस कुत्तोंके लिए करनी पड़ती होगी।

तो देखिये, अब धन कहाँ जाता है? बेकारके काममें ना! इतने धनके द्वारा कम-से-कम तीन-चार विद्यार्थी एम. ए. पास कर सकते हैं; आठ-दस भूखोंको रोज भोजन मिल सकता है; आठ-दस अनाथोंके लिए रहने-खाने कपड़ेकी व्यवस्था हो सकती है। तो, जो धन हम कमा रहे हैं, वह किस प्रयोजनकी सिद्धि कर रहा है और आगे इससे क्या अनर्थ हो सकता। इसपर यदि हम गौर करेंगे, तो हमारे लोभ कम हो जायेंगे।

इन्हें दूर करनेके नुस्खे हुए, कामके लिए असंकल्प, क्रोधके लिए निष्कामता, लोभके लिए अर्थानर्थका दर्शन—'भयं तत्त्वावदर्शनात्' जो लोग भय पैदा कर देते हैं कि यह भूत है, यह चोर है, यह झगड़ालू है, तो इसके लिए आप असलियतका पता लगाइये, आपका भय दूर हो जायेगा और फिर न आपके घरमें भूत आवेगा और न चोर आवेगा। माने, सच्चाईका पता लगानेपर भय निवृत्त हो जाता है।

इस तरह भागवतके सातवें स्कन्धमें एक-एक रोगकी निवृत्तिके लिए एक-एक औषधि लिखी हुई है।

ओषति दोषान् धत्ते गुणान् इति ओषधिः।

जो दोषको जला दे और गुणोंका आधान कर दे, उसका नाम औषधि है। पर, साथ ही अलग-अलग रोगकी अलग-अलग औषधि न बताकर एक औषधि बतायी। अपने गुरुके प्रति भक्ति—'एतद् सर्वं गुरोर्भक्त्या।' यदि अपने गुरुके प्रति भक्ति हो, तो वह बतावेगा ना! कि बेटा, तुम गलत रास्तेसे जा रहे हो, इस रास्तेसे मत जाओ; उसको ज्यादा मत देखो, उससे ज्यादा बात मत करो, उसके पास ज्यादा मत बैठो, उससे मत चिपको, अपनी 'कम्पनी' अच्छी रखो आदि। और जब, गुरुके चरणोंमें तुम्हारा प्रेम हो जायेगा तब दूसरोंसे प्रेम तो नहीं होगा ना! भक्तिमें ईमानदारी चाहिए, बेईमानी नहीं। बेईमानी सम्पूर्ण दोषोंकी व दुःखोंकी जड़ है। और सुगमतासे दोषों और दुःखोंपर विजय प्राप्त करनेका उपाय है। ईमानदारीके साथ, सच्चाईके साथ; श्रद्धाके साथ और हितके साथ गुरुकी सेवा करना। श्रद्धा पूर्ण नहीं होगी और यदि तुम कहीं भोग करने लगोगे या कहीं यशमें, पूजामें, प्रतिष्ठामें फँसने लगोगे और गुरुजी तुम्हें मना करेंगे तो बोलोगे कि गुरुजी हमसे ईर्ष्या करते हैं, हमारी उन्नति इनसे देखी नहीं जाती है; इनसे नहीं देखा जाता है कि लोग हमसे प्रेम करें, गुरुजीके मनमें अब ईर्ष्या आगयी और ये अब हमको आगे नहीं बढ़ने देना चाहते हैं तो—

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥

साक्षात् भगवान् तुम्हारे कल्याणके लिए गुरुके रूपमें पधारे हुए हैं और ज्ञानकी मशाल जलाकर तुमको दिखा रहे हैं, दिखा नहीं रहे हैं, तुम्हारे हाथमें दे रहे हैं, तुम देखते हुए चले जाओ आगे-आगे-आगे!

पर, यदि उनको कोई साधारण मनुष्य समझ लेता है, किसीके मनमें ऐसी असद्-बुद्धि, ऐसी दुर्बुद्धि आजाती है तो, उसकी सारी पवित्रता गज-स्नानके समान हो जाती है। जैसे हाथी सरोवरमें स्नान करके बाहर निकले और फिर सूँड़से धूल उठा-उठाकर अपने ऊपर डालने लगे तो उसकी स्थिति वापस पहले जैसी-ही हो जाती है; वैसे ही, गुरुको साधारण मनुष्य समझनेवालेकी स्थिति भी पहले जैसे ही हो जाती है।

अच्छा, अब महात्मामें अड़तीस गुण और भगवान्में तीस गुणकी बात ऐसी है जो कि भागवतके प्रथम स्कन्धमें जहाँ धर्म और पृथिवीका

सम्वाद है, वहाँ भगवान् श्रीकृष्णमें गिनकर तीस गुण बताये गये हैं और भागवतमें ही जब श्रीशुकदेवजी महाराजके आगमनका प्रसङ्ग है, तब गिनकर श्रीशुकदेवजी में अड़तीस गुण बताये गये हैं।

भागवतमें तो गिनतीका उल्लेख नहीं है, परन्तु श्रीबल्लभाचार्यजी महाराजने 'सुबोधिनी'में भागवतार्थं निबन्ध-प्रकरणमें इनकी गिनती की है। यदि आपको इन गुणोंकी गिनती करनी है, तो आप वह पुस्तक पढ़ लें।

बात यह है कि देखो, गीता भी तो यही कहती है कि भगवान् तो सब हैं। है कि नहीं ?—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

बहुत जन्मोंके बाद मनुष्यको ज्ञान होता है और ज्ञान हुआ, यह कब समझें ? बताया कि जब यह प्रपत्ति हो जाये कि भगवान् ही सब हैं 'वासुदेवः सर्वमिति'—सब कुछ भगवान् ही हैं, तब ! फिर बोले कि जिसको यह प्रपत्ति हो गयी कि भगवान् ही सब हैं, वह महात्मा सुदुर्लभ है।

यदि कोई श्रद्धालु जिज्ञासु होगा तो उसके लिए सुलभ हैं और यदि कोई संशयालु होगा तो उसके लिए दुर्लभ हैं—

स महात्मा सुदुर्लभः।

अब देखो, भगवान् अपनेको सुलभ बताते हैं और महात्माको दुर्लभ बताते हैं। नैयायिकोंने जिस परमेश्वरको स्वीकार किया है, उसकी तो ईश्वरतामें भी सन्देह है। क्योंकि वह ज्ञानादि गुणोंका आश्रय है, द्रव्य है। यहाँ ज्ञान, धर्माधर्म, इच्छा, प्रयत्न आदि तो गुण हैं। माने जिस ज्ञानका अधिकरण है आत्मा, वह ज्ञान गुण है और आत्मा-परमात्मा द्रव्य हैं। वे सृष्टिके उपादान नहीं, निमित्त हैं और उन्हें सृष्टि बनानेके लिए परमाणुओंका आश्रय लेना पड़ता है।

यदि परमाणुओंका आश्रय न लें तो नैयायिक और वैष्णवोंका जो परमात्मा है, वह सृष्टि बना ही नहीं सकता, वह सामग्री पराधीन है। सांख्योंका जो आत्मा है, वह ऐसा निकम्मा और आलसी है कि कुछ करता-धरता ही नहीं है। प्रकृति बनावे, चाहे प्रकृति बिगाड़े, वह आलसी कुछ करने-धरनेका नाम नहीं लेता और जैसे बिलमें घुसकर

कोई बैठ जाये, ऐसे ही निरोधमें घुसकर, समाधिमें घुसकर देखता रहता है। तो, ऐसे परमात्मासे तो वह महात्मा बहुत बढ़िया है, जो व्यवहारमें अपने परमार्थ-तत्त्वका अनुभव करता है।

ईश्वर सृष्टि बनाता है—अच्छी-बुरी दोनों, सुख-दुःख दोनों, चर अचर दोनों, मृत्यु-अमरता दोनों; परन्तु महात्मा मृत्यु नहीं बनाता है, केवल अमरता बनाता है; वह जड़ता नहीं बनाता, केवल चेतनता बनाता है; वह दुःख नहीं बनाता, केवल सुख बनाता है। तो महात्मा माने, केवल अच्छी-अच्छी सृष्टि बनानेवाला, लोगोंके जीवनमें साधन डालनेवाला उनको सिद्ध बनानेवाला, उनको परमात्मासे एक करनेवाला और परमात्मा—'जय-जय सीताराम !' लोग कहते हैं कि वह भक्तोंपर कृपा करता है, तो करता होगा; पर महात्मा न हो तो कोई भक्त ही नहीं होगा और भक्त ही जब नहीं होगा, तो परमात्मा किसीपर कृपा भी कैसे करेगा ? इसलिए परमात्मा सिद्ध-पदार्थ है और महात्मा प्रत्यक्ष है। परमात्मा या तो परोक्ष है—सृष्टिकर्ता-कारणके रूपमें और या तो अपरोक्ष है—आत्माके रूपमें। परोक्ष है तो उसपर विश्वास करो और अपरोक्ष है तो 'निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तं' है और यदि महात्माका कोई प्रत्यक्ष स्वरूप है तो वह साक्षात् महात्मा ही है।

महात्मा ही आपको ज्ञान देता है—

आचार्यात् विदधति, आचार्यवान् पुरुषो वेदा।

जो लोग आसमानमें ढेला फेंककर निशाना लगाना चाहते हैं—उनकी बात दूसरी है। पर, असल बात यह है कि बिना महात्माके न परमात्माके स्वरूपका पता चल सकता है, न उसके मार्गका पता चल सकता है और हम उसकी ओर चल सकते हैं कि नहीं—न इसका पता चल सकता है। इसलिए, भागवतके प्रथम स्कन्धमें ही भगवान्के गुणोंसे भी अधिक गुण महात्मामें बताये गये हैं, तो वह कोई बड़ी बात नहीं है। ग्यारहवें स्कन्धमें तो भगवान्ने यहाँ तक कह दिया है—

मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका।

मेरी पूजासे भी बड़ी है महात्माकी पूजा।

•

: ५६ :

बुद्धि और मन

प्रश्न : बुद्धि और मन एक दूसरेके बहुत निकट हैं—इनमें किसका किसपर नियन्त्रण है और इनका अलगाव कैसे कर सकते हैं—कृपया समझायें !

उत्तर : देखो, आप बुद्धिसे समझते हो कि अमुक लड़की बहुत अच्छी है, संयमी है, शीलवान है, सुन्दर है, स्वस्थ है और फिर मनसे चाहते हो कि इससे हमारा ब्याह हो जाये। माने श्रेष्ठताकी बुद्धि हुई और उसको प्राप्त करनेका मन हुआ।

श्रेष्ठताकी ज्ञान-बुद्धि और प्राप्त करनेकी इच्छा मन है ! तो है तो चीज एक ही, लेकिन वृत्ति-भेद हो गया। बुद्धिने समझा कि यह अच्छी है और फिर मनने चाहा कि यह हमको मिले। इस तरह मन-बुद्धिका फर्क बहुत बढ़िया हो गया।

अब, दोनोंमें कौन किसका नियन्त्रण करता है—यह देखना है। कई लोग बुद्धिसे अच्छा समझकर, फिर चाहते हैं और कई लोग चाह हो

जानेपर उसके पानेके लिए बुद्धि लगाते हैं। यानि कहीं बुद्धि वासनापर हावी हो जाती है और कहीं वासना बुद्धिपर।

जैसे—रास्तेमें चल रहे हैं और आँखने कोई सुन्दर साड़ी देखी तो इच्छा हो गयी कि ऐसी साड़ी हमारे पास भी होनी चाहिए। अब होनी चाहिए तो उसके लिए रुपया कहाँसे आयेगा ? तो बुद्धिने कहा कि हमारे पतिको तो हिसाब-किताब याद रहता नहीं है, उनकी जेबसे दो-चार निकाल लेंगे तो उनको पता भी नहीं चलेगा और साड़ी खरीद कर ले आयेंगे।

तो, पहले इच्छा हुई (माने मन हुआ) उस साड़ीको पानेकी और फिर बुद्धिने तरकीब बतायी—रुपया चोरी करके खरीदनेकी। इस तरह आप देखें कि जो बेईमानीसे रुपया कमाते हैं या चोरी करते हैं या व्यभिचारमें जिनकी प्रवृत्ति होती है—उनका मन बुद्धिपर हावी हो जाता है, क्योंकि जानते हुए भी वे बुरा काम करते हैं।

जब हम यह निश्चय करते हैं कि इतना दान करना है—तो इसका अर्थ हुआ कि बुद्धि दानको पहलेसे ही श्रेष्ठ समझती है और यहाँ दान करना है अथवा यह दान करना है—यह बुद्धि निश्चय करती है और फिर मनमें आता है कि इस महीनेकी तनख्वाह हम इस अच्छे काममें लगा देंगे और लगा दिया।

तो कोई मनसे बुद्धिपर और कोई बुद्धिसे मनपर नियन्त्रण करता है। वैसे प्रायः भले-मानुष बुद्धिके द्वारा मनपर नियन्त्रण करते हैं और वासनावान् पुरुष वासनाके द्वारा बुद्धिपर नियन्त्रण करते हैं। पर, मन-बुद्धि आपसमें दाव खेलें यह और चीज है—इन्हें होना अपने वशमें ही चाहिए।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

यदि आप मन और बुद्धिपर दृष्टि रक्खेंगे तो आपकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी ! जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, वह व्यवहारमें भी विश्वसनीय नहीं होता और व्यापारमें भी सफल नहीं होता।

मान लो—आपने एक सौदा किया और भाव घट गया। तो पुराने भावपर लेनेका आपका मन नहीं हो और व्यापारीने सौदा किया और सौदा करनेके बाद उसका भाव बढ़ गया—तो उसका बेचनेका मन ही नहीं हो, उसे वह जैसे-तैसे बचाना चाहे—तो ऐसे ग्राहक और ऐसे व्यापारी सफल नहीं हो सकते—क्योंकि उनकी बुद्धि स्थिर नहीं है, निश्चयात्मक नहीं है।

अतः जो एक बार किये हुए निश्चयका कष्ट सहकर भी पालन करता है, प्रतिज्ञाका पालन करता है—शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्रकी तरह कष्ट सहनेको तैयार रहता है—वह स्थितप्रज्ञ होता है और वही अपने ध्येयमें सफल भी होता है!

पर जो अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ नहीं रहेंगे, अपने बड़ोंकी आज्ञा न मानकर स्वतन्त्रतासे काम करेंगे और बड़ोंकी स्वीकृति भी नहीं लेंगे—जो मन होगा सो ही करेंगे—और कभी-कभी तो अपने किये हुएको भी ऐसा ढकना चाहेंगे कि जिसकी कोई हद नहीं है।

करेंगे अपने मनसे और कह देंगे कि सामनेवालेने, गुरुजीने यह कहा है—तो यह जो बुद्धिमें अडिग न रहनेकी स्थिति है, यह व्यावहारिक विश्वसनीयताको नष्ट कर देती है और इस तरह ऐसा व्यक्ति असफल हो जाता है।

निश्चय वह होता है जो अहंके साथ मिल जाता है। विचार तरह-तरहके आते हैं, संकल्प भी तरह-तरहके आते हैं, पर बुद्धि वह होती है जो अहंके साथ जुड़ जाती है और प्रयोजनवत् होती है—

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

बुद्धिसे विचार करके जो चीज प्राप्त की जाती है वह अपने पास रखनेकी होती है।

इसलिए, आप वस्तुओंके और कर्मोंके गुणपर मत जाइये, बल्कि अपने अन्तःकरणमें श्रेष्ठभावसे श्रेष्ठ स्थिति बनी रहे, आप स्थितप्रज्ञ हैं—इस प्रकारका निश्चय कीजिये।

नियन्ता तो आप व्यवहारके हैं ही—आप रोको तो रुके और न रोको तो न रुके।

●

: ५७ :

लक्ष्मी-प्राप्तिका उपाय

प्रश्न : लक्ष्मीजीकी कृपाके लिए क्या करना चाहिए ? कई लोग श्रीसूक्तका पाठ बताते हैं, पर श्रीसूक्त क्या है और कैसे किया जाता है—कृपया बतलायें !

उत्तर : देखो भाई, लक्ष्मीजीकी कृपा प्राप्त करनेके लिए पहली बात आलस्य छोड़ देना चाहिए। 'उद्योगे लक्ष्मीः वसति'—उद्योगमें लक्ष्मीका निवास है। पर, उद्योग माने, मिल खोलना, फैक्टरी खोलना नहीं, उद्योग माने अपनी ओरसे प्रयत्न करना ! आलसी पुरुषको तो रहती हुई लक्ष्मी भी छोड़ देती है। एक श्लोक है—

कुचैलिनं दन्तमलोपचारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

यदि कभी नारायण भी गन्दा कपड़ा पहनने लगें—कुचैलिनम् और गन्दे रहने लगें—अपना मुँह साफ न करें और उसमें-से दुर्गन्ध आने लगे अथवा बहुत खाने लगें या निष्ठुर बोलने लगें अथवा आलसी हो जायें—सूर्योदय और सूर्यास्तके समय भी सोते रहें तो—'विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्'—लक्ष्मी नारायणको भी तलाक दे देगी। श्लोकका अर्थ ऐसा ही है—विमुञ्चति। तो—एक नम्बर बात—मनुष्यको आलसी नहीं उद्योगी

होना चाहिए और दूसरे-दूसरे उद्योगोंकी जानकारी रखनी चाहिए, उद्योगपतियोंसे मित्रता करनी चाहिए।

ये जो बड़े-बड़े उद्योगपति हैं उनको पता चल जाता है कि किस कम्पनीके शेयरका दाम बढ़नेवाला है—हमारी कम्पनीका बढ़नेवाला है, दूसरोंकी कम्पनीका बढ़नेवाला है और दोस्तोंको सलाह दे देते हैं और रातों-रात आदमी लाखों रुपया कमा लेता है। इसलिए, स्वयं उद्योगी होना चाहिए और उद्योगियोंका सङ्ग करना चाहिए और मनमें उत्साह बना रहना चाहिए—अब लिया, अब लिया, अब लिया। इस बार जरूर सफलता मिलेगी। निराश कभी नहीं होना चाहिए, कभी दस रुपये आ गये और कभी दस रुपये चले गये—पर इसकी परवाह न करके निश्चयमें दृढ़ रहना चाहिए और हमेशा आत्मबलसे काम करना चाहिए।

एक बात और ध्यानमें रख लें कि जो अकेली लक्ष्मीको चाहता है, नारायणको नहीं चाहता—उसके घरमें लक्ष्मी आ तो जाती है पर फिर वे नारायणको ढूँढ़ती हैं और नारायण नहीं मिलते हैं तो छोड़कर चली जाती हैं। तो लक्ष्मीके श्रीसूक्तके पाठके साथ-साथ आप नारायणके पुरुष-सूक्तका भी पाठ करें। यह भी ध्यानमें रख लें कि नारायण अनुवाक सहित पुरुष-सूक्तका पाठ करना चाहिए और वह—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' तक ही नहीं—'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' तक होना चाहिए और श्रीसूक्त 'हिरण्यवर्णां हरिणीं' यह पञ्चदश, ऋचावाला सूक्त है।

एक बात और है—इसको साधारण लोग नहीं जानते हैं—वेदके मन्त्रोंका जो पाठ है, अनुष्ठान है—उसमें स्वर होता है। उदात्त-अनुदात्त जैसे आप ध्रुपद-धुमार गायें और जय-जयवन्ती या केदारा राग गायें और उसमें एक स्वर भी टूट जाये तो रागका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है, वैसे ही ये जो वेद-मन्त्र हैं—इनके पाठमें भी स्वर और वर्णका ठीक-ठीक उच्चारण होना चाहिए—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

यदि आप किसी वेदपाठीसे श्रीसूक्त और पुरुषसूक्तका पाठ सीखेंगे नहीं, केवल रेकार्ड करवाकर रख लेंगे और करने लग जायेंगे तो उसमें

जो स्वर और वर्णकी हानि होगी—उसका पता आपको नहीं चलेगा। तो पाठ बिल्कुल ठीक-ठीक करना चाहिए। इसके १३००–१३५० पाठ होते हैं—यह करके फिर उसी हिसाबसे मार्जन होना चाहिए, तर्पण होना चाहिए, होम होना चाहिए और फिर ब्राह्मण-भोजन भी होना चाहिए। विधिपूर्वक श्रीसूक्त और पुरुष-सूक्तका यदि आप पाठ करेंगे तो वह अवश्य फलित होगा—ऐसा हमने एक बार नहीं, अनेक बार और एक स्थानमें नहीं अनेक स्थानमें देखा है। इसलिए, आपकी श्रद्धा है—श्रीसूक्तका पाठ करनेकी—तो आप अवश्य कीजिये, बहुत उत्तम बात है, पर उसको कीजिये विधिपूर्वक।

यह जो हमलोग मन्त्रका उच्चारण करते हैं—एक मन्त्रके बाद दूसरा मन्त्र; दूसरे मन्त्रके बाद तीसरा; तीसरेके बाद चौथा—तो इस तरह एक मन्त्र दूसरे मन्त्रको धक्का देता है और वह उसको वहाँतक—जहाँ लक्ष्मी रहती है—पहुँचा देता है। अधिदैवके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए मन्त्रोच्चारण किया जाता है। जैसे—हम ब्रॉडकास्ट करते हैं अमेरिकामें और ग्रहण होता है यहाँ और ब्रॉडकास्ट करते हैं यहाँ और ग्रहण होता है अमेरिकामें—वैसे ही पवित्र वातावरणमें मन्त्रोंका उच्चारण भी एक प्रकारका ब्रॉडकास्ट ही है—

श्रियं वासयमे कुले श्रियमनपगामिनीम्।

लक्ष्मी हमारे घरमें आवे और आकर फिर जाये नहीं।

तो यह जो हमारे यहाँ अमुक धारा है—उसमें स्वर्ण-वर्णका अर्थ यही है। अमुक धारामें हम मन्त्रोंको डालते हैं और वह दिव्य-लोकमें अमुक स्थानपर पहुँचती है और देवता लोग उनको ग्रहण करते हैं और उसका उत्तर देते हैं। इसलिए, ऐसे नहीं कि बाजारसे श्रीसूक्तकी किताब खरीदी और पाठ करना शुरू कर दिया और फिर बोलें कि हमको तो पाठ करते बहुत दिन हो गया और कुछ हुआ ही नहीं। तो भाई मेरे, कुछ हुआ ही नहीं, यह तो बहुत कम है। अपनेको भाग्यशाली मानिये कि आपको कुछ नुकसान नहीं हुआ। अतः, आप जो भी जप-अनुष्ठान करें—वह विधिपूर्वक जानकर, सीखकर करें।

•

: ५८ :

श्रद्धा

प्रश्न : सच्ची श्रद्धा और अन्ध-श्रद्धापर कृपया प्रकाश डालें !

उत्तर : जो ईश्वरको प्राप्त करना चाहता है, वह बहुत बड़ी वस्तु, जिससे बड़ी कोई वस्तु है ही नहीं, निरतिशय, निरुत्तर और जिसके पहले कोई वस्तु नहीं है और जिसके बाद कोई वस्तु नहीं है—ऐसी वस्तुको—परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिए जो चलता है, वह सारे संसारको छोड़कर चलता है, सारे संसारसे वैराग्यवान् होकर चलता है, सच्ची-श्रद्धासे चलता है। अब यदि उसके लिए कोई कहे कि अन्ध-श्रद्धाके कारण उसकी चीज ईश्वरने ले ली और उसके शरीरसे बहुत सेवा ली, उसको इन-इन कामोंमें लगाये रखा तो वह गलत होगा। जो ईश्वरकी ओर चलता है, वह सच्ची श्रद्धासे ही चलता है और उसके लिए यह सब छोड़ना कोई कठिन नहीं रहता है। उसको यह सब छोड़नेका अभ्यास रहता है।

जो सब कुछ छोड़कर ईश्वरको पाना चाहता है, उसको क्या दुनिया छोड़नेमें डर लगता है !

और, जो छोड़ी हुई चीज है, जैसे कि मैदानमें आप मल-त्याग करके आयें और कोई सूअर आकर उसको खा ले तो उसमें आपको क्या आपत्ति है ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए व्याकुल है—उत्सुक है, उत्कण्ठित है उसको दुनिया छोड़नेमें कोई ठगाई नहीं मालूम पड़ती कि हम ठगे जायेंगे, क्योंकि जिसको हम छोड़ना चाहते हैं, वह छूट जानेसे तो हमारा बोझ ही हल्का होता है।

यदि आप दुराचारीपर—जो झूठ बोल रहा है, चोरी कर रहा है, व्यभिचार कर रहा है, पक्षपात कर रहा है—उसपर आप श्रद्धा करेंगे तो वह आपकी अन्ध श्रद्धा होगी। इसके विपरीत हमको सदाचारी बनाने-वालेपर, संयमी बनानेवालेपर, हमारे मनको एकाग्र करनेवालेपर, भगवान्‌की ओर ले चलनेवालेपर जो श्रद्धा होगी, वह सच्ची श्रद्धा होगी। जो सुमार्गमें ले जाये वह सच्ची श्रद्धा और जो कुमार्गमें ले जाये वह अन्ध श्रद्धा। अब आप देख लीजिये—जिनपर आप श्रद्धा करते हैं वे आपको कुमार्गमें तो नहीं ले जा रहे हैं ?

: ५६ :

व्रज-महिमा

प्रश्न : ऐसा सुना है कि व्रज बृहदारण्य और वृन्दारण्यमें विभाजित है—कृपया आप इस विषयमें बतायें और 'व्रज' शब्दकी महिमापर भी प्रकाश डालनेकी कृपा करें। साथमें व्रज, व्रजवासी व व्रजाङ्गनाओंकी भी बात सुनायें—सब बहुत ही प्रिय लगती हैं!

उत्तर : धन्य हैं आप जो व्रज और व्रजवासियोंसे इतना प्रेम करते हैं।

'व्रज' शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें ऐसे किया हुआ है—व्रज-गतौ-ज्ञानार्थक शब्द है, जिसका अर्थ होता है, साक्षात् ब्रह्म—

व्रजनम् व्याप्ति इत्युक्ता व्यापनात् व्रज उच्यते।

स्कन्द-पुराणके माहात्म्यमें 'व्रज' माने है—व्याप्ति, व्यापक। और व्यापक कौन है? व्यापक ब्रह्म है। तो, 'ब्रह्म'का ही एक नाम 'व्रज' है। यह प्रकृतिका बनाया हुआ नहीं है, प्राकृत नहीं है और पारमाणिक या चैत्तिक भी नहीं है—यह शुद्ध ब्रह्म ही है। शुद्ध ब्रह्म ही व्रजके नामसे कहा गया है। यहाँकी रज—व्रज-रज तो बड़े-बड़े देवताओंको भी दुर्लभ होती है। अद्भुत चीज है—रजमें, धूलमें सर्वस्वकी स्थापना। पर, जिसको बढ़िया भोजन चाहिए, बढ़िया कपड़ा चाहिए, बढ़िया मकान चाहिए, बढ़िया भोग चाहिए, उसको तो यहाँ व्रजमें, रजमें, धूलमें कुछ मिलेगा नहीं, क्योंकि इसमें तो न शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न रस है। पर, जो निष्काम होगा, जो अपनी इन्द्रियोंके लिए अच्छा-अच्छा भोग नहीं चाहेगा, वह व्रजसे, व्रज-रससे प्रेम करेगा। 'छोड़ के रज लुटत हैं रजमें'—माने रजोगुण छोड़कर व्रजकी रजमें लोट-पोट होते हैं—अर्थात् एक रजको छोड़ो और दूसरी रजमें लोट-पोट होवो। अब देखो, ब्रह्मका पहला अक्षर लिया 'व्र' और रजका अन्तिम अक्षर लिया 'ज' और ब्रह्म-रजसे बन गया 'व्रज'। जहाँकी रज भी ब्रह्ममयी है उसको बोलते हैं व्रज।

अच्छा, अब वृहदारण्य और वृन्दारण्यका विभाग ऐसे है कि यमुनाके दूसरी पार जो गोकुल-प्रदेश है—गोकुल और महावन, उनको वृहदारण्य बोलते हैं और जो यमुनाके इस पार है—बरसाना, नन्दगाँव, कामवन; गोवर्धन, वृन्दावन—इनको वृन्दारण्य बोलते हैं। तो नन्दीश्वर, गिरिराज और यमुनाका किनारा और इसके बीचमें २० कोसमें वृन्दारण्यका विस्तार है और यहाँकी धूलमें साक्षात् भगवान् लोटते हैं; यहाँके पेड़ोंपर भगवान् दोनों पाँव लटकाकर चढ़ जाते हैं; पानीमें नहाते हैं; पीताम्बर फहराकर बाँसुरी बजाते हैं; यहाँकी गायोंके पीछे-पीछे चलते हैं गायोंकी सेवा करते हैं। और भागवतमें तो व्रज-भूमिको ऐसी महिमा बतायी है—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि हे प्रभु, मुझको मुक्ति मत देना, जन्म देना, जन्म

देना। बोले—'भई, जन्म तो लोगोंका होता ही रहता है, तुम क्यों जन्म चाहते हो? कहाँ जन्म चाहते हो?' तो बोले—'गोकुले'—जहाँ श्रीकृष्ण बड़ी-बड़ी सींगोंवाली गायोंके पीछे घूमते रहते हैं, वहाँ मुझे जन्म देना, मेरे लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात होगी।' 'अरे ब्रह्माजी, तुम जन्म क्यों चाहते हो? मुक्ति क्यों नहीं चाहते? तुम्हें ब्रह्मलोकमें रहना पसन्द नहीं है? जन्म पसन्द है?' 'हाँ, मुझे गोकुलमें जन्म लेना पसन्द है। गोकुलमें जन्म होनेसे किसीके चरणोंकी धूल मेरे ऊपर पड़ जायेगी। एक बार मैं किसी महात्माके सामने इस श्लोककी व्याख्या कर रहा था—

यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।

मैंने कहा कि ब्रह्माजीने कहा कि यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा कि गोपियोंके चरणकी धूल, गायोंके चरणोंकी धूल हमारे ऊपर पड़ जायेगी। तो महात्माजी वहाँ तो चुप रहे, बादमें एकान्त मिलनेपर मुझसे बोले कि देखो, यहाँ गोपियों व गायोंके चरणोंकी धूलका वर्णन नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि ब्रह्माजी गोपियोंके अपराधी हैं, क्योंकि उनके भाइयोंको वे चोरी करके ले गये थे और व्रजके गायोंके भी अपराधी हैं क्योंकि उनके बछड़ोंको उन्होंने चुरा लिया था।

इसलिए ब्रह्माजीमें तो इतना साहस ही नहीं है कि वे गोपियोंके चरणोंकी व गायोंकी चरणोंकी धूल माँग सकें। तब वे क्या चाहते हैं? 'कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्' यहाँ कोई चिड़िया हो, कोई कीट-पतङ्ग हो अथवा कहींसे हवा उड़ती हुई आवे और मुझपर धूल बरसा दे—वह धूल भी कुछ कम नहीं है। क्योंकि जो व्रजवासी हैं उनका तो सारा जीवन ही मुकुन्द-मुकुन्द है। यहाँ तक कि जब वे सोते हैं तब यह सोचकर सोते हैं कि जल्दी सो जायेंगे तो सुबह जल्दी उठकर तैयार हो जायेंगे और जब श्रीकृष्ण गोचारणके लिए निकलेंगे तो उनका दर्शन करेंगे, उनके साथ वनमें जायेंगे। वे खाते-पीते, तेल-फुलेल लगाते हैं इसलिए कि उनको खुश देखकर श्रीकृष्ण खुश होंगे।

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे किंचिन्निगूढं प्रेमभाजनम्॥

श्रीकृष्णने कहा कि गोपियोंसे बढ़कर मेरे गूढ़ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है। क्योंकि वे अपने बाल सँवारती हैं मेरे लिए, तेल लगाती हैं

मेरे लिए, बढ़िया वस्त्र पहनती हैं मेरे लिए, आभूषण पहनती हैं इसलिए कि इनको देख-देखकर श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे। अथवा वे यह भी सोचती हैं कि यह तो श्रीकृष्णका ही अङ्ग है, इसे आभूषित करके हम श्रीकृष्णको ही आभूषित कर रही हैं। तो व्रजवासी ऐसे हैं कि उनका रोना-हँसना, जीना-मरना, खाना-पीना, शौच-लघुशङ्का जाना भी भगवन्मय है।

'यज्जीवितं तु निखिलं' उनका समग्र जीवन भगवान्‌के लिए है और भगवान् मुकुन्द—मुकुन्द माने 'मुक्तिं द्यति, प्रेम ददाति इति मुकुन्दः।' जो मुक्तिका खण्डन करके, काट करके, टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दें—'जा सारूप्य तूँ उधर जा, जा सायुज्य तूँ उधर जा, जा सामीप्य तूँ उधर जा वह मुकुन्द मुक्ति देनेवाले। किससे मुक्ति देनेवाले? भाई-बन्धुओंसे मुक्ति दिलानेवाले और मुकुन्द माने 'मु मुखे कुन्दवत् हास्यो यस्य' जिनके मुखपर निरन्तर कुन्दकली खिली रहती है—जो हर समय मुस्कुराते रहते हैं—ऐसे मुकुन्द व्रजवासियोंको प्रेम देनेवाले हैं, व्रजवासियोंके जीवन हैं।

अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।

आज भी जिनके चरणोंकी धूल श्रुतियाँ ढूँढ़ती रहती हैं और ऋचाएँ ढूँढ़ती रहती हैं। क्यों ढूँढ़ती रहती हैं? क्योंकि उनका यह अनुभव है कि संसारमें जो कुछ होता है वह सब अपने लिए प्रिय होता है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

हम जो सबसे प्रेम करते हैं वह सबके लिए नहीं करते हैं, अपने लिए करते हैं। यदि प्रेम करनेमें स्वयंको मजा, रस न आवे, सुख न मिले अथवा अच्छा न लगे तो कोई किसीसे प्रेम न करे। तो अपने सुखके लिए सब सबसे प्रेम करते है। यह वेदोंका और श्रुतियोंका अनुभव है। परन्तु, गोपियाँ? गोपियोंकी तो अद्भुत रीति है—दूध-दही ऐसे ही पड़ा है, किवाड़ी भी खुली है; क्यों भई, ऐसा क्यों है? ऐसा यों है कि हमारा लाला आवेगा तो उसको अन्दर आनेके लिए किवाड़ी खोलनी पड़ेगी; मक्खन खानेके लिए ढक्कन उठाना पड़ेगा—उसे कष्ट होगा। आप देखो, सब जगह भक्तका हाथ नीचे और भगवान्‌का हाथ ऊपर रहता है—भगवान् देते हैं—भक्त जी, यह लो, भक्त जी यह लो; भक्त जी यह लो, परन्तु यह व्रज एक ऐसा है जहाँ भक्तका हाथ ऊपर रहता है और

भगवान्‌का हाथ नीचे। आओ श्यामसुन्दर ! दूध लो, दही लो, मक्खन लो, मिश्री लो, रोटी लो। व्रजवासी तो भगवान्‌को देते हैं, उनसे लेते कुछ नहीं हैं। तो ऐसे जो श्रीकृष्णसे प्रेम करनेवाले हैं, उनको श्रुतियाँ ढूँढ़ती रहती हैं—कि वह कौन-सा प्रेम है, जो आत्म-निष्ठ नहीं होता, भगवन्-निष्ठ होता है। इसीसे उद्धवजीने—

'आसमहो चरणरेणु' कहकर इस बातकी पुष्टि की और 'भेजुर्मुमुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यां'—श्रुतियाँ भी जिनकी पदवीको ढूँढ़ती हैं—उनको व्रजवासियोंने प्राप्त किया। तो,

अहोभाग्यं अहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा कि व्रजवासी लोग ऐसा प्रेम करते हैं कि इनसे प्रेम करनेके लिए, इनसे मित्रता करनेके लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपना गोलोक छोड़कर व्रजमें आये—

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।

और उन्होंने अपने स्नेहसे, रससे, सुखसे, लीलासे व्रजवासियोंको सराबोर किया—उनके भाग्यकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है !

एषां तु भाग्यमहिमाऽच्युत तावदास्ताम्।
एकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः॥

देवता लोग भी अपनेको धन्य-धन्य मानते हैं कि हम इनकी इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता हैं।

तो भाई, व्रजकी बात तो व्रजकी ही है। बम्बईके लोगोंको यह बात समझमें आनी मुश्किल है। उनको तो बम्बईकी मिट्टीमें और व्रजकी मिट्टीमें भी कोई फर्क नहीं मालूम पड़ेगा। पर वहाँके लोगोंको इस विषयमें पूछकर देखें। उनको तो वह भूमि इतनी प्यारी है, इतनी प्यारी है कि—'हम व्रज सुखी व्रजके जीव'—हम व्रजके लोग व्रजमें ही सुखी रहते हैं—टेंटीका अचार और बाजरेकी रोटी और मट्ठा-महेर खाकर मस्त रहते हैं—किसके लिए, श्रीकृष्णके लिए।

•

: ६० :

जिज्ञासा

प्रश्न : कृपया बतलायें कि सबसे बड़ा दरिद्र कौन है और सबसे बड़ा धनी कौन ? जीते जी मरा कौन है, अमृत क्या है और वह कौन-सा विष है जो अमृत जैसा लगता है ? यह भी बतायें कि पशुओंसे बढ़कर पशु कौन है और वह कौन-सा शत्रु है जो मित्र जैसा लगता है ?

उत्तर : सबसे बड़ा दरिद्र वह है जो दूसरेसे सुख चाहता है। वह दरिद्र है जो सोचता है कि यहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुख मिलेगा जो सोचता है कि अब सुख नहीं है, ऐसा होनेपर मैं सुखी होऊँगा। जो सोचता है कि यह चीज हमारे पास नहीं है, जब यह हमें मिल जायेगी तब मैं सुखी होऊँगा। अरे भाई, तुम्हारे जैसे सैकड़ों, हजारों आदमियोंको वह चीज मिल चुकी है और वे सुखी नहीं हुए हैं। क्या आपका ख्याल है कि जिनके पास बहुत धन है वे सुखी हैं !

हमारे पास बड़े-बड़े राजा-महराजा आकर रोते हैं। उनके पास अरबोंकी सम्पत्ति है—कुछ देशमें, कुछ विदेशमें—पर क्या वे सुखी हैं ? अच्छा, जिनकी पत्नी बहुत सुन्दर है—क्या वे सुखी हैं ? नहीं, वे भी सुखी नहीं हैं। सुनो, यहाँकी ही एक बात सुनाता हूँ—अबसे कोई बीस वर्ष पहलेकी बात है—एक बहूने मुझको बताया कि रातमें उसके पतिदेव बीच-बीचमें, जब उनकी नींद टूटती—बत्ती जलाकर देखते थे कि पत्नी बगलमें सोई हुई है कि नहीं। बड़ी सुन्दर पत्नी थी।

सुन्दर पत्नीकी एक और बात सुनिये। वह भी यहीं बम्बईकी ही है—एक करोड़पति सेठ थे। उनकी पत्नी जब घरसे हमारे पास आनेके लिए रवाना होती तो वे मेरे पास फोन कर देते स्वामीजी, आपके पास गयी है और जब वहाँ पहुँच जाये, तब उससे फोन करवा दीजियेगा कि पहुँच गयी है। और फिर मेरे पास बैठी रहती तो उनका फोन आता कि जब रवाना हो वहाँसे तो फोन करवा दीजियेगा कि रवाना हो गयी है। भला बताओ, यह सुन्दर पत्नी होनेका सुख है ! तो, जिसने अपने सुखको अपने दिलमें-से निकालकर कहीं अलग रख दिया, वह सबसे बड़ा दरिद्र हो गया।

सबसे बड़ा धनी वह है जो सत्संगमें रहता है। सत्संगमें रहनेवालेको

अपनेमें कभी कोई कमी नहीं मालूम पड़ती। रूखी रोटी मिलनेपर भी वह खुश रहता है और चुपड़ी रोटी मिलनेसे भी खुश रहता है। मामूली कपड़ा मिलनेपर भी खुश, बढ़िया कपड़ा मिलनेपर भी खुश। असलमें धनी है ही वह—जिसको ईश्वर-रूप धन, सन्त-रूप धन प्राप्त है और बाकी तो ये, नोटोंके बण्डलोंका या कि हीरा-मोती-सोना-चाँदीका बोझ ढोनेवाले—जोशमें, आवेशमें भले ही बोल दें कि हमारे बराबर सुखी कौन है, दिलमें तो वे कुढ़ते-चिढ़ते, दुःखी रहते हैं। शान्ति नामकी कोई चीज नहीं रहती इनके पास !

जीते जी मरा वह है जो भगवान् और सत्सङ्गसे विमुख है। उसका जिन्दा होना मुर्दा ही होना है।

अमृत है—भगवान्‌की कथामृतका रसास्वादन; कीर्त्तनामृतका रसास्वादन जिसमें परापेक्षा बिल्कुल नहीं रहती है और परापेक्षाको मिटा देनेवाली जो प्रक्रिया है वही असलमें अमृत है। तुम्हारे घरमें परमेश्वर बैठा हुआ है, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त साक्षात् ब्रह्म और तुम उसकी ओर न देखकर, अपनेको कंगाल समझकर, ईश्वरका अपमान करके दुनियासे भी भीख माँगते हो, कहते हो—मोटरमें सुख है, मकानमें सुख है, धनमें सुख है, स्त्रीमें सुख है, पुत्रमें सुख है। हमको सब मालूम है—हमको माँ-बेटेके झगड़ेका मालूम है, कैसे कचहरीमें दो ओर खड़े होकर मुकदमा करते हैं; बहुत धनका मालूम है—

एकके पास बहुत सम्पदा थी—राजा थे पहले तो जब सम्पत्ति 'डिक्लेयर' करानेकी बात आयी तो उन्होंने करोड़ोंके हीरे अपनी बेटीके नाम 'डिक्लेयर' कर दिये। अब इनकम-टैक्स ऑफिसरने अपने जवान लड़केको समझा-बुझाकर उस लड़कीके पीछे लगा दिया—इससे दोस्ती कर लो। दोस्ती कर ली और फिर दोनोंने चुपके-चुपके कोर्टमें शादी कर ली और तीन-चार महीनेतक तो वे बिल्कुल चुप रहे और बादमें लड़की हीरोंको लेकर चली गयी। तब सब मालूम पड़ा और वह कुहराम मचा कि बस ! ईश्वर-कृपासे उस समय मैं भी उसी शहरमें था—मुझे बुलाया और रोयें-ही-रोयें; रोयें-ही-रोयें—पर क्या हो ? अब जा करके किसी तरह बात पटी है।

तो लड़की और माँमें, माँ-बेटेमें, भाई-भाईमें, सास-बहूमें, बाप-बेटेमें, पति-पत्नीमें, आजकल तो मैंने सुना है कि कलकत्तेमें तो तलाकोंकी बाढ़

आ गयी है—बस, पति-पत्नी एक दूसरेको तलाक देते जा रहे हैं—तो यह जो लोग संसारमें, दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, उनके भाग्यमें यही लिखा है कि वे हमेशा दुःखी रहें, अपने कंगालपनेमें डूबे रहें। असलमें तो संसारमें अमृत यही है कि हमारे हृदयमें कभी किसी दूसरे देशमें मिलने-वाले, दूसरे कालमें मिलनेवाले, दूसरे व्यक्तिसे मिलनेवाले, दूसरी वस्तुसे मिलनेवाले पदार्थकी इच्छा ही न हो। यदि ऐसा हो जाये तो आप समझो कि आपको अमृतका आस्वादन हो रहा है। वह कौन-सा विष है जो अमृत जैसा लगता है? वह है—संसारका विषय-भोग। गीतामें कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् परिणामे विषमिव।

जो पहले भोगके समय तो बहुत अच्छा लगे पर बादमें दुःखमयी हो जाये। एक सज्जन थे, जबलपुरमें। उन्होंने बड़ी उम्रमें विवाह किया। फिर भी उनको पत्नी बहुत सुन्दर व अनुकूल मिली। उन्होंने इतना सहवास किया कि उनको तीन महीनेके अन्दर ही टी. बी. हो गयी। यह अति है—भला! उस समय तो उनको बहुत सुख मिला होगा—ऐसी मैं कल्पना करता हूँ, पर जब टी. बी. हो गयी तो स्त्रीको घरमें ही छोड़कर मेरे पास आ गये, रहे। अब मुझे दिखाना पड़ा कि उनको टी. बी. नहीं है—अपने साथ बैठाकर मैं उनको खिलाता, अपने साथ सुलाता। अन्तमें स्वर्गाश्रममें उनकी व्यवस्था कर दी—रोज गंगा-स्नान करें, गंगाकी माटीमें लोटें और गंगा-जल पीयें। इससे छः-सात महीनेमें उनकी टी. बी. तो अच्छी हो गयी, लेकिन उनको मालूम पड़ गया कि जो पहले अमृत मालूम पड़ता था, उसमें कितना विष भरा हुआ था। तो शरीरकी शक्तिका उपयोग प्रज्ञाकी वृद्धिके लिए करना चाहिए, उसको व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। शरीरमें जो वीर्य रहता है—उसीसे हमारी आयु बढ़ती है, प्रज्ञा बढ़ती है, इन्द्रियोंमें भी शक्ति रहती है और निश्चयकी दृढ़ता भी आती है। शक्ति न हो तो मनुष्यका जीवन बिल्कुल निकम्मा हो जाता है। इसलिए, अपने वीर्यको नष्ट नहीं करना चाहिए।

अच्छा, देखिये—शराब पीते हैं। पहले लगता है कि हम मस्त हो जायेंगे। पर, धीरे-धीरे जब शक्ति क्षीण हो जाती है तब ऐसी दीनता आती है कि क्या बतायें? शराब पीनेवालोंका जीवन अत्यन्त दीन-हीन पराधीन हो जाता है। स्पष्टरूपसे ही शराब बुद्धिको नष्ट करनेवाली चीज है। असलमें, जिस-जिस चीजसे मनुष्य नशेमें आजाता है—उनमें

पैसा इकट्ठा करना भी है, शारीरिक बल भी है, बहुत ऊँची कुर्सीपर बैठनेकी इच्छा भी है—पहले लगता है अमृत है, पर पीछे वही विष हो जाता है। पूछो उनसे, जो लोग कुर्सीपरसे उतर गये हैं—दिन-रात कराहते रहते हैं; कुर्सी मिली, महीने-दो-महीनेकी और कराहना मिल गया—जिन्दगी भर का। तो यह नशा है, जो पहले अमृत-सा लगता है फिर वही विषका काम करता है।

पशुओंसे बढ़कर पशु, जो सबड़े बड़ा पशु है वह नहीं है, वह है जो मनुष्यकी शकलमें रहकर पशुका काम करता है। इसीसे समझ लेना कि वेदोंमें जो निन्दा की गयी है, वह यह कहकर की गयी है—'पशुरेव सदेवानाम्'—वह देवताओंका पशु है (क्योंकि देवता होता ही वह है, जिसके पास कम-से-कम एक पशु होता है) हर देवता अलग-अलग पशु रखते हैं। भैरव देवता कुत्ता रखते हैं, मङ्गल देवता बकरी-भेंड़ रखते हैं, इन्द्र देवताके पास हाथी है, शंकर देवताके पास बैल है, गणेश देवताके पास चूहा है—तो वह मनुष्य, जो संसारके विषयोंकी पराधीनतामें अपना जीवन व्यतीत करेगा, वह हमेशा पशु होकर ही रहेगा !

ये इन्द्रियाँ देवता हैं, जो आँखके पराधीन हैं—देखे बिना नहीं रहा जाता है—वह भी पशु है, जो कानके पराधीन है कि हम तो यह सुनेंगे ही—वह बस, पशु हो गया। हम तो यह छूयेंगे, यह सूघेंगे, यह खायेंगे—अपनी इन्द्रियोंसे पराधीन होना, पशु होना है। अतः सबसे बड़ा पशु वह पशु है, जो अपनी इन्द्रियोंके पराधीन है।

अच्छा, अब यह बताना है ना कि वह शत्रु कौन है जो मित्र-सा लगता है। हाँ तो भाई, जो व्यक्ति अपनेको संसारमें फँसावे वह शत्रु और जो संसारसे छुड़ावे, वह मित्र—सीधी बात है। देखो, एक साधु हैं—बड़े विरक्त, बड़े त्यागी। बहुत वर्षोंतक हिमालयमें रहे। धीरे-धीरे उनकी महिमा बढ़ी। लोग यहाँ-वहाँसे उनका दर्शन करनेके लिए जाने लगे, उनके वैराग्यकी पूजा करने लगे और अन्तमें क्या किया ? उनके भक्तोंने उनको ही गृहस्थ बना लिया, संसारमें फँसा दिया। तो बात क्या है कि जो बाहरसे देखनेमें बड़े प्रेमी होते हैं, वे संसारमें फँसानेवाले होते हैं—शत्रु हैं और जो गाली देते हैं, अपमान करते हैं, दबावमें रखते हैं—वे संसारसे छुड़ानेवाले होते हैं—वे मित्र हैं।

श्रीशंकराचार्यजी महाराजने भी यह कहा है कि 'अपनी इन्द्रियाँ ही वशमें न हों, तो शत्रु हैं; क्योंकि ये बहुत सताती हैं और अपनी इन्द्रियाँ ही अपने वशमें हों तो मित्र हैं !

●

: ६१ :

ईश्वरके कानून बिलकुल अलग

प्रश्न : ईश्वर सत्यवादीके साथ रहता है कि असत्यवादीके साथ ?

उत्तर : ऐसा है जी कि यह संसार जो है यह एक शरीर ही है—जिसमें दिल भी होता है, दिमाग भी होता है, हाथ-पाँव भी होते हैं और मल-त्याग व मूत्र-त्यागके स्थान भी होते हैं। क्या आप अपने शरीरके लिए कहेंगे कि इसमें मल-त्यागका और मूत्र-त्यागका स्थान न रहे ? इसी तरह ईश्वरके शरीरमें भी सब रहते हैं—उसकी आँखमें सूर्य रहते हैं, कानमें दिशाएँ रहती हैं, नासिकामें अश्विनीकुमार रहते हैं, त्वचामें वायु रहती है, वाक्‌में अग्नि रहती है, रसनामें वरुण रहते हैं। जिस तरह मनुष्यके लिए अपने आँख, नाक, कान आदिकी सफाई करना और उसे सुरक्षित रखना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी मल-त्याग व मूत्र-त्यागका स्थान भी साफ व सुरक्षित रखना जरूरी है; उसी तरह ईश्वरके शरीरमें सभी प्रकारके लोग रहते हैं वही सबको जन्म देता है, तुष्टि देता है, पुष्टि देता है और वही सबको अपने भीतर रखता है। जिसको हमलोग बुरा समझते हैं अथवा कहते हैं—वह हमारे कानूनमें बुरा है, पर ईश्वर के कानूनमें उसका बुरा होना जरूरी नहीं है।

ईश्वर क्या भारतीय कानूनका पाबन्द है या कि अमेरिकन कानूनका या कि रसियन कानूनका वह किसीका पाबन्द नहीं है। फिर आप भलाई-बुराईका निश्चय कैसे करेंगे ? एक देशकी बुराई दूसरे देशमें भलाई है, एक देशकी भलाई दूसरे देशमें बुराई है। इतने छोटे-छोटे देश अपने-अपने कानून बनाकर, मजहब बनाकर, धर्म बनाकर बैठे हुए हैं और सब समझते हैं कि ईश्वर हमारे ही धर्मको माननेवाला होगा।

तो भाई मेरे, ईश्वरके कानून बिलकुल अलग हैं, ईश्वरका दृष्टिकोण बिलकुल अलग है। यदि ईश्वरके राज्यमें सबको रहनेके लिए स्थान न हो तो वह ईश्वर कैसा ? भलेके साथ भी ईश्वर रहता है और बुरेके साथ भी ईश्वर रहता है और जिसको तुम भला-बुरा समझते हो उसको ईश्वर भला-बुरा नहीं समझ सकता ! ईश्वर तुम्हारी समझके अनुसार नहीं चलता। ईश्वर अपनी समझके अनुसार, सबमें अपने आपको देखकर सबके साथ व्यवहार करता है। आप ईश्वरको अपने कानूनका पाबन्द बनाना चाहते हो—यह बिलकुल गलत है। ●

: ६२ :

भागवत-आसक्तिकी दवा

प्रश्न : भक्ति-ज्ञान-वैराग्यको जाग्रत करनेमें वेद-पाठ और श्रीमद्भगवद्गीता—जो कि भगवान्‌की ही वाणी हैं—असमर्थ क्यों हैं और श्रीमद्भागवत इसमें समर्थ क्यों है ? कृपया समझायें।

उत्तर : धर्मशास्त्रका नियम यह है कि जब आप गंगाजीमें स्नान करें तब दूसरे किसी भी तीर्थकी याद बिलकुल न करें। सोचें कि जो किसी तीर्थमें जानेसे नहीं होता, वह गंगा-स्नानसे होगा। जब किसी मन्दिरमें जायें—भगवान्‌का दर्शन करने, तब दूसरे मन्दिरकी, दूसरे भगवान्‌की याद बिलकुल न करें; क्योंकि नियम ही यह है कि जिस मन्दिरमें खड़े हैं, उसकी ही महिमा अपने हृदयमें हो। इसी तरह जब आप भागवत-पाठ या भागवत-सप्ताह करने जा रहे हैं तो उस समय आपके मनमें वेद, वेदान्त, गीता आदिकी महत्तासे कोई प्रयोजन नहीं; दूसरे शब्दोंमें—सबसे अधिक महिमा भागवतकी ही होनी चाहिए। जो पाठ करें, वह सर्वोत्तम और जिस देवताकी पूजा करें, वह सर्वस्व—यह है इसकी मीमांसा-सम्मत संगति।

अब आप यह देखें कि असलमें आपको रोग क्या है ? यदि आपको केवल अज्ञानका ही रोग होता, तो वेद-वेदान्त और गीता-पाठ आपको जगा देते, पर आपको तो रोग है संसारमें आसक्तिका, ममताका। यहाँ तक कि जो वेदान्ती अपने मनमें—'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा सोचते हैं, वे भी पहले अपने 'मैं'को परिच्छिन्नतासे उठाकर अपनेको ब्रह्म नहीं सोचते, परिच्छिन्न शरीरमें ही बैठकर सोचते हैं—'मैं ब्रह्म हूँ' और तब उसका तात्पर्य हो जाता है कि यह शरीररूपी मैं ब्रह्म हूँ। पर, इससे अज्ञान दूर नहीं होता।

दूसरी बात, अब यह देखें कि हमारे मनमें पाप है, तो पाप क्यों है ? विषयासक्तिके कारण। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें आसक्तिके कारण।

और विषयोंमें आसक्ति क्यों है? क्योंकि इन्द्रियोंमें आसक्ति है। और इन्द्रियोंमें आसक्ति क्यों है? हमारी ममताके कारण हैं—हमारी आँख, हमारी नाक, हमारी जीभ। यह सब इसलिए है कि हमारे मनमें आसक्तिका प्रभाव है। असलमें न हमें पाप करनेका दुःख है और न हमें अज्ञानका दुःख है, हमें तो दुःख है—विषयोंकी जो आसक्ति हमारे मनमें आगयी है उसका—इस आदमीके बिना नहीं रह सकते, इस कामके बिना नहीं रह सकते, इस भोगके बिना नहीं रह सकते। ऐसे चिपक गये हैं संसारमें कि बस! और वह चिपकन किसी तरह कम होती ही नहीं। यदि अपने जीवनमें केवल अज्ञान ही होता और अज्ञानका ही दुःख होता, तो शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषका अज्ञान वेद-वेदान्त-घोष और गीता-पाठ भी नियुक्त कर देता और उसे परमात्मासे मिला देता।

परन्तु, हमारे जीवनमें यह जो संसारके विषयोंमें आसक्ति है, वह तो बिना श्रीकृष्ण, बिना श्रीरामसे आसक्ति जोड़े निवृत्त नहीं हो सकती। माने जबतक हमारे हृदयमें भक्ति-रूप आसक्ति नहीं होगी, तबतक आसक्तिकी निवृत्ति नहीं होगी। प्रेमकी निवृत्ति प्रेमसे होती है। हीरा हीरेसे ही कटता है। श्री उड़िया बाबाजी महाराज बोला करते थे कि यदि हीरेको चाँदीसे, सोनेसे, लोहेसे काटने जाओगे तो चाँदी ही कट जायेगी, सोना ही कट जायेगा, लोहा ही कट जायेगा, हीरा नहीं कटेगा। हीरा हीरेसे ही कटेगा। कैसे? जब काटनेवाले औजारकी नोकपर हीरा लगा देंगे और उससे उसे काटेंगे तो वह कट जायेगा। ऐसे ही, संसारमें जो हमारी आसक्ति है, उसकी जगह यदि हमारी आसक्ति भगवान्‌से हो जाये तो हमारी आसक्ति भक्ति बन जाये। भगवान्‌से आसक्ति होनेका नाम ही भक्ति है। भला!

अच्छा, अब देखो भक्तिके दो हिस्से हैं। एक-जब एकसे आसक्ति होगा तब दूसरेसे आसक्ति कटेगी। जैसे, जब दूल्हेसे आसक्ति हो जाती है तब माँ-बापसे आसक्ति कम हो जाती है और माँ-बापको छोड़कर पतिके साथ रहने लगते हैं। और जब किसी जारसे या किसी रखैलसे आसक्ति हो जाती है तब पति अथवा पत्नीसे भी आसक्ति छूट जाती है। तो, आसक्तिकी दवा है आसक्ति। माने एकसे प्रीति हो जाये तो दूसरेसे प्रीति छूट जाये। देखो, इग्लैंडके राजकुमारने एक स्त्रीसे आसक्ति हो जानेके कारण अपने उस साम्राज्यका भी परित्याग कर दिया जिसमें सूर्योदय

और सूर्यास्त नहीं होता था। तो भई, आसक्ति करो तो भगवान्‌से करो। और भगवान्‌से आसक्ति होनेका पहला पहलू यह होता है कि संसारसे आसक्ति छूट जाती है और इसका नाम होता है—वैराग्य।

भक्तिका दूसरा पहलू यह है कि जिसकी भक्ति हम करते हैं, जिससे हमारा प्रेम होता है, उसके बारेमें हम जान जायें, उसकी हमें पूरी जानकारी हो जाये। देखो एक आदमी हमसे बहुत प्रेम करता है। वह हमें अपने घर भोजन करनेके लिए ले गया और वहाँ उसने हमारे सामने हलुआ-पूड़ी, खीर-कचौड़ी सब बनाकर रख दिया—उसका हमसे प्रेम तो बहुत है, पर उसको हमारे बारेमें कोई जानकारी नहीं है कि इनको डायाबीटिज है, हार्टकी तकलीफ है—ये मिठाई नहीं खाते हैं, तली हुई चीज नहीं खाते हैं। तो इसका मतलब यह हुआ कि उसका प्रेम अभी अधूरा है। क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसके बारेमें ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक होता है—इनको क्या अनुकूल पड़ेगा, क्या प्रतिकूल पड़ेगा और उनका स्वरूप कैसा है, व्यवहार कैसा है—आदि-आदि। तो भक्तिका दूसरा हिस्सा हुआ—भजनियाके स्वरूपका ज्ञान और इसका नाम होता है—ज्ञान।

अब, देखना यह है कि ये दोनों हुए कैसे? ऐसे हुए कि जब आपने श्रीकृष्णसे प्रेम किया तब संसारका प्रेम छूट गया, माने वैराग्य हो गया और भगवान्‌से प्रेम हुआ तो भगवान्‌के बारेमें जानकारी हुई, माने ज्ञान हो गया।

असलमें वेद-वेदान्त और गीता कोई छोटी-मोटी दवा नहीं है, बहुत बड़ी दवा है, परन्तु आपका रोग जो है, वह है दूसरे स्तरका—आसक्तिके स्तरका जिसमें विषयासक्ति, इन्द्रियासक्ति, भोगासक्ति भरी है और इसलिए उसको छुड़ानेके लिए भगवान्‌की आसक्ति आवश्यक है। श्रीकृष्ण-भक्ति-प्रधान भागवत आवश्यक है। भागवत ही यह रोग, यह आसक्ति दूर कर सकता है। जैसा रोग होगा वैसी ही दवा होनी चाहिए ना! जुकाम हुआ है तो जुकामको दूर करने वाला जुसाँदाका काढ़ा पीजिये। वह आपके जुकामको जैसा दूर करेगा वैसा चन्द्रोदय, मकरध्वज और रससिन्धु नहीं करेगा।

आपको रोग है संसारमें आसक्तिका। वह दूर होता है भगवान्‌की भक्तिसे। भक्ति कोई औरत नहीं है, भक्ति हृदयका एक भाव है और

उस भावके दो परिणाम, दो नतीजे हैं—वैराग्य और ज्ञान। संसारसे वैराग्य और भजनीयके स्वरूपका ज्ञान। इसीसे जब भक्तिने भागवत-श्रवण किया तब उसके दोनों बेटे ज्ञान और वैराग्य स्वस्थ हो गये, तगड़े हो गये, नाचने लगे।

अब देखो, केवल अज्ञान होता तो वेदान्तसे दूर हो जाता और केवल राग होता तो गीता भी दूर कर सकती—अर्जुनको भी तो मैं-मेरेका राग ही हुआ था, अहंता-ममता ही तो हुई थी, यह मैं हूँ, ये मेरे हैं—इसको तो गीताने छुड़ाया ही था, पर आपको तो संसारमें आसक्ति है। इससे छुड़ाकर भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान कराना तो भक्तिका ही काम है, भागवतका ही काम है।

सुनो एक कहानी एक बच्चेकी नाकमें बलगम जम गया। बड़ा कड़ा बलगम था। बड़े-बड़े डॉक्टर बुलाये गये। सबने कोशिश की, पर कुछ नहीं हुआ, बलगम नहीं निकला। तय हुआ कि ऑपरेशन करके बलगम निकाल दिया जाय, ऑपरेशनकी तैयारी भी हो गयी। तभी एक बुढ़िया माँ वहाँ आगयी। उसने कहा—डॉक्टर, जरा पाँच मिनटके लिए ठहर जाओ। डॉक्टर मान गया।

अब उसने बच्चेको गोदमें उठाया और उसके मुँहको एक हाथसे बन्द करके और उसकी नाकको अपने मुँहमें लेकर जोरसे साँस खींची, तो सारा-का-सारा बलगम बुढ़ियाके मुँहमें आगया। उसने ले जाकर डॉक्टरको दिखा दिया और कहा—अब देखो नाक। नाकमें तो बलगम नहीं था।

तो भई मेरे, आपको नाकमें जो बलगम जम गया है, उसके लिए आपरेशनकी जरूरत नहीं है, वेद-वेदान्त, गीताकी जरूरत नहीं है; उसके लिए जरूरत है—श्रीकृष्ण-भक्तिकी, भागवतकी। भगवान्‌की भक्तिके लिए भागवतका श्रवण-मनन बहुत आवश्यक है। इस रोगकी दवा यही है।

•

: ६३ :

संसार-वृक्ष

प्रश्न : आदि-पुरुषने वृक्षके रूपमें संसारकी उत्पत्ति किसलिए की ? संसार-वृक्ष और सांसारिक वृक्षमें क्या अन्तर है ? इससे सम्बन्धित गीताके इस श्लोक—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १५.१

को समझानेकी कृपा करें !

उत्तर : देखो, वृक्षके रूपमें संसारका वर्णन करके भगवान्‌ने यही कहा कि इसको काट फेंको —

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥

यजुर्वेदमें भी इस वृक्षका वर्णन आया है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिः कृता ।

आपका गाँव एक पीपलके पेड़पर है और खास आपका जो मकान है, वह तो पीपलके एक पत्तेपर है। देखनेमें ऐसे लगता है कि जैसे पीपलके पत्तेपर पानीकी एक बूँद लटकी हो और जो हर समय गिरनेकी

स्थितिमें हो। अब गिर जाये, तब गिर जाये। यही स्थिति आपके गाँवकी है—अब गिर जाये, तब गिर जाये। धरती यदि एक गरम साँस ले ले तो शहर-के-शहर लापता हो जायेंगे और जरा-सा करवट बदल ले तो ? पता ही नहीं चलेगा कि प्रान्त-के-प्रान्त क्या हो गये ? ऐसी स्थितिमें तो आप रह रहे हैं।

तो, यह प्रपञ्च क्या है ? अश्वत्थ है। इसमें यदि वेद नहीं होता, वेदान्त-ज्ञान नहीं होता, तो इस वृक्षकी क्या स्थिति होती ? 'छन्दांसि यस्य पर्णानि'—दुनियामें जितनी भी हरियाली है, पत्ते हैं—वे वेद और धर्मके कारण हैं। धर्मने, मर्यादाने, अनुशासनने इस संसारमें अच्छाईके लिए स्थान बना दिया और यह प्रपञ्च हरा-भरा हो गया, नहीं तो इसमें सबको अभिमान होता, नशा होता, पर-स्त्री होती, जुआ होता, सब एक-दूसरेको लूटते होते और मनुष्य भी जंगली पशुके जैसे होता। कहनेका अभिप्राय यह है कि असलमें वेद और वेदान्त ही इस संसारको हरा-भरा रखनेवाले हैं।

लेकिन, यदि आप इस वृक्षसे छुट्टी पाना चाहते हैं तो, रहो भले इसमें, पर असङ्ग रहो। असङ्ग रहो—माने जैसे एक चिड़िया पेड़पर रहती है। पर जब उसे पता लग जाता है कि अब भूकम्प आनेवाला है—हमने देखा है—चिड़ियोंको पता लग जाता है कि अब भूकम्प आनेवाला है और उस समय एक भी चिड़िया पेड़पर नहीं बैठती है, आसमानमें उड़ती रहती हैं। पशुओंको भी पता चल जाता है—वे भी घरमें रहना नहीं पसन्द करते। मनुष्यसे ज्यादा अनुभव तो पशु-पक्षीको होता है। वे अपने घर-घरौंदेकी ममता छोड़कर बाहर निकल आते हैं, वैसे ही मनुष्यको भी होना चाहिए। हर समय तैयार—जब भी भगवान्‌का हुकुम आवे—अब छोड़ो चलो, तब चल पड़े। एक मिनट ठहरो—बोलनेके लिए कोई काम न रहे। बस, हर समय हुकुमका इन्तजार, हुकुमका इन्तजार। कहनेका तात्पर्य यह कि अपना जीवन असङ्ग होना चाहिए।

वृक्ष दो तरहके होते हैं। एक तो जो एक बार पकनेके बाद फिर सूख जाते हैं। इनमें दुबारा फल नहीं लगते हैं। जैसे–जौ, गेहूँ, चना आदि। इनको औषधि बोलते हैं और दूसरे वे होते हैं—जिनमें बार-बार फल

लगते हैं। वे हरे-भरे बने रहते हैं। सूखते नहीं हैं। जैसे—आम, लीची, जामुन आदि। जो काटनेसे कटे—'व्रश्चू वृश्च्यते इति वृक्षः—उसका नाम होता है—वृक्ष। जो एक बार पकनेके बाद फिर सूखकर मर जाये—'ओषध्यः फलपाकान्ताः', उसका नाम होता है—ओषधि। 'ओषति दोषान् धत्ते गुणान् इति ओषधि'—यह कर्काचार्यने पारस्कर गृहसूत्रमें ओषधि शब्दकी नैरुक्त व्युत्पत्ति दी है। तो वृक्ष वह होता है जो काटनेसे कटता है, औषधि वह होती है जो बिना काटे कट जाती है और यह संसार-वृक्ष ऐसा है कि इसको यदि आप छोड़ना चाहेंगे और असङ्गताके शस्त्रसे इसको काटेंगे, तब तो यह कटेगा, वर्ना नहीं।

इसे वृक्ष इसलिए कहा कि यदि आप यह उम्मीद करें कि कभी अपने आप ही यह मिट जायेगा, इसका प्रलय हो जायेगा और हम इससे छूट जायेंगे तो वह कभी नहीं होगा। इससे छूटनेके लिए आपको तमोगुण, निकम्मापन छोड़कर कर्म करना पड़ेगा और उसमें भी निषिद्ध कर्मका त्याग करना पड़ेगा और केवल विहित कर्म आप कर सकेंगे। विहित कर्म माने शास्त्रोक्त कर्म, संविधानके अनुसार कर्म।

उसमें भी आपको अपनी कामनाका परित्याग करना पड़ेगा। क्यों त्याग करना पड़ेगा? क्योंकि कामना ही आपको दुनियामें कंगाल बनाती है। रामने आपको बहुत सम्पन्न बनाया था, पर कामने आपको कंगाल बना दिया अपने आत्माका इससे बड़ा अपमान और कुछ नहीं हो सकता! हम अपने आत्माका अपमान करके एक मरनेवाले पदार्थ, एक जड़ पदार्थ, एक दुःखदायी पदार्थ, एक परायी चीजको प्यार करते हैं और अपने आत्माको ही, जो अपना सबसे प्यारा है, अपना आपा है, भूल जाते हैं। कामनाका आधार है—अभिमान और यह परिच्छिन्नतामें अभिनिवेश उत्पन्न करनेवाला है। तो, भोगकी कामना, कर्मकी कामना और कर्तृत्त्वका अभिमान—इनको छोड़ना होता है और जिस भ्रान्तिके कारण ये अपने अन्दर रह रहे हैं, उस भ्रान्तिको भी काटना होता है। भ्रान्तिका कारण क्या है? अपने स्वरूपका अज्ञान। यानि अपने स्वरूपके अज्ञानको भी नष्ट करना पड़ता है।

अर्जुन ज्ञानी नहीं है और उसकी दृष्टि लोक-परलोक पर है। परन्तु, साथ-ही-साथ उसमें ममता और आसक्ति भी है। एक ओर ऐसा लगता है कि वह फँस गया है और दूसरी ओर उसमें वैराग्यकी हल्की छाया

भी दीखती है। तो, उसके वैराग्यकी छायाको पूर्ण करनेके लिए—'यथा पुरुषे छाया' और उसकी ममता आसक्तिको दूर करनेके लिए तथा विहित-कर्मके परित्यागके पापसे बचानेके लिए—गीताके ज्ञानका उपदेश हुआ। असलमें, गीताने मनुष्यको मनुष्य बना दिया और मनुष्य रहते हुए—'तमेव विद्वान् अमृत इह भवति'—परमात्मा बना दिया।

दूसरे मजहब मरनेके बाद मनुष्यको परमात्माके पास पहुँचाते हैं, गीताने हमें जीवित अवस्थामें ही परमात्मासे मिला दिया। मनुष्यके लिए इतना उपयोगी उपदेश और दूसरा कोई नहीं है। अर्जुनके माध्यमसे बहुत बढ़िया उपदेश भगवान्ने हम सबके लिए किया। आप देखें—उन्होंने अर्जुनको निकम्मेपनसे माने तमोगुणसे छुड़ाया; निषिद्ध कर्मसे माने रजोगुणी प्रवृत्तिसे छुड़ाया और सकाम कर्मसे छुड़ाया माने कामनासे छुड़ाया; कर्तृत्वके अभिमानसे छुड़ाया और भोक्तृत्वके अभिमानसे भी छुड़ाया और अज्ञानसे तो छुड़ाया ही। बल्कि कृष्णने तो इतना तक कह दिया—'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्' तुम तो मेरे इष्ट हो और 'भक्तोऽसि मे सखा' तुम मेरे सखा हो—अर्जुनको अपने इतने निकट बुला लिया और यहाँतक कह दिया कि देखो, कर तो रहा हूँ मैं, तुम सिर्फ बहाना बन जाओ। कितनी आत्मीयता है, कितनी एकता है !!

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

काम तो किया है मैंने और यश दे रहा हूँ तुमको ! यह मित्रता है। और जिम्मेदारी सारी ले ली अपने ऊपर—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

ऐसा मित्र आपको सृष्टिमें और कोई मिल सकता है ? काम किया हुआ है अपना और यश मिले—अर्जुनको। अर्जुनको यशोदान कर रहे हैं। असलमें, यशस्वी वही होता है जो दूसरेको यश देता है।

•

बनावट छोड़ दीजिये !

प्रश्न : साधक सीधा-सादा, सरल कैसे बन सकता है—कृपया बतलायें !

उत्तर : बस, बननेकी कोशिश मत कीजिये। आपको तो भगवान्‌ने बहुत सीधा-सादा, सरल एक बालकके रूपमें प्रकट किया था, पर आप हैं जो यार-दोस्तोंसे सीख-सीखकर, बन-बनकर, टेढ़े-मेढ़े बन गये। यदि आपको सीधा-सादा, सरल बनना है तो जितना टेढ़ापन आपने दुनियामें लोगोंसे सीखा है, उसको छोड़ दीजिये। आप बिल्कुल सीधे-सादे सरल-तरल हैं। बड़े आनन्दके हैं। असलमें, आपके हृदयमें एक आनन्दका झरना है, उसमें-से आनन्दकी फुहियाँ निकलती रहती हैं; आपके हृदयमें एक आनन्दका बादल है, उससे आनन्दकी वर्षा होती रहती है; आपके हृदयमें एक आनन्दकी नदी है, उसमें आनन्दामृत प्रवाहित होता रहता है। आपके हृदयमें एक आनन्दका समुद्र है, जिसमें आनन्दके ज्वार उठा करते हैं और जो हर समय लहराता रहता है। आप जो हैं सो अपने आनन्दकी ओर ध्यान न देकर और दूसरोंमें आनन्द मानकर उसको पाना चाहते हैं कि हम चतुराईसे, धूर्ततासे भरा हुआ जीवन व्यतीत करेंगे और आनन्दको पा लेंगे। धूर्तताका नाम ही माया है। जिसके जीवनमें धूर्तता है, उसके जीवनमें माया है। असलमें, सीधा और सरल बनना नहीं होता है, जो बनावट हमने ग्रहण कर ली है, उसको छोड़ना होता है। सीधा-सरल तो आपका जीवन है ही।

दूसरी बात यह है कि यदि सचमुच आपको इसका उपाय चाहिए तो आप अपनी 'कम्पनी', अपनी 'सोसायटी'पर ध्यान दीजिये कि आपका उठना-बैठना, मिलना-जुलना, हँसना-खेलना किसके साथ है। अभी कल ही कोई लड़का मुझसे कह रहा था कि महाराजजी, आप तो कहते हैं कि मांस, मदिराका सेवन नहीं करना चाहिए, पर हम जिन लोगोंके साथ 'स्वीमिंग' करनेके लिए जाते हैं—वे सब लोग हमारी हँसी उड़ाते हैं; कहते हैं कि यह तो तुम हिन्दुस्तानियोंकी मूर्खता है, विदेशमें तो सब लोग सब खाते-पीते हैं, भला उनका क्या बिगड़ जाता है ? यह सब बिल्कुल दकियानूसी बातें हैं। मतलब यह कि आपकी जैसी 'सोसायटी' होगी आप वैसे ही बन जायेंगे। हम कई ऐसे लोगोंको जानते हैं जो बिल्कुल

जुआ नहीं खेलते थे, पर जब वे वैसे लोगोंके बीचमें पड़े तो जुआ खेलने लगे—पक्के जुआड़ी बन गये; जो शराबसे दूर भागते थे, वे शराब पीने-वालोंके साथ उठ-बैठकर स्वयं शराब पीने लगे; जो पर-स्त्रीको देखना, छूना बुरा समझते थे, वे परस्त्री-गामी बन गये। इसलिए, यदि आप सीधा-सादा, सरल जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो आप सीधे-सादे, सरल लोगोंका ही सङ्ग कीजिये। आपका सङ्ग अच्छा रहेगा तो आपमें जो बुराइयाँ अभी होंगी, वे भी आप छोड़ सकेंगे—

सरल कोविद कीर्ति बिमल तेहिं आदरे सुजान।

आप जो कुछ कीजिये, सरलतासे कीजिये और ऐसा काम कीजिये, जिसमें कोई मलिनता न हो!

हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब रहते थे, जिनका नाम था—प्रसिद्धनारायण सिंह। वे जिस काममें हाथ डालते उसीमें सफल हो जाते। पहले वे गाजीपुरके चेयरमैन हुए, फिर बनारसके चेयरमैन हुए, फिर विधान-सभाके मेम्बर चुन लिये गये। यह बात मैं आपको सन् ३० की, अंग्रेजोंके जमानेकी बता रहा हूँ, फिर दीवान हो गये। तब मैंने एक दिन उनसे पूछा कि ठाकुर साहब, आप हर काममें सफल हो जाते हैं, इसका रहस्य क्या है? हमसे उम्रमें तो वे बहुत बड़े थे, पर बोलते हमको बाबाजी ही थे। तो बोले—'बाबाजी, जब हम कोई काम करना चाहते हैं तब उसको जाहिर कर देता हूँ कि मैं यह काम करूँगा। तो जो हमसे दुश्मनी रखनेवाले लोग हैं, या जो हमको नीचे गिराना चाहते हैं—वे लोग दाँव-पेच करनेमें लग जाते हैं और मैं अपने घरसे सीधे रास्तेपर चलता हूँ और जहाँ पहुँचना होता है, वहाँ पहुँच जाता हूँ। मैं सीधे रास्तेपर चलता हूँ, सफल होता हूँ और वे मुझको रोकनेके लिए टेढ़े रास्तेपर चलते हैं, वे असफल होते हैं। तो यह सरलता जो है, यह मेरी सफलताका रहस्य है। भाई मेरे—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।

जैसा यह है वैसा ही वचन है और वैसा ही कर्म है—यह महात्माका लक्षण है और 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्'—मनमें कुछ, वचनमें कुछ और कर्ममें कुछ यह दुरात्माका लक्षण है। इसलिए, आप सरलतासे भगवान्पर विश्वास कीजिये। जीवनकी सबसे बड़ी पूँजी यही है। अपनी बुद्धिको टेढ़ी मत बनाइये; धूर्तताके चक्करमें मत फँसिये, सरल-सीधे रास्तेपर चलिये। भगवान् आपके साथ हैं, आप विश्वास

रखिये कि वे आपको रक्षा करेंगे और जहाँ आप रास्ता भूल जायेंगे, वहाँ वे आपको रास्ता बतायेंगे। सुनिये—व्रजमें एक सन्त थे। एक दिन वे गह्वर वनमें चले गये और वहाँ पहुँचकर बैठ गये भजन करने। अब भजनमें मन लग गया और समयका कुछ पता नहीं चला। जब ध्यान टूटा तब अन्धेरा हो चुका था, रात हो गयी थी। अब, घर कैसे लौटें? घनघोर जगल और अन्धकार। तभी एक मोर चलता हुआ दीखा। उसकी पाँख अन्धेरेमें भी चमक रही थी। उन्होंने सोचा—मोरके रूपमें भगवान् आये हैं और मोरके साथ-साथ चल पड़े। मोर उनको बरसाने तक ले आया और फिर गायब हो गया। कुछ समझे! तो भाई, जब सीधा-सरल व्यक्ति रास्ता भूल जाता है, तब, भगवान् स्वयं उसे रास्ता बताते हैं।

अब देखिये, यदि आपको अपनी किसी चीजपर या परायी चीजपर या अपनी बुद्धिपर ही भरोसा न हो तो आप अपनेको ईश्वरके भरोसेपर छोड़ दिजिये, भगवान्की शरणागतिका यही लक्षण है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य तव पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

मैं धर्मनिष्ठ नहीं हूँ, मुझसे बुरे-बुरे काम, पाप होते हैं; मैं आत्मज्ञानी नहीं हूँ। अज्ञानके अन्धकारमें फँस गया हूँ, आपके चरणोंमें मेरी सच्ची भक्ति नहीं है, पर बात यह है कि—'अकिञ्चनः' मैं अकिञ्चन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं पैसेसे रोटी खरीदकर खा लूँ या चार चने भी अपने पैसेसे खरीदकर खा लूँ, तो वह भी मेरे पास नहीं है। मैं बिल्कुल अकिञ्चन हूँ और मुझे किसी भी दूसरी वस्तुका या दूसरे व्यक्तिका कि वह हमारी मदद करेगा, हमको सहारा देगा, कोई भी भरोसा अपने मनमें नहीं है। मैं 'अनन्यगतिः' हूँ। तुम्हारे सिवाय मेरा और कोई नहीं है, मैं तुम्हारे चरणोंकी शरण ग्रहण करता हूँ—

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पादपंकजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥

'तुम हमें चाहे जितना दुत्कारो, अपनी गोदसे उठाकर अलग रख दो या फेंक ही दो—मैं तुम्हारे आँचलकी छाया कभी छोड़नेवाला नहीं हूँ। मेरे मनमें यह कभी आवेगा ही नहीं कि मैं तुम्हें छोड़कर और कहीं जाऊँ!' तब, जैसे नन्हें-से बालकको जब माँ कहती है कि—जा हट जा, दूर हो जा मेरी नजरोंके सामनेसे! फिर भी बालक माँकी गोदमें, उसीके

आँचलमें, अपना सिर छुपा लेता है, वैसे ही, मैं आपकी गोदमें, आपके आँचलमें, आपकी छायामें पड़ गया हूँ—मेरे लिए न कोई हीरा-मोतीका सहारा है और न तो कोई मिनिस्टर हमारा मित्र है, मेरे तो एकमात्र सहारे, एकमात्र मित्र आप हैं।

सच है और तो सब धोखा ही है। काम न हीरा देता है, न मिनिस्टर। काम तो ईश्वर ही देंगे, जो निरन्तर तुम्हारे हृदयमें रहते हैं। सरलताके विषयमें तो उपनिषदोंमें आया है—

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

पण्डिताई छोड़कर बालककी तरह सरल-सरल रहना चाहिए। जैसे बालक सरल-भावसे रहता है—थोड़ी देरमें लड़ाई हुई, तो थोड़ी देरमें ही मित्रता हो गयी; कभी माँसे रुठ गये तो पाँव पटककर ऊँ-ऊँ करने लग गये और कभी जाकर माँसे लिपट गये; कभी नाराज हो गये, तो कभी गुड़की एक डली, नहीं भाई आजकल तो चाकलेटका जमाना है। एक चाकलेट मिल गयी तो ठठाकर हँसने लग गये। ऐसे ही हमें भी सरल-भावसे अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। और इसके लिए सरल लोगोंका सङ्ग करना चाहिए और ईश्वरपर विश्वास रखना चाहिए।

आपने श्रीचितरंजनदासका नाम सुना होगा। सी. आर. दासके नामसे वे विख्यात थे और अपने जमानेमें बहुत बड़े वैरिस्टर! कई बड़ी-बड़ी संस्थाएँ भी उनके नामसे चलीं। वे कहा करते, मैं ईश्वरको नहीं मानता हूँ, मैं नास्तिक हूँ। जिन्दगी भर रहे भी नास्तिक ही। पर अन्त समयमें उन्होंने जो कविता लिखी—लिखी तो उन्होंने बंगलामें थी—पर मैं उसका हिन्दीमें अनुवाद आपको सुना देता हूँ—

चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावे।
बस, मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारों के उपचय में।
बस, प्रभु का विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें॥

चतुराई और चेतना चूल्हेमें जाये और मेरा मन ईश्वरका चरणाश्रय प्राप्त करे और आचार-विचारके जो झगड़े हैं, उनमें आग लग जाये और केवल भगवान्‌का विश्वास हमारे हृदयमें बस जाये! तो, आप भी अपने जीवनमें ईश्वरके प्रति विश्वास भरिये, विश्वास होगा तो आपका जीवन सरल होगा और आपको कोई दाँव-पेंच करनेकी जरूरत नहीं होगी।

•

: ६५ :

प्रशंसकोंसे सावधान !

प्रश्न : तारीफ करना हितकारी है या अहितकारी—कृपया समझायें।

उत्तर : बच्चोंको प्रोत्साहित करनेके लिए तारीफ बहुत हितकारी है। शाबास बेटे, बहुत बढ़िया काम किया! जरूर कहना चाहिए। उनका मन नहीं तोड़ना चाहिए, उनको निराश नहीं करना चाहिए और उनको निरुत्साह नहीं करना चाहिए। उनको तो खूब-खूब उत्साहित करना चाहिए। यह बालकोचित है। उनको आप खूब आगे बढ़ायें, खूब आगे बढ़ायें और आगे बढ़े हुए जो बालक हैं उनकी कथा, उनके चरित्र उनको सुनायें, उनसे कहें कि तुम भी ऐसे बनो, इससे भी आगे बढ़ो।

अब रही बात बड़ोंकी। तो, बम्बईमें आकर मैंने सुना कि चमचे नामकी कोई कौम होती है और उसका काम होता है कि जैसे चम्मचमें-से हम कोई चीज खाते हैं और उसका मजा लेते हैं, वैसे ही ये बाहरी चमचे जो होते हैं, वे बड़े-बड़े अधिकारियों और सेठोंका मजा लेते हैं। उनके आस-पास ही ये मँडराते रहते हैं और यदि आप उनके चक्करमें

पड़ गये तो वे आपको अपना गुलाम बनावेंगे और जो भी काम वे करवाना चाहेंगे, नौकरकी तरह आपसे करवायेंगे।

मैंने स्त्रियोंके लिए भी सुना है कि जो लोग उनसे कहते हैं कि तुम्हीं विश्व-सुन्दरी हो—तुम्हारी नाक, तुम्हारी आँख, तुम्हारे ओंठ, तुम्हारा एक-एक अंग सुन्दर है और जो तुम्हें विश्व-सुन्दरी नहीं मानते हैं, वे मूर्ख हैं—वे स्त्रियाँ उनपर यह सब सुन-सुनकर मुग्ध हो जाती हैं और अपना धर्म-कर्म भी त्याग देती हैं। ऐसे ही मिनिस्टर लोग होते हैं। लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और वे अपने धर्म, न्यायका परित्याग करके उनका पक्षपात करते हैं।

सेठ लोग भी ऐसे ही होते हैं—उनको कुछ दान-पुण्य करना होता है तो उनको ही करते हैं—जो उनकी तारीफ करता है। 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'—अपनी तारीफ सुनकर कौन खुश नहीं होता है!

कुछ लोग हैं जो अपनी तारीफ सुनकर नाचने लगते हैं और कुछ लोग अपनी तारीफ सुनकर अपनी बुद्धि खो बैठते हैं और कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपनी तारीफ सुनकर बेहोश ही हो जाते हैं। असलमें तारीफ-का भी एक नशा होता है और इसको उतारनेका उपाय है—आलोचना।

यदि आपकी कोई सच्ची आलोचना करता है तो वह आपका परम हितैषी है। पर अब तो क्या कहें बाबा—हम तो कभी अपने चेलेको भी उसका कोई दोष बता देते हैं तो वह माननेको तैयार नहीं होता है; सफाई देता है कि हमने तो यह काम इसलिए किया या आपको तो ऐसे ही दोष दीखता है या फिर कहता है कि हमसे अब लोग ज्यादा प्रेम करने लगे हैं तो आपको ईर्ष्या होती है।

चेले भी ऐसा कहने लगे हैं और बाहरसे कोई कभी न भी बोले तो क्या, भीतरसे उनका मन यही बोलता है, लेकिन जबतक गुरु शिष्यका या माँ-बाप अपने बच्चोंका उनके कल्याणके लिए, उनके सुधारके लिए, उनका दोष नहीं बतावेंगे, तब तक उनका कल्याण होगा कैसे? दोष तो बताना ही पड़ेगा। तभी तो सन्त लोग ऐसे बोलते हैं—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी, बिन साबुने निर्मल करै सुभाय॥

एक महात्मा थे। उनका नाम था—श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज। एक सभामें गये। वहाँ सभा-मञ्चपर एक व्यक्ति आया और उसने बताना शुरू किया कि तुम्हारे अन्दर यह दोष है, यह दोष है। सुनते रहे। कोई घण्टा भर बोला होगा! जब वह चुप हो गया तब, ये बोले—'मैं बड़े गौरसे सुन रहा था। जो दोष तुमने मुझमें बताये, वे सब मुझमें हैं—यह बात मैं जानता हूँ। पर, मुझे तो इन्तजार था कि तुम मेरा कोई ऐसा दोष बताओगे जिसे मैं नहीं जानता हूँ, लेकिन तुमने तो कोई नया दोष बताया ही नहीं। सो थोड़ी देर तक और सोच-विचार लो और फिर मुझे बताओ—मेरे अन्दर यह-यह दोष है!'

अब देखो, आपको सफाई बताते हैं—आत्माका स्वरूप जो है वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, निर्दोष है और उसकी छाया अपने अन्तःकरणमें पड़ती रहती है। तो, जब एकाएक कोई अपना दोष बताता है तो हम बिना सोचे-समझे उसको इन्कार कर देते हैं। जैसे, अभी यहीं यदि हम किसीसे पूछें कि क्या तुम सो रहे थे, तो वह झट सीधा हो जावेगा और कहेगा कि नहीं–नहीं मैं नहीं सो रहा था। सोता रहेगा, पर कहेगा कि नहीं सो रहा था।

क्यों आत्माका स्वभाव सोना नहीं है, जागना है—वह तो नित्य जाग्रत है और इसलिए, वह अपने पर सोनेका दोष स्वीकार नहीं करता है। इसी प्रकार, जब कोई इसे आत्माको अशुद्ध या अबुद्ध या नासमझ या बद्ध बोलता है, तब यह एकाएक उसको स्वीकार नहीं करता। तो ऐसा हम अपने आत्मदेवकी छायाके कारण ही करते हैं।

परन्तु यदि हम विवेकपूर्वक अपने जीवनको देखें—अपने हाथको, अपने पाँवको, अपनी आँखको, अपने कानको—तो देखते हैं कि दूसरेका दोष देखने-सुननेमें हमें मजा आता है? तब यह परनिन्दा अपराध क्यों है? अपराध यों है कि हमारी कोई निन्दा करता है तो हमको कैसा लगता है? हमारी कोई आलोचना करता है तो हमको कैसा लगता है? यही कसौटी रखिये ना! जब हम दूसरेकी निन्दा करेंगे अथवा आलोचना करेंगे तो उसको भी वैसा लगेगा, जैसा हमें लगता है। तो—

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

जो अपनेको उल्टा पड़ता हो, अपनेको बुरा लगता हो, वह नहीं करें।

अपनेको गाली बुरी लगती है तो दूसरेको गाली न दें, यह धर्म तो अपने आप निकल आता है।

एक सज्जनको हम जानते हैं—वे नाराज कब होते हैं कि जब उनसे कोई झूठ बोलता है। हमसे झूठ बोला इसने! और उनको झूठ बोलते, एक बार नहीं, कई बार मैंने देखा है। पर यह सही बात नहीं है। सही यह है कि जिससे तुमको तकलीफ होती है, वैसा तुम्हें दूसरेके साथ नहीं करना चाहिए।

अच्छा, देखो एक बात बताते हैं—हम यदि किसीसे कोई बात कहें और वह हमारी बात नहीं माने तो! तो हम उसपर नाराज होते हैं—मैंने कहा और तुमने नहीं माना? उसने वह बात मानी या नहीं मानी—यह मुख्य नहीं रहता, मुख्य हो जाता है—मैंने कहा और नहीं माना। अपने 'मैं' को उसमें डाल देते हैं और फिर दुःखी होते रहते हैं। इसलिए, बहुत सावधान रहकर व्यवहार करना चाहिए।

प्रशंसा करनेवालोंसे बचकर रहना चाहिए। क्योंकि ये प्रशंसा करने-वाले ही ज्यादा करके गलत काम करवाते हैं और आलोचना करनेवाले हमें सही रास्तेपर लाते हैं। आपको क्या सुनाऊँ—ये जो हमारे विरक्त लोग हैं—ये हिमालयमें जाते हैं और वर्षोंतक तपस्या करते हैं। पर जब भगत लोग इनके पास जाते हैं और कहते हैं कि महाराज, आप जैसा तपस्वी तो और कोई है ही नहीं, आप जैसा त्यागी तो और कोई है ही नहीं, आप जैसा वैरागी तो और कोई है ही नहीं—तो सुन-सुनकर वे मुग्ध हो जाते हैं। भगत लोग तो उनके-जैसा बनते नहीं, उनको अपना जैसा बना लेते हैं, उनको ही हिमालयसे उतारकर ले आते हैं। तो प्रशंसा करनेवालोंकी माया ऐसी है—इसलिए इनसे बहुत सावधान रहना चाहिए।

•

: ६६ :

वाणी-दोषसे छूटनेका उपाय

प्रश्न : दोष किसे कहते हैं ? वाणी दोषको कैसे स्वीकार किया जाये और वह फिरसे न हो—इसका उपाय कृपया बतलायें !

उत्तर : दोष वह है जो अपने लिए भी हानिकारक हो और दूसरेके लिए भी हानिकारक हो। जिस भावसे, जिस कर्मसे, जिस वचनसे हम अपने स्वरूपसे जितना दूर पड़ जाते हैं, वह, उतना ही बड़ा दोष हो जाता है अर्थात् दोष बड़ा होता है तब, जब हम आत्मासे दूरकी वस्तुओंके चिन्तनमें, मननमें, स्मरणमें फँस जाते हैं। माने बोलते समय हम सत्यसे जितना दूर होंगे, उतना ही बड़ा दोष होगा और जितना हम आत्मासे निकट होंगे, उतना ही बड़ा वह गुण होगा। लेकिन, मुश्किल तो यह है कि

हम सत्यको जानते ही नहीं हैं; हम तो अपनेको जो अच्छा लगता है, उसीको सत्य मानते हैं; अपना जो रिश्तेदार लगता है उसको सत्य मानते हैं। सत्यसे हमारा प्रेम नहीं है, हमारा प्रेम तो अपनेसे है।

असलमें, जीवके जीवनमें सबसे बड़ी बदकिस्मती ही यह है कि इसका सत्यसे प्रेम नहीं है। यदि सत्यसे इसका प्रेम होता तो सृष्टि सत्य है कि मिथ्या—यह बोलनेमें वह विचार करता। यदि सत्यसे उसका प्रेम होता तो बनानेवाला सत्य है इसका वह विचार करता। यदि सत्यसे उसका प्रेम होता और बोलनेके समय यदि वह निश्चय कर ले कि जो सत्य होगा वही हम बोलेंगे, तो सत्यकी जिज्ञासा हो जाये कि असलमें सत्य है क्या? जो हम बोलने जा रहे हैं। वह सत्य है कि नहीं है? भई, वकील तो अपने मुअक्किलके पक्षकी ही बात करेगा, वह सत्य बात थोड़े ही करेगा? तो ये जितने पन्थ हैं, सब वकीलोंके पन्थ हैं और सब अपने-अपने पन्थकी वकालत करते हैं। जैसे, राजनीतिक नेता प्रायः अपनी-अपनी पार्टीकी वकालत करनेके लिए, वकील ही होते हैं। चरणसिंह, मुरारजी, वाजपेयो सभीको अपने-अपने पक्षमें बहस करनेकी जरूरत पड़ती है और इन सब लोगोंने अपने पन्थका पक्ष लेनेके लिए एक तरहकी वकालत पढ़ रखी है।

अब आप वाणीका दोष देखिये। सत्यमें मूर्खता नहीं होनी चाहिए। मूर्खता और सत्य दोनोंको जब एकमें मिला दोगे तो सत्य छिप जायेगा और मूर्खता रह जायेगी। इसलिए, ध्यान रखना चाहिए कि सत्यमें जड़ता न आये! उपनिषद्में आया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यं।

वहाँ श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजने 'सत्य'का अर्थ किया है कि झूठ बोलना छोड़ दो। माने, जो तुम्हारी नजरमें अथवा जो तुमको झूठ लगता हो, वह छोड़ दो। सत्य तो दीखता नहीं है, सत्यका साक्षात्कार तो हो नहीं रहा है, पर झूठका साक्षात्कार हो रहा है। इसलिए जो तुम्हें झूठ लगता हो, वह छोड़ दो, वह तुम मत बोलो। 'सत्येन लभ्यस्य एष आत्मा'—इसके लिए तपस्या भी करनी पड़े तो करो। अच्छा, और सत्य बोलो तो ऐसा मत बोलो जिससे दूसरेकी हानि हो, दूसरेकी बदनामी हो।

व्याकरणमें लिखा है—'न कानं कानयात इति ब्रूयात्'—कानेको (एक आँखवालेको) काना कहकर नहीं पुकारा जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि वह काना है, पर फिर भी उसको काना कहकर नहीं पुकारना चाहिए; उसको 'एकात्मदर्शी' बोलना चाहिए। ऐसे ही अन्धेको अन्धा नहीं कहना चाहिए, उसको 'सूरदास' कहकर बुलाना चाहिए और बहुत इज्जत करनी हो तो 'प्रज्ञाचक्षु' कहकर बुलाओ। प्रज्ञाचक्षुका अर्थ भी अन्धा ही होता है, पर इसका अर्थ यह भी होता है—जिसके बुद्धिकी आँख है, बाहरी आँख नहीं है। इससे वे अपने आपको सम्मानित समझेंगे। ऐसे ही किसी कुँआरी कन्याको गर्भ रह जाये तो सड़कपर बुलाकर उसको डाँटना-फटकारना सत्य होनेपर भी नहीं करना चाहिए। मनुजीने नियम कर दिया—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः॥

सत्य बोलो और प्रिय बोलो। ऐसा नहीं कि जैसे एक साधु गया किसीके घरपर। वहाँ जाकर उसने घरकी मालकिनसे पूछा—'ऐ बुढ़िया, तेरा खसम कहाँ है? स्त्री बहुत नाराज हुई, 'मैं बुढ़िया हो गयी तेरे लिए और मेरे पतिको गाली देता है!' तो ऐसे नहीं बोलना चाहिए। प्रिय सत्य बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। लेकिन प्रिय बनानेके लिए झूठ भी नहीं बोलना चाहिए—यह सनातन धर्म है।

सत्यं हितं मितं ब्रूयाद् अविसंवादि पेशलम्।

ऐसी बात बोलनी चाहिए जो सत्य हो और जो दूसरेके लिए और अपने लिए भी हितकारी हो। और जो बात कहनी हो, वह थोड़ेमें, मितं—कहनी चाहिए। नपे-तुले शब्दोंमें बहुत विस्तार नहीं करना चाहिए। और समझो, कहीं किसीके घरमें, कहीं विदेशमें कोई मर गया हो और तुम्हें खबर मिल गयी है तो दौड़कर यह खबर नहीं पहुँचानी चाहिए। जब खा-पी लें, घण्टे-दो घण्टे बाद यह खबर दोगे तो दो घण्टे दुःख कम होगा। कहनेका मतलब यह कि दुःखकी खबर जल्दी पहुँचानेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए और कोई सुखकी खबर हो तो उसे जल्दी-से-जल्दी पहुँचाना चाहिए खबर मिलनेसे उसका सुख बढ़ जायेगा। बहुत नहीं बोलना चाहिए, इससे अपने मनकी छिपी वासनाएँ उभर आती हैं और फिर वे बोली जाती हैं। इसके अलावा, यदि कोई अपने बहू-बेटेको चर्चा

कर रहा हो तो उसमें अपने बेटे-बहूकी चर्चा नहीं जोड़नी चाहिए, धैर्य-पूर्वक उसकी सुन लेनी चाहिए और यदि कोई सुखकी चर्चा कर रहा हो तो उसमें अपने दुःखकी चर्चा भी नहीं करनी चाहिए। विवाहमें, उत्सवमें, मरनेकी बात नहीं करनी चाहिए। यह अमङ्गल है और जब अमङ्गलमें शामिल होते हैं, तब अपने सुखकी बात नहीं करनी चाहिए। यह वाणीका दोष है।

इस सम्बन्धमें आप भागवतका वह प्रसंग देखिये जब नन्दबाबा और वसुदेवजीका मिलन होता है। कितना आनन्ददायक प्रसंग है, वसुदेव अपने दुःखकी चर्चा नहीं करते हैं। नन्दबाबाके सुखकी चर्चा करते हैं और नन्दबाबा अपने सुखकी चर्चा नहीं करते हैं, वसुदेवके दुःखकी चर्चा करते हैं। तो बोलनेमें इनका ध्यान रखना चाहिए। सत्य हो, हित हो मित हो, प्रिय हो और अवसरोचित हो, समयसे बोला जाये। एक महात्माने मुझे बताया था (मैंने वैसा कभी किया तो नहीं, पर, अच्छी बात है इसलिए आपको बता देता हूँ। उस समय मैं गायत्रीका अनुष्ठान किया करता था) कि कोई बात कहनी हो तो पहले मन-ही-मन उसको तीन बार बोल लो कि यह बोलना उचित है या नहीं और फिर उचित-अनुचितका बिचार करके बोलो।

इसके अलावा, वाणीके दोषके निवारणके लिए यदि आप मन-ही-मन जप करते रहें और सोचें कि हम कुछ बोलेंगे तो जप छूट जायेगा, तो आपका बोलना कम हो जायेगा। आप सब काम करते रहिये, चलते-फिरते रहिये, खाते-पीते रहिये और मन-ही-मन भगवान्‌का नाम जपते रहिये। जप बहुत महत्त्वपूर्ण है, आप दुनियादारीकी बात करेंगे तो वह छूट जायेगा; अपने घरकी या दूसरेके घरकी चर्चा करेंगे तो वह छूट जायेगा। इनसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है भगवान्‌का नाम। और हाँ, यदि आप जप नहीं करना चाहें तो कोई पाठ करते रहिये, जो भी आपको याद हो; क्योंकि जीभ जो है, सो वगैर बोले मानती नहीं है, कुछ-न-कुछ बोलती ही रहती है, तो क्यों नहीं इसको अच्छे काममें, जपमें, पाठमें लगाकर रखा जाये ?

वाणीका एक दोष और भी है, वह यह कि यदि बात कर रहे हैं एक आदमीसे और बोल रहे हैं इतने ऊँचे स्वरसे कि १००-५० आदमी सुन सकें और बात कर रहे हैं २५-५० से और बोल रहे हैं एकदम धीमे

स्वरमें, तो यह वाणीका दोष है। स्वर धीमा हो या जोरका सुननेवालोंके हिसाबसे होना चाहिए। एक बात और भी है, बोलनेकी रफ्तार इतनी तेज न हो कि कही गयी बात ग्रहण ही न कर सकें अथवा बोलनेकी रफ्तार इतनी धीरे न हो कि सुननेवालेको ग्रहण करनेके लिए रुकना पड़े, दोनों ही दोष हैं। इस तरह हमें वाणीके दोषोंकी निवृत्तिके लिए सावधान रहना चाहिए।

हम लोगोंको बात करते हुए देखते हैं। महात्माओंको भी देखते हैं और सभ्य-शिष्ट पुरुषोंको, राजा-महाराजाओंको भी देखते हैं। इतना कम और शिष्टतासे बात करते हैं कि आपको क्या बतावें? एक बार एक ठाकुर साहब थे—उनके यहाँ मैं बैठा हुआ था, यह कोई ४०-४२ वर्ष पहलेकी बात होगी। तो, उनके सामने एक पात्र रखा हुआ था। तभी कोई आदमी आया और उसको उठाकर ले गया। वे समझ गये कि यह कोई अच्छा आदमी नहीं है, पर उसको कुछ बोले नहीं। जब मैनेजर आया तब उसको बोले कि अमुक चीज कहाँ है, उसका पता लगाओ। यह नहीं बताया कि यहाँ रखी थी और कोई उठाकर ले गया। बस, बोले—पता लगाओ। तो शिष्ट-पुरुष किस ढङ्गसे बात करते हैं, यह सीखनेकी बात है।

एकके घरमें मैंने देखा कि बच्चेको हँसना तो आवे और रोना बिल्कुल न आवे। उसके घरमें उसके सामने कभी कोई रोया ही नहीं, तो उसको रोना आये कहाँसे? बस, कभी ऊँ-ऊँ-ऊँ कर लेता था, उतना ही जितना जन्मते समय रोया था। एक बच्चेको मैंने देखा कि झटपट गाली देने लगता, लड़ाई करने लगता। कभी माँ भी कहती कि लड़ मत, तो कहता कि तुम भी तो पिताजीसे लड़ती हो।

तो बाबा, सावधान!! वाणीका दोष संक्रामक दोष है। अब हमको भी जो साधु लोग व्याख्यान देते देखते हैं तो यही सोचते हैं कि हम भी व्याख्यान देने लग जायेंगे तो बड़े महात्मा हो जायेंगे। पर, व्याख्यान देनेसे ही कोई महात्मा नहीं हो जाता। व्याख्यानदाता होना दूसरी बात है और महात्मा होना दूसरी बात है!



: ६७ :

आप अच्छे रास्तेपर चलिये !

प्रश्न : मनके अन्दर बहुत-सी वासनाएँ और मैल भरा हुआ दीखता है और उसमेंसे निकलनेका प्रयत्न भी करते हैं, पर सफलता नहीं मिलती। ये वासनाएँ और मैल कैसे समाप्त हों—कृपया इसपर प्रकाश डालें।

उत्तर : मनके अन्दर जो वासनाएँ उठती हैं, उनका बीज मनमें पहले से ही मौजूद रहता है—कुछ पूर्वजन्मका, कुछ इस जन्मका, कुछ माता-पिताका, कुछ सङ्गी-साथीका और कुछ नाना-नानी, दादा-दादीके परिवारका रहता है। अन्तःकरणमें अच्छी और बुरी दोनों ही तरहकी वासनाएँ रहती हैं। आधुनिक मनोविज्ञानके अनुसार केवल बुरी वासनाएँ स्वाभाविक रहती हैं और हमारे प्राचीन शास्त्रीय विज्ञानके अनुसार अच्छी और बुरी दोनों स्वाभाविक रहती हैं। यह वासनाकी नदी कभी अच्छे रास्तेसे चलती है और कभी बुरे रास्तेसे चलती है। परन्तु हमें—

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया सदा पथि।

पौरुष प्रयत्नके द्वारा, माने यत्न करके इसको अच्छे रास्तेपर चलाना चाहिए। क्योंकि जब आदमी बुरे रास्तेसे ले जानेवाली वासनाओंको सहयोग देता है और उनको दुःखदायक नहीं समझकर सुखदायक समझता है, तब वे बढ़ती जाती हैं और आदमीको गिराती जाती हैं। इसलिए, हमें इससे बचनेका प्रयास करना चाहिए।

अब ऐसा है कि वासनाओंसे बचनेका पहला प्रयास तो यह है कि यदि आपने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि आप बुरी वासनाओंको पूरी नहीं करेंगे। आप जानते हैं कि पर-स्त्रीका स्पर्श बुरा है, पर-धन बुरा है, हिंसा बुरी है तो अपने मनमें दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये कि हम इस रास्ते पर नहीं चलेंगे। हाथ-से-हाथ, मुट्ठी-से-मुट्ठी और 'दन्तैर्दन्तान्'–दाँत-से-दाँत दबाकर यह प्रयत्न कीजिये कि हम इस वासनाके मार्गमें नहीं जायेंगे, क्योंकि इसका कोई अन्त नहीं है। यह वासनाकी नदी जब नीचेकी ओर बहने लगती है, तब कहाँतक नीचे ले जायेगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। इस सम्बन्धमें भर्तृहरिका एक श्लोक है—

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
गिरीन्द्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।

भगवान्के चरणोंसे गंगाजी गिरती हैं, तो वे ब्रह्माके कमण्डलुमें आती हैं; वहाँसे गिरती हैं तो शङ्करजीके सिरपर आती हैं; वहाँसे गिरती हैं तो पहाड़पर आती हैं; वहाँसे गिरती हैं तो समतलपर आती हैं और वहाँसे गिरती हैं तो खारे समुद्रमें जा पहुँचती हैं।

अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

इस तरह जब आदमी विवेकका मार्ग छोड़कर वासनाके मार्गपर चलने लगता है, तब वह सौ-सौ बार गिरता है, गिरता ही जाता है। उसके उठनेका कोई अवसर (मार्ग) नहीं रहता और गिरनेके अवसर सब होते हैं। यदि आप ऐसा सोचते हों कि कहीं भागकर इससे बच सकेंगे तो आप भागकर इससे नहीं बच सकते। क्योंकि, हिमालयमें भी स्त्रियाँ रहती हैं, वहाँ भी चोरी करनेके स्थान मिलते हैं, वहाँ भी हिंसा करनेकी वृत्ति होती है। अतः यदि आप इनसे बचना चाहते हैं तो अपने हृदयमें ही इनसे बच सकते हैं।

इसलिए दृढ़ निश्चय करें कि हम वासनापूर्त्तिके मार्गपर नहीं जायेंगे। अपने कलेजेपर हाथ रखकर, ईमानदारीसे मनमें सोचिये कि जब आपकी वासना पूरी होती है तब आप अपनेको सुखी अनुभव करते हैं या कि जब आपकी वासना मिटती है तब आप अपनेको सुखी अनुभव करते हैं? आपकी वासनाके अनुकूल जो स्थान है, जो व्यक्ति है, जो वस्तु है—

उससे मिलकर आप सुखी होते हैं कि उससे दूर रहकर आप सुखी होते हैं ? अपने मनको जरा तौलिये तो !

दूसरी बात यह है कि वासनापूर्तिके मार्गपर जो लोग चल रहे हैं, उनका संग आप मत कीजिये ।

तीसरी बात यह है कि ऐसा विचार मत कीजिये कि ये वासना पूरी करनेवाले लोग सुखी हैं । वे सुखी नहीं हैं, बहुत दुःखी हैं । आपको क्या-क्या सुनायें ? बड़े घरानेकी एक स्त्री एक दिन भाईजी, हनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास आकर रोने लगी—अपने भाईके लिए । भाईजीने कहा कि तुम्हारा भाई तो इतना धर्मात्मा है, इतना कीर्त्तन करता है, लोगोंकी मदद करता है, दान करता है—फिर तुम उसके लिए क्यों रो रही हो ? वह बोली—'सब कुछ ठीक है, पर उसको रोज एक नयी लड़की चाहिए ।'

एक दिन परमहंस राम-कृष्ण रोने लगे ! क्यों रोने लगे ? एक बड़ी भारी मण्डली कीर्तन करते हुए, ढोल-मृदङ्ग बजाते हुए, नाचते हुए जा रही थी—उसे देखते ही परमहंस व्याकुल हो गये और रोने लगे । लोगोंने पूछा—महाशय, आप व्याकुल हो रहे हैं ? क्यों रो रहे हैं ? वे बोले—'ये जो लोग कीर्तन करते हुए जा रहे हैं, इसमें प्रायः डाकू, चोर, लुटेरे लोग हैं, जो जाकर आधी राततक कीर्तन करेंगे और फिर जब बाहरसे आये लोग चले जायेंगे तब योजना बनाकर कहीं चोरी करेंगे, कहीं डाका डालेंगे ।

निष्कर्ष क्या निकला ? इस सूक्ष्म वासनासे आप बहुत सावधान रहें । यह कब, किसको, कहाँ-से-कहाँ पटक देती है, इसका कुछ ठीक नहीं है । और वासनापूर्तिसे यदि आपको सुख मिलता है तो आप गलत रास्ते-पर जा रहे हैं और वासना निवृत्तिसे यदि आपको सुख मिलता है तो आप सही रास्तेपर हो सकते हैं । मीठी बातें सुनकर, सुन्दर-रूप देखकर आँखका नाचना, भौंहका हिलना और होठोंका फड़कना देखकर, यदि आपका मन विकृत हो जाता है तो आप अपने मनको ऐसी संगतिसे बचाकर रखिये ।

चौथी बात है—भोजनमें पवित्रता लाइये ।

पाँचवीं बात—पवित्र स्थानमें रहिये ।

छठी बात है—समय व्यर्थ—निकम्मा मत गँवाइये। अपने समयको भर लीजिये। मैं एक माताको जानता हूँ—उसके जीवनमें कभी निकम्मे रहनेका काम ही नहीं है। वह हर समय जीभसे भगवान्का नाम लेती है और हाथसे कभी गरीबोंको बाँटनेके लिए रोटी बनाती है, तो कभी स्वेटर-कम्बल बुनती है। उसके हाथ कभी खाली नहीं रहते, उसकी जीभ कभी खाली नहीं रहती। आप भी यदि अपनेको वासनाओंके वेगसे बचाना चाहते हैं तो सद्भावनाएँ पालिये।

सातवीं बात है—आप भगवान्की पूजा कीजिये। यदि वेदान्ती आपकी हँसी उड़ायें, आर्य समाजी आपको मूढ़ कहें और मुसलमान आपको बुत-परस्त कहें—तो कहने दीजिये। आप अपना समय भगवान्की पूजामें बिताइये; भगवान्का नाम लीजिये और अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंका पाठ कीजिये।

बुद्धिसे वासनाओंको अच्छी अथवा सुख देनेवाली मत समझिये। महाभारतमें यज्ञोपाख्यान नामकी एक कथा है—एक सज्जन थे। उनके मनमें धनकी बड़ी भारी वासना थी—उनको धन मिले। इसके लिए उन्होंने एक यक्षकी उपासना की। यक्ष लोग धनके मालिक होते हैं। यक्ष प्रकट हुआ। उसने कहा—मैं तुमको धन तो दे सकता हूँ, तुम्हारा विवाह भी करा सकता हूँ, परन्तु, सुख नहीं दे सकता—धनमें सुख नहीं है, इसलिए तुम धन मत चाहो! मेरे उपासक होकर, मेरे प्रेमी होकर धन चाहते हो, स्त्री चाहते हो तो यह मेरे लिए बदनामीकी बात है। मेरे कारण तुम ऐसे बुरे चक्करमें फँस जाओ, इससे तुम अपनी ही नहीं मेरी भी बदनामी करवा रहे हो। नहीं माना ब्राह्मण। एक बार, दो बार, तीन बार। यक्ष विचारेको तो उपासनाके वशीभूत होकर आना ही पड़े। अन्तमें यक्षने कहा—चलो, हम तुमको एक जगह सैरके लिए ले चलते हैं और वह उसको नरकमें ले गया। नरकमें तो बहुत-से जीव डूब-उतरा रहे थे, हाय-हाय चिल्ला रहे थे।

यक्षने बताना शुरू किया—देखो, पहचानते हो वह कौन है? वह दुनियाका राजा है, जो अपनी वासनाके कारण नरकमें पड़ा हुआ है, वह फलाँ सेठ है, जो दुनियामें बहुत मशहूर था, वह फलाँ नेता है, वह फलाँ मन्त्री है, वह फलाँ पण्डित है—बताता गया।

ब्राह्मणने देखा कि उन सभीको काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि शत्रु घेरकर खड़े हैं। सबकी विकट स्थिति देखकर ब्राह्मण-देवताने धनकी रट छोड़ दी और यक्षको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बोले—'महाराज, आपने बड़ा ही अनुग्रह किया जो मुझे इस लोभमें फँसनेसे बचा लिया। यह सुनकर यक्षने प्रसन्न हो उसे हृदयसे लगा लिया और फिर अन्तर्धान हो गया।

देखो, जहाँ एक ओर यक्षने ब्राह्मणको धनके लोभसे बचाया, वहाँ दूसरी ओर उसे धर्मके मार्गमें तत्पर भी किया। यक्षके कृपा-प्रसादसे ब्राह्मणने घोर तपस्या की, जिसके फलस्वरूप उसे आकाश-मार्गसे चलना, संकल्प मात्रसे ही अभीष्ट वस्तुका प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योगके द्वारा जो परमगति प्राप्त होती है—वह सब कुछ प्राप्त हो गया। तो 'धर्मे तु परमं सुखम्'—वासनाकी निवृत्तिके लिए पहले अपनेको धर्मके बन्धनमें बाँधो।—पत्नीके सिवाय दूसरी कोई स्त्री न हो; कमाईके सिवाय दूसरा धन न हो—जो अपनी कमाईका है वही अपना धन है और रातभरमें करोड़पति बननेकी कोशिश मत करो।

एक सच्ची बात सुनाता हूँ—दो सेठ थे, एक बम्बईके और एक कलकत्तेके। उन दोनोंने अबसे करीब पचास वर्ष पहले एक योजना बनायी—एक करोड़ रुपये इकट्ठे करके दो-तीन मोटरें (उन दिनोंमें दश-दश हजारमें आती थीं) और एक, दो बस लेकर और उनमें बड़े-बड़े विद्वानों-महात्माओंको लेकर और रसोइये, नौकर, प्रचारक—सबोंको लेकर सारे देश घूमेंगे और सनातन धर्मका प्रचार करेंगे।

लेकिन सट्टेसे जो एक करोड़ रुपये कमानेकी योजना थी—वह पचास, पचपन लाख तक तो पहुँची, पर फिर उसके बाद एक दिन ऐसा आया कि वह तो गया ही, घरके मकान भी गिरवी रखने पड़े। इसलिए, भाई मेरे! जो भी धन कमायें, परिश्रमसे कमाइये। जो धन बिना परिश्रमके आता है, वह पचनेमें बहुत कष्ट देता है। सम्भवतः डाक्टरोंको देना पड़े, बहुत दवा करनी पड़े, पुलिसको बहुत देना पड़े, चोरी हो जाये, बेइमानीमें बहुत जाये, पर-स्त्री चूस ले जाये, आपके साथ विश्वासघात हो जाये। अतः सावधान!

एक बात आप और नोट कर लें—प्रसङ्गकी तो नहीं है, पर कह देता हूँ कि जो व्यक्ति किसी भी दूसरेसे प्रेम करता है, उसके फन्देमें आप

मत फँसिये। वह एक दिन अपने प्रेमीके लिए आपको धोखा दे सकता है, आपसे विश्वासघात कर सकता है, यहाँ तक कि आपको मार भी सकता है। जो स्वयं दूसरेके मोहके चक्करमें फँसा हुआ है और आपके साथ दोस्तीका दावा रखता है, उसका कोई विश्वास नहीं है; वह आपको कब छोड़ देगा। इसका भी कुछ ठिकाना नहीं है।

हम यहाँके ही कितने लोगोंकी बात जानते हैं, जिन्होंने सिने स्टारके चक्करमें पड़कर अपनी पतिव्रता पत्नियोंका तिरस्कार कर दिया और अन्तमें वे उनकी प्रेमिका उनको धोखा देकर चली गयीं। यह वासना वेश्या है, यह आपको धोखा देगी। अतः आप सावधान रहिये, अपनेको धर्मके बन्धनमें बाँधिये, भगवान्‌की प्रार्थना कीजिये और संसारकी जो गति है, उसको निर्विकार भावसे देखते चलिये!

वासनाएँ अच्छे रास्ते पर ले चलनेके लिए हैं, बुरे रास्ते पर ले चलनेके लिए नहीं। आप अच्छे रास्ते पर चलिये। अपने धर्मके अनुरूप चलिये। ब्रह्मचारी-धर्मके अनुरूप चलिये, गृहस्थ-धर्मके अनुरूप चलिये, वानप्रस्थ-धर्मके अनुरूप चलिये और यदि आप संन्यासी हैं तो संन्यासी-धर्मके अनुरूप चलिये। तो—

जो हठ राखै धर्म को तेहि राखै करतार।

जब आप अपने धर्मकी रक्षा करेंगे, तब भगवान् आपकी रक्षा करेंगे। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—आप धर्मकी रक्षा करेंगे और धर्म आपकी रक्षा करेगा। वासनाओंको बुद्धिसे समर्थन मत दीजिये और आचरण तक उनको जाने मत दीजिये। ये सपनेकी तरह आयेंगी और चली जायेंगी। इनका आना बुरा नहीं है, इनके अनुसार आचरण करना बुरा है। रास्तेमें चलते हुए गिरना अपराध नहीं है। पर, गिरकर न उठना और उठकर आगे न बढ़ना अपराध है।

•

: ६८ :

भगवान्‌को अपना रिश्तेदार बनाइये !

प्रश्न : गृहस्थाश्रममें रहते हुए ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, कृपया समझाइये।

उत्तर : गृहस्थाश्रम, ईश्वरको बहुत प्यारा है, क्योंकि यदि गृहस्थाश्रम न हो तो ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी—ये पैदा ही न हों, एक बात। और दूसरी बात यह कि यदि पैदा पहलेसे हों तो भी इनको खानेको रोटी कहाँसे मिलेगी ? इसलिए, गृहस्थाश्रम जो है वह सब आश्रमोंका मूल है, जड़ है। इसीमें-से सब आश्रम निकलते हैं और यही सब आश्रमोंका पालन-पोषण करता है। बात असलमें यह है कि जब ब्रह्मसे अकेले नहीं रहा जाता, गृहस्थ बने बिना नहीं रहा जाता, तब वह मायासे शादी करके ईश्वर बनता है और फिर लक्ष्मी-नारायणके रूपमें गृहस्थ होता है; गौरी-शंकरके रूपमें गृहस्थ होता है; सावित्री-ब्रह्माके रूपमें गृहस्थ

होता है। फिर रामावतार लेता है, कृष्णावतार लेता है और कृष्णावतार लेकर तो कहता है कि हमको एक पत्नीसे सन्तोष ही नहीं है, हम तो हजारों पत्नी रखेंगे और रखता है तथा बड़ा भारी तरह-तरहका गृहस्थाश्रम चलाता है। तो, गृहस्थाश्रममें ईश्वरकी प्राप्ति होती है—यह विश्वास आप अपने मनमें अच्छी तरह जमा लीजिये। यदि ईश्वर ही गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें भेद करेगा तो उसके मनमें भी राग-द्वेष और पक्षपात है—यह बात माननी पड़ेगी। इसीसे उपनिषद्में याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।

जनक, तुम्हें अभयपदकी प्राप्ति हो गयी है अर्थात् तुम्हें तत्त्वज्ञान हो गया है। तो तत्त्वज्ञान होनेमें या ईश्वरकी प्राप्ति होनेमें—गृहस्थाश्रमसे किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। नरसी मेहताको ईश्वरकी प्राप्ति हुई थी, आप मानते हैं कि नहीं? सन्त तुकारामको ईश्वरकी प्राप्ति हुई थी, आप मानते हैं कि नहीं? जना बाई, सखु बाई, चोखा मेला, दामू कहार इनको ईश्वरकी प्राप्ति हुई, यह आप मानते हैं कि नहीं? तो भगवान्की प्राप्ति, गृहस्थाश्रममें होती है और खूब होती है।

अब यह है कि गृहस्थाश्रममें आपका जो प्रेम है वह बहुत बँट गया है। थोड़ा इससे, थोड़ा उससे और सबसे अधिक तो अपने शरीरसे हो गया है। यह आप मत कहना कि अपने परिवारके लिए हम अपनी बलि देनेको तैयार हैं। वह तो आवेशमें आकर आप भले ही अपनी बलि दे दें, होश-हवाशमें तो नहीं दे सकते, क्योंकि परिवारका सारा ही सम्बन्ध इस शरीरके साथ है। तो, आप प्रेम सबसे कीजिये, इसमें कोई बाधा नहीं है; पर ईश्वरकी महिमाका ज्ञान आपको होना चाहिए और उससे होना चाहिए आपका स्नेह, सुदृढ़ और सर्वतोधिक। श्री वल्लभाचार्यजी महाराजने पुराणका यह श्लोक उद्धृत किया है—

अन्याभिलाषया शून्यः सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति ख्यातः ....

संसारमें और सबसे जितना प्रेम है उससे अधिक और दृढ़ प्रेम ईश्वरके साथ होना चाहिए।

तत्त्वज्ञानी लोग भी कहते हैं—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य—.....................

जैसे आप अपने देहको आत्मा समझते हैं वैसे ही आप ब्रह्मको अपना आत्मा समझिये। आप जितना प्रेम अपने शरीरसे करते हैं, कम-से-कम उतना ही प्रेम आप भगवान्से कीजिये। भगवान्के लिए चलिये, परिक्रमा कीजिये, तीर्थयात्रा कीजिये; भगवान्के लिए हाथसे कोई काम कीजिये, सेवा कीजिये; जीभसे भगवान्का नाम बारम्बार लीजिये; कानसे भगवान्का नाम सुनिये—चाहे ठुमरीमें हो, चाहे दादरामें हो, चाहे ध्रुपद-धुमारमें हो, चाहे गजल हो, चाहे कव्वाली हो। आँख दीजिये भगवान्को। भगवान्की मूर्तिका, भगवान्के भक्तोंका दर्शन कीजिये। नाक दीजिये भगवान्को। उनकी चढ़ायी हुई तुलसीकी सुगन्ध सूँघिये। भगवान्को जो भोग लगा है, वह प्रसाद खाइये और जो भगवान्को भोग न लगाया जा सके, वह मत खाइये !

आप तो किसका-किसका जूठा खाते हैं—हमने कई बार देखा है और एक बार कानपुरमें तो छिपकर देखा। रीट्रीटमें हमको श्रीपदमपतजी सिंहानियाने शीशेके कमरेमें बैठा दिया और बाहर उठाओ-खाओवाली पार्टी चल रही थी। सबलोग घूमते जायें, उठाते जायें और खाते जायें—सबका जूठा नहीं हुआ क्या ? इसी तरह मारवाड़ियोंके यहाँ सजनगोठ नामका भोज होता है—बस, कुछ पूछो ही मत। ऐसे ही देश-विदेशमें, होटलमें, रेलवेमें—सब जगह बचा-खुचा जूठा मिला देते हैं और वही आपको खानेको, पीनेको दे देते हैं। तो, आप अपनी जीभको पवित्र रक्खें, ऐसी चीज खायें-पीयें जिसका भगवान्को भोग लग सकता हो और आप ऐसे काम कीजिये, जिसे देखकर भगवान्को प्रसन्नता हो। ये जो बड़े-बड़े सत्सङ्ग-भवन हैं—वेदान्त-सत्सङ्ग-मण्डल, स्वामी प्रेमपुरी अध्यात्मविद्या-भवन और भी जो सत्सङ्ग-भवन हैं—जरा उनमें जाकर बैठिये, थोड़ी धक्का-मुक्की सहिये, थोड़ी गर्मी सहिये—सहन करनेकी थोड़ी आदत डालिये और कोई जोरसे बोले तो उसको भी सुन लीजिये, सह लीजिये और कोई धीरेसे बोले तो उसमें भी कान लगा दीजिये, मन लगा लीजिये।

भगवान् तो गृहस्थाश्रममें आनेके लिए तैयार हैं, आपका बेटा बननेके लिए तैयार हैं, आपका भाई बननेको तैयार हैं, आपके पति बननेको

तैयार हैं, आपके माता-पिता बननेको तैयार हैं, आपके सगे-सम्बन्धी बननेको तैयार हैं—आप उन्हें बुलाइये तो ! गृहस्थाश्रम असलमें भगवान्को बहुत प्यारा है ! आप निराश मत होइये, उदास मत होइये। आशा बनाये रखिये और अपने जीवनकी दिशा भगवान्की ओर मोड़िये। यहाँ तक कि जब आप लघुशङ्का-शौच भी जायें तो उसमें भी यह ख्याल रखिये कि इनसे निवृत्त होकर, निश्चिन्त होकर भगवान्का स्मरण और अपने कर्त्तव्यका पालन करेंगे।

अच्छा, महाराष्ट्रके लोगोंके लिए तो यह बात अनजानी नहीं है कि पुण्डरीक भक्तको भगवान् दर्शन देनेके लिए आये। भक्त पुण्डरीक अपने माता-पिताकी बहुत सेवा करते थे। एक दिन पिताजी सोये हुए थे और पुण्डरीक उनका पाँव दबा रहे थे। तभी भगवान् आये, उनको दर्शन देनेके लिए। बोले—'पुण्डरीक, मेरा दर्शन करो !' पुण्डरीकने इशारा किया—'बोलो मत, पिताजी सोये हुए हैं, उनकी नींद टूट जायेगी।' थोड़ी देर भगवान् खड़े रहे। फिर बोले—'मैं कब तक खड़ा रहूँगा ?' तो उसने बैठे-बैठे ही एक ईंट दे दी—'इस पर बैठ जाओ।' भगवान् बोले—'अच्छा, अब मेरी ओर देख तो सही, मुझसे बात तो कर, नहीं तो फिर मैं चला जाऊँगा।' बोले पुण्डरीक कि 'जिस सेवासे प्रसन्न होकर आप मेरे पास आये हैं यदि वह मेरे पास बनी रहेगी तो आप फिर आयेंगे !' भगवान् बैठे रहे।

श्रीवल्लभाचार्यजीसे कह दिया भगवान्ने—व्याह कर लो ! 'अरे महाराज, मैं व्याह कैसे करूँ ?' बोले कि तुम व्याह करो, मैं तुम्हारा बेटा बनकर आऊँगा। 'महाराज, फिर ?' 'फिर बेटा बनकर आऊँगा।' 'फिर ?' 'फिर बेटा बनकर आऊँगा, सात बार तुम्हारा बेटा बनकर आऊँगा और तुम मुझे वात्सल्यसे, स्नेहसे खूब प्यार करना, मुझे गोदमें लेना, चूमना, मेरे बाल सँवारना, मुझे तिलक लगाना, माला पहनाना—मैं तुम्हारा बेटा बनकर आऊँगा !'

असलमें, भगवान्को ब्रह्मरूपमें तो कोई सुख है ही नहीं। ब्रह्मके तो न माँ है न बाप; न भाई है न बहन; न पत्नी है न कोई मित्र। बेचारा ब्रह्म बिल्कुल अनाथ, अललटप्पू, अकेला रहता है। इसलिए, वह तो गृहस्थ होनेके लिए हमेशा ही तैयार रहता है—आप उसे गृहस्थ बनाइये तो ! अपने घरमें बुलाइये, अपना कोई रिश्तेदार बनाइये तो !! ●

: ६९ :

प्रश्न : 'वासुदेव, सर्वमिति' या 'इदं सर्वं ब्रह्म'की भावनासे प्रभु-प्राप्ति उत्तम है या नहीं ? कृपया समझायें !

उत्तर : पूछनेवालेके बारेमें पता होता कि वह 'ब्रह्म' और 'वासुदेव' शब्दका अर्थ एक समझता है या अलग-अलग समझता है तो उत्तर देनेमें सहूलियत होती। वैसे ब्रह्म और वासुदेव शब्दका अर्थ एक ही है, चाहे 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' कहो चाहे 'वासुदेवः सर्वम्' कहो, कोई फर्क नहीं पड़ता है।

अब यह है कि आप 'रामचरित-मानस'में देखें कि स्वायम्भू मनु और शतरूपा वासुदेव मन्त्रका जप, द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते हैं—

द्वादस अच्छर मन्त्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग॥

दोनों श्रेष्ठ वासुदेव मन्त्रका जप करते थे और दोनोंका मन भगवान्‌के पद-पंकजमें अत्यन्त लग गया था। उन्हें इस मन्त्रके जपसे श्रीसीता-रामके दर्शन हुए। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके दर्शनको तो उन्होंने कुछ माना ही नहीं—

विधि हरि-हर तप देखि अपारा।
मनु समीप आए बहुबारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाए।
परम धीर नहि चलत चलाए॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो उन्हें विचलित करना चाहते थे, पर वे द्वादशाक्षर मन्त्रके जपमें दृढ़ रहे। समझो कोई कहे कि वह दूसरा मन्त्र होगा तो नहीं लिखा ही है—'वासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग'—वासुदेव मन्त्र ही था वह। अर्थात् वासुदेव कोई ऐसी वस्तु है जो राधा-कृष्ण भी है, सीता-राम भी है, गौरी-शंकर भी है, जो माँ भी है, देवी, और पिता भी है, शिव, और पुत्र भी है। गणेश जिसका नाम है वासुदेव। और देखें—विष्णु-पुराणमें दो जगह वासुदेव शब्दकी व्युत्पत्ति दी हुई है। 'वसत्यस्मिन् जगत् सर्वं'—जिसमें सारे जगतका निवास है, उसका नाम वासुदेव है। 'ईशावास्यं', 'आत्मावास्यं'में दो बात कही गयी है, वहाँ—'वासयति, दीव्यति च इति वासुदेवः'—जो सबका अधिष्ठान और प्रकाशक है, वह वासुदेव है। भागवतमें वासुदेव शब्दका अर्थ निराला किया हुआ है—'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं'—विशुद्ध अन्तः-करणका नाम वसुदेव है, शुद्ध-अन्तःकरण वसुदेव और उसमें जो पर-मात्माका सक्षात्कार होता है, वही वसुदेवका पुत्र वासुदेव साक्षात् प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म।

गीताका कहना है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

वासुदेव सर्व है, यह अनुभव जिसको हो गया वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ये जो छुटभय्ये लोग मौसमी मेढककी तरह समय-समयपर पैदा होते हैं और लोगोंको बर्गलाते हैं—वेद, उपनिषद्, महाभारत, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र छुड़ा देते हैं और बोलते हैं कि जो मैं कहता हूँ सो ठीक है, वे बिल्कुल तुम्हें नरकमें ढकेलनेके लिए आये हैं, जहाँ कोई अनुशासन नहीं है, मर्यादा नहीं है, मात्र उच्छृङ्खलता है, वह कोई मार्ग नहीं है।

अच्छा अब ब्रह्मकी बात तो हो गयी। प्रसिद्ध ही है—'ब्रह्मैवेदं सर्वं', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहमेवेदं सर्वं', 'आत्मैवेदं सर्वं', 'स एवेदं सर्वं' और

वेदान्तोंमें, उपनिषदोंमें, वेदोंमें—'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति', एकं वा इदं विबभूव सर्वं'—सत् स्वरूप परमात्माके एकत्वका निरूपण है। अब उपनिषद् और गीता दोनों जो लक्षण ब्रह्मका बताते हैं, वही लक्षण वासुदेवका बताते हैं।

भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें आया है कि ध्रुवने वासुदेव द्वादशाक्षर मन्त्रका जप किया और उसे विष्णु भगवान्का दर्शन हुआ। इसी मन्त्रके जपसे स्वायम्भू मनुको रामका दर्शन हुआ और ध्रुवको विष्णुका। श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने अणुभाष्यमें कहा है कि—'सकलमिदं अहं च वासुदेवः'—यह जो विष्णु-पुराणका वचन है, यही परमात्माके स्वरूप-निरूपणका आधार है और यमराज अपने दूतोंको उपदेश करते हैं कि यह भाव जिसके हृदयमें हो, उसके पास तुम लोग कभी मत जाना।

अच्छा, अब थोड़ा-सा विचार कीजिये। विचार यह है कि जब यह बात कही जाये कि ये पेड़-पौधे, ये घड़े-कुल्हड़, सकोरे, खपरैल सब-के-सब माटी हैं, तो आप क्या समझते हैं कि माटी बहुत हो गयी? नहीं, बहुत होनेपर भी यह माटी, माटी ही है। तो, कोई चीज एक भी हो और सब भी हो—ऋग्वेदमें एक सूक्त ही है, एक, एक, एकका। तो जैसे कोई एक ही रस्सीको साँप समझे, माला, धारा, डण्डा, लँगोटी समझे; लेकिन रस्सी तो रस्सी ही है, ऐसे ही परमात्मा एक है और नानात्वका उसमें भ्रम होता है और भ्रमका उपादान है—'अविद्या'। भूल तभी होती है जब हम असली चीजको नहीं समझते है। रज्जुका अज्ञान ही सर्प, माला, धारा, दण्ड, लँगोटी आदिके भ्रमका हेतु है। अब वासुदेव एक है और उसको कहा जा रहा है, सर्वं। ब्रह्म एक है, अद्वितीय है और उसको कहा जा रहा है सर्वं। तो, जो एक है वह अनेक नही हो सकता। तब? एकको हम अपनी कल्पनाके अनुसार, अपने अन्तःकरणके अनुसार अपनी इन्द्रियोंके अनुसार अनेक देखते हे, वस्तु-तत्त्व तो एक ही है।

देखो, एक तिनका, तृण सामने है, आँखने कहा—पीला है, त्वचाने कहा—कड़ा-कड़ा है, नाकने कहा—इसमें सूखी-सूखी गन्ध है, जीभने कहा—बेस्वाद है। न शक्कर है, न नमक है और जब उसको तोड़ा तो, थोड़ा शब्द हुआ तो कानने कहा कि इसमें शब्द है। अब तृण तो एक ही है, पर हमारी इन्द्रियोंने उसमें अलग-अलग अनुभव किया और अलग-

अलग बताया। इसी प्रकार परमात्मा तो एक है और सर्वका भ्रम जो है, वह हमारी इन्द्रियोंके द्वारा, हमारे मनके द्वारा, हमारे संस्कारोंके द्वारा, हमारी भ्रान्तिके द्वारा और मूलतः हमारे वासुदेव-तत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, प्रत्यक् तत्त्वके अज्ञानके कारण हो रहा है। तो, वासुदेव और सर्वका भ्रम और सबका उपनिषदोंकी भाषामें मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं होता, बाध सामानाधिकरण्य होता है। सर्वेन्द्रियक होनेसे, मानसिक होनेसे, कायाचित होनेसे, वाचिक होनेसे, पृथक्-पृथक् होनेसे बाधित है, केवल प्रतीति मात्र है और वासुदेव जो है वह असली तत्त्व है, परम तत्त्व है और कोई भी तत्त्व अपने आत्मासे भिन्न होकर चेतन नहीं हो सकता, अधिष्ठान नहीं हो सकता, पूर्ण नहीं हो सकता, अद्वितीय नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्यगात्माका जो असली स्वरूप है, उसीको ब्रह्म कहते हैं, उसीको वासुदेव कहते हैं। एक ही तत्त्वके—

आत्मा एव इदं अग्रे आसीत्। ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्।
असदेव सौम्य इदमग्र आसीत्।

इस प्रकार प्रकृतिके मूलमें जो तत्त्व हैं—माने जिनकी अनेकताकी प्रतीति हो रही है, वह वासुदेव-स्वरूप है।

अपनेको भगवान् माननेवाले तो अबतक बहुत हुए हैं और बहुत मर चुके हैं। नास्तिकोंकी माया निराली है। आपने पढ़ा होगा, इधर अखबारोंमें छपा था कि एकने पूछा कि सबसे बड़ा झूठ दुनियामें क्या है? तो बोले 'ईश्वर'। ऐसे-ऐसे लोग हैं जो अपने शरीरको तो सच मानते हैं, अपने सुरा-पानको सच मानते हैं, मांस-भोजनको सच मानते हैं, परस्त्री-गमनको सच मानते हैं और ईश्वरको झूठा मानते हैं। ये सब मौसमी हैं, पैदा होते हैं और मर जाते हैं। असलमें, सत्य उसका नाम होता है, जो हमारे वेदका, वेदान्तका सत्य है, जो हमारे रामायण-महाभारतका सत्य है, जो हमारे दर्शनोंका, धर्मशास्त्रका सत्य है। आप व्यक्तिके फन्देमें मत फँसिये, सिद्धान्तका अनुभव करनेका प्रयास कीजिये। उसीका नाम ब्रह्म है, उसीका नाम वासुदेव है। ये नाम ही दो हैं, चीज दो नहीं हैं। एक दिन राधारानी घरसे निकलीं। किसी गोप-बालकने कन्हैयाको पुकारा 'कृष्ण, ओ कृष्ण!' राधारानीने कहा—'ओ हो, इतना प्यारा नाम! कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण—बस, प्यार करने योग्य यही है।' घरमें आकर निश्चय किया—ब्याह करूँगी तो इसीसे करूँगी। दूसरे दिन फिर

कहीं जानेको निकलीं तो वंशीकी ध्वनि कानोंमें पड़ी। इतनी प्यारी, इतनी मधुर, इतनी सुरीली! बोलीं—'मैं तो वंशीवालेसे ब्याह करूँगी।' घरमें आयीं तो व्याकुल हो गयीं। मैं पतिव्रताका आदर्श बनना चाहती हूँ और बाँसुरीवालेमें भी मेरी प्रीति हो गयी और कृष्ण नामवालेसे भी, बड़ा दुःख हुआ—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति, मतिम् कृष्णेति नामाक्षरम्।
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः॥

व्याकुल हो गयीं, बहुत व्याकुल हो गयीं। इतनेमें चित्रलेखा सखी आगयी। उसने कहा—सखी देखो, मैं एक चित्र बनाकर ले आयी हूँ। जरा इसको देखो और अपनी आँखें ठण्डी करो! राधारानीने चित्र देखा—यह तो बहुत सुन्दर है। मनमें आया, मैं तो इसीसे ब्याह करूँगी। तुरन्त बुद्धिका उदय हुआ। यह क्या? मैं अकेली और मेरी तीन-तीन पुरुषोंमें प्रीति? महाराज, कुछ लोग होते हैं जो बीस-बीस मन्त्र जपते हैं और दस-दस देवताके चित्र रखते हैं। और सुनो—एक दिन एक चेला नाराज हुआ तो बोला कि तुम्हारे जैसे दस गुरु बनाकर मैंने छोड़ दिये हैं, तुम क्या होते हो! पर राधारानीका हृदय तो ऐसा नहीं है। वे तो व्याकुल हो गयीं, मेरे लिए तो मरना ही अच्छा है। अब—

शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः,
परिजनगिरां विश्रम्भात्त्वं बिलासफलाङ्कितः।
शिव शिव कथं जानीमस्त्वामवक्रधियो वयं,
निबिडबडवावह्नि-ज्वाला-कलाप-विकासिनम्॥

अरे, मैंने तो आग ठण्डी करनेके लिए चित्र देखा था, यह तो और आग लग गयी शरीरमें और मरनेको तैयार हो गयीं। क्यों मरनेको तैयार हो गयीं? क्योंकि कृष्ण दूसरा, वंशीवाला दूसरा और चित्रवाला दूसरा और राधारानी एक। ललिता सखीने कहा कि सखी! आखिर तुम अपने मनका रोग, दुःख तो बताओ, मैं उसका इलाज करूँगी। बोलीं क्या रोग बताऊँ!

इयं सखि सुदुःसाधा राधा हृदयवेदना।
कृता यत्र चिकित्साऽपि कुत्सायां पर्यवस्यति॥

दवा करनेसे दुनियामें और शिकवा-शिकायत होगी, इसलिए मेरा मर

जाना ही अच्छा है। ललिता सखी नहीं मानी और उसने पता लगा लिया कि बात क्या है! बोली—'सखी, जिसका नाम कृष्ण है, वही वंशीवाला है और उसीका यह चित्र है। अब छोड़ो चिन्ता और उठो, मैं अभी उसे बुलाकर लाती हूँ।' ललिता सखी गयी, कृष्णको बुलाने। कृष्णने मना कर दिया। 'मैं नन्दबाबाका, यशोदा मैयाका बेटा—एक अनब्याही लड़कीसे मिलनेके लिए जाऊँ? नहीं जाऊँगा। ललिता सखी रोती हुई लौट गयी। दूरसे ही राधारानीने देख लिया कि ललिता सखी रोती हुई आ रही है। समझ गयीं कि कृष्ण नहीं आये।

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं,
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं,
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥

सखी, यदि श्रीकृष्णके हृदयमें करुणा नहीं है तो तुम्हारा तो कोई अपराध नहीं है। अब जो मैं कहती हूँ सो तुम करो। अब जब थोड़ी देरमें मेरे इस शरीरसे प्राण निकल जायें, तब तुम मेरी अन्त्येष्टि-क्रिया इस प्रकार करना। मेरे इस शरीरको तमाल वृक्षसे सटाकर बाँध देना (तमालका वृक्ष काला-काला होता है और ये वृक्ष वृन्दावनमें बहुत होते हैं। अपने आश्रममें भी हैं और बाबाके आश्रममें भी हैं।) और उसकी डालमें मेरे दोनों हाथ लटका देना, जिससे जीवित अवस्थामें न सही, मरनेके बाद इस शरीरको श्रीकृष्णका आलिङ्गन मिलता रहे। ललिता सखीकी आँखोंमें-से आँसू गिर ही रहे थे, श्रीराधारानीकी आँखोसे भी आँसू गिरने लगे। ज्यों ही व्याकुलता बढ़ी त्यों ही श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हुए, पीताम्बर फहराते हुए, प्रेम-भरी चितवनसे देखते हुए और ठुमुक-ठुमुककर पद-विन्यास करते हुए वहाँ पहुँच गये। अरे! ये ही श्रीकृष्ण हैं? हाँ-हाँ ये ही कृष्ण हैं। ये ही बाँसुरीवाले हैं? हाँ, देखो, बाँसुरी बजा तो रहे हैं। ये ही चित्रवाले हैं! हाँ, ये ही चित्रवाले हैं!

तो, यह वासुदेव और ब्रह्मका जो भेद है, वह विल्कुल झूठा है। परमात्मा सर्वथा एक है, सर्वदा एक है। परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं!

•

: ७० :

तीर्थयात्रा क्यों ?

प्रश्न : जब घरके मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा हो सकती है तब बद्रीनाथ आदि तीर्थस्थानमें जाकर दर्शन करनेकी क्या विशेषता है—कृपया समझायें !

उत्तर : देखोजी, आपके 'एयर-कण्डीशन कमरेमें भगवान्‌का मन्दिर बना हुआ है या समझ लो कि आपके मन्दिरमें पंखा लगा हुआ है और आपका एक नौकर खड़ा रहता है, जो ला-लाकर आपको पूजाका सामान देता है और बैठे-दैठे आप हुकुम करते रहते हैं—धूपबत्ती ले आ, आचमनी ले आ, जल ले आ—और वह लाता रहता है। तो असलमें यह पूजा नहीं है, यह आपके देहकी आरामतलबी है और अपने देहकी आरामतलबीका नाम आपने रख छोड़ा है—पूजा। वैसे, पूजा घरमें भी करना बहुत बढ़िया है, करना भी चाहिए और हम आपको इसके लिए धन्यवाद भी देते हैं कि आपने अपने घरमें—चाहे वह जितना भी बड़ा हो—१ फुट, २ फुट जगहमें भगवान्‌को बैठा रखा है और अपने २४ घण्टोंमें-से आप कुछ समय—२४ मिनट भगवान्‌को भी देते हैं। आप यदि क्लबमें, होटलमें, रेस्ट्राँमें, घरमें बढ़िया-बढ़िया माल खाते हैं और भगवान्‌के सामने भी एक-आध ग्लॉस दूधका रख देते हैं या ४-६ किसमिश रख देते हैं—तो इसके लिए हम आपके आभारी हैं, कृतज्ञ हैं और भगवान् भी

आपको अपना आभार प्रकट करेंगे, आपको सब देंगे। लेकिन, बद्रीनाथकी यात्रा, गंगोत्रीकी यात्रा, रामेश्वरकी यात्रा, कन्याकुमारीकी यात्रा, द्वारकानाथकी यात्रा या जगन्नाथपुरीकी यात्रा—आप कभी शान्तचित्तसे करके तो देखिये !

हम गये थे बद्रीनाथ। रास्तेमें वे बहते हुए झरने—झर-झर-झर-झर और हर-हर-हर-हर और वह पहाड़ोंपर चारों तरफ हरियाली, वह पक्षियों-का चहकना, वे बर्फके पहाड़–कि बस ! वे किसके हैं ? क्या बिरलाके, क्या टाटाके, क्या मफतलालके, कि क्या जे० के०के ? किनके हैं ? उनके मालिकका जरा अनुसन्धान तो कीजिये। वे निर्मम वस्तु हैं। माने संसारका कोई सेठ-साहूकार उनपर अपनी ममता स्थापित नहीं कर सकता। आप अमुक सेठकी कोठी देखते हैं, अमुक सेठकी फैक्टरी देखते हैं, पूछते हैं—इसका मालिक कौन ? कि फलाँ सेठजी। और हिमालयका मालिक कौन ? बरफका मालिक कौन ? बहती हुई नदियोंका मालिक कौन ? वह विशाल समुद्रका मालिक कौन ? अरे बाबा, निर्मम वस्तुके दर्शन-चिन्तनसे मनमें शान्ति आती है और ममतास्पद वस्तुके दर्शन-चिन्तनसे अपने मनमें भी वैसी वस्तु बनाकर और ममता करनेकी वासना उठती है ! क्या दोनोंमें फर्क नहीं है ?

अच्छा आओ, राष्ट्रीयताकी दृष्टिसे देखें। जब केरल और तमिल-नाडुका आदमी सुपारी, लौंग, इलायची लेकर बद्रीनाथकी पूजा करता है और हम गंगोत्रीका, बल्कि गंगोत्रीके ऊपरका गंगाजल ले जाकर रामेश्वरपर चढ़ाते हैं; जब जगन्नाथपुरीकी भेंट लेकर द्वारकानाथ और बद्रीनाथकी यात्रा करते हैं, तब आपके चित्तमें जो संकीर्णता बैठी हुई है कि हमारा घर, हमारा परिवार, हमारे घरका खाना, हमारे घरका पहनना। जरा देखिये तो—उन लोगोंके पहनावे कैसे हैं, कैसी बोली है, कैसा भोजन है, कैसा रहना है ! आसाम, परशुराम क्षेत्र, कन्याकुमारी, रामेश्वर, बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, जमुनोत्री, तुङ्गनाथ, नेपाल—इनके दर्शन मात्रसे ही आपके हृदयमें जो संकीर्णता है वह मिट जायेगी; आपके अन्दर जो भाषाकी जड़ता है, वह मिट जायेगी; आपके घरमें—जो आप समझते हैं कि सबसे बढ़िया है, वह आपका अभिमान मिट जायेगा। भगवान्‌का पूरा विश्व तो देखना दूर रहा; आकाशमें जो ग्रह,

नक्षत्र, तारे हैं, आकाश-गङ्गा है—उनको देखना-समझना तो दूर रहा—आपको तो भारतवर्षकी यात्रा भी प्रिय नहीं लगती है ! अपने देशको देखना भी प्रिय नहीं लगता है ! तीर्थाटन हमारे हृदयको उदार बनानेवाला है। पहले तो जब गाँवसे लोग गंगोत्री, जमुनोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथके लिए चलते थे, तो गाँवके बड़े-बूढ़े लोग इकट्ठे होकर उनको बिदा करते थे कि पता नहीं अब ये लौटकर आयेंगे कि नहीं। घरसे निकलनेके बाद रास्तेमें तब करीब पचीस दिन लगते थे पहुँचनेमें—भगवत्-चिन्तन होता रहता और मैं-मेरेका ख्याल छूट जाता और आशा बनी रहती कि हमको भविष्यमें भगवत्प्राप्ति होगी।

देखो भाई, बात है सीधी-सादी। आप अपना कपड़ा कितना बढ़िया रखते हैं, कितना साफ रखते हैं ! कल हमारे एक श्रोताने हमको बताया कि चलते समय जो आप अपने कन्धेपर चद्दर रखते हैं, वह आपके और कपड़ोंसे 'मैच' नहीं करती, इसलिए अच्छी नहीं लगती है, इसको उतार दीजिये। हाँ, तो आप अपना वस्त्र इतना बढ़िया रखते हैं और 'मैच' करके पहनते हैं और अपने शरीरमें कितना साबुन-तेल और कितना इत्र-फुलेल लगाते हैं और उसको कितना चिकना-चिकना रखते हैं, पर क्या आप अपने मनपर भी कभी ध्यान देते हैं ? आपके मनमें जब कामका उदय होता है, जब क्रोधकी आग जलती है या क्रोधका धुँआ उठता है, या जब आपके चित्तमें लोभका पानी आता है तब, सारे शरीरमें बलगम-ही-बलगम बढ़ जाता है।

शरीरमें जब काम, क्रोध, लोभकी वृद्धि होती है, तब वात, पित्त और कफ माने थूक, जो हम थूकते हैं—की वृद्धि हो जाती है—सारे शरीरमें वही-वही भर जाता है। तो देखिये, कितना गन्दा है आपका मन। आप अपना शरीर साफ रखते हैं, अपना कपड़ा साफ रखते हैं, अपना घर साफ रखते हैं और अपने सूक्ष्म शरीरको स्वच्छ रखनेकी आपकी कोई इच्छा ही नहीं है। इसके लिए आप कोई चेष्टा नहीं करते हैं ? तो बोले कि लोग देखते थोड़े ही हैं ? किसीको क्या पता चलेगा कि इसके मनमें क्या है ? चिकने-चुपड़े होकर कहीं भी पहुँच जाओ। इस स्थूल शरीरके भीतर एक सूक्ष्म शरीर है और उसको स्वस्थ रखनेके लिए, उसको चिकना-चुपड़ा रखनेके लिए तीर्थ-यात्राकी आव-

श्यकता होती है। इसलिए, तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए और हाँ संकल्प करके जाना चाहिए। वहाँ जाकर खाने-पीनेकी फिक्र नहीं करनी चाहिए, बल्कि हो सके तो एक रातका उपवास करना चाहिए; कोई बुरा काम नहीं करना चाहिए, मनसे बुरी बात नहीं सोचनी चाहिए और वहाँ जाकर जो सीमाकी रक्षा करनेवाले हैं, हिमालयपर पहरा देनेवाले हैं, उनको दान करना चाहिए।

इस तरहसे जो तपस्या अपने जीवनमें आती है, वह हमारे मनका, हमारे तनका निर्माण करती है। 'तरन्ति अनेन इति तीर्थम्'—जिससे मनुष्य संसारकी वासनाकों पार कर जाता है, उसका नाम होता है—तीर्थ। यह तीर्थयात्रा जीवनके लिए बहुत-बहुत उपयोगी है और अपने सूक्ष्म शरीरको पवित्र करनेवाली वस्तु है।

आप देखेंगे कि यदि आप तपस्यासे प्रेम करते हैं, निश्चिन्ततासे प्रेम करते हैं, भगवत्-चिन्तनसे प्रेम करते हैं, भगवान्पर विश्वास करते हैं, तो जहाँ आपके पास भोजनका प्रबन्ध नहीं है, वहाँ आपको भोजन मिलेगा, जहाँ आपके शयनका प्रबन्ध नहीं है, वहाँ आपके शयनका प्रबन्ध हो जायेगा और आप देखेंगे कि छोटी-मोटी चीजें भी आपको कितनी सुखदायक होती हैं! एक बार हमलोग मसूरीसे उत्तरकाशी जाने लगे। तभी हमारा एक परिचित आया। उसने कहा कि हम आपको ऐसे रास्ते-से ले चलेंगे कि आप छः दिनकी जगह दो ही दिनमें उत्तरकाशी पहुँच जायेंगे।

यद्यपि हमलोग यह जानते थे कि यह थोड़ा-थोड़ा पागल है, उसके साथ हो लिये यह सोचकर कि इधरका ही रहनेवाला है, तो जरूर जानता होगा और चार दिन बच जायेंगे। अब जिस रास्तेसे वह ले गया हमको, उस रास्ते तो कहीं-कहीं तो हमें दोनों हाथ जमीनपर लगाकर कमरके बलपर खिसककर चलना पड़े, कहीं सिरपर पहाड़ और नीचे पानीमें-से गुजरना पड़े और एक दोपहरको तो हम ऐसी जगह पहुँच गये, जहाँ छप्पर तो था, पर कोई प्राणी नहीं था और भूख लगी थी। तो इधर-उधर से रसभरी और अंजीर जो पहाड़ोंमें होती है—तोड़-ताड़कर लाये और वही खाकर रहे। फिर ढूँढ़ा तो छप्परके एक कोनेमें थोड़ा चावल मिल गया, उपले मिल गये, तो चावल पकाकर खा लिया।

फिर एक जगह (लालोड़ी) हम पहुँचे, तो वहाँ वर्षा होनेकी सम्भावना थी और ठहरनेके लिए कोई छप्पर नहीं दिखे। अब छप्पर तो चाहिए ही था। ढूँढ़नेपर एक जगह तो मिली पर वह गधोंको बाँधनेकी जगह थी। बिलकुल गधोंके रहनेकी, क्योंकि वहाँ जगह-जगह गधेकी लीद पड़ी हुई थी और उसीकी गन्ध आ रही थी। पर अब और कोई जगह ही जब नहीं मिली, तो करते भी क्या ? वहीं ठहरे। पर, लीदपर अब सोये-बैठें कैसे ? तो जंगलसे ला-लाकर उसपर लकड़ीके पल्ले बिछा दिये और उसपर लेट गये। साथमें तब द्वारकाप्रसाद शास्त्री भी थे। वे गाँवमें गये—देखनेको कि खानेकी क्या चीज मिल सकती है !

नोट देखकर वहाँके लोग कुछ दें ही नहीं। पर, इत्तफाकसे हमारे पास चाँदीके रुपये भी थे। जब उनको वे रुपये दिये तो फिर हमें घी भी मिल गया व और सामान भी मिल गया। फिर हमने पकाकर खाया। तो वह वर्षा, वह पानी, वह हवा, वहाँके लोग—उन सबका एक अपना आनन्द है !

आप हवाई-जहाजमें यात्रा करते हैं। ईश्वर न करे कि ऐसा कहीं कुछ हो (१२-१४ दिन पहले ही एयर-इण्डियाके प्लेनका, ३१९ यात्रियों सहित एक्सीडेण्ट हुआ था, जिसमें सभी मारे गये थे और फिर एक जापान एयर लाइन्सके प्लेनका एक्सीडेण्ट हुआ था, जिसमेंसे १०-१२ आदमी बच गये थे) लेकिन यदि कहीं ऐसा हो जाये और कहीं उसको जंगलमें या पहाड़पर उतरना पड़े या आप पानीके जहाजमें यात्रा कर रहे हों और वह कहीं डूब जाये और आप लकड़ीके पल्लेके सहारे जाकर कहीं किनारे लगें, जहाँ कोई न हो और कहीं आप रेलगाड़ीमें यात्रा कर रहे हों और उसका बीचमें ही 'एक्सीडेण्ट' हो जाये और आपको पटरीपर ही रहना पड़े !

तो जीवनमें क्या नहीं हो सकता ? जिसको अपने जीवनमें तकलीफ उठानेकी आदत नहीं है, तपस्या करनेकी आदत नहीं है और जो अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कष्ट नहीं उठा सकता, वह अपने जीवनमें, अपने व्यापारमें, नेतागिरीमें भी सफल नहीं हो सकता। आपके जीवनमें ईश्वरके नामपर, एक उत्तम उद्देश्यसे तीर्थयात्राका उद्देश्य भी तो उत्तम हो गया ना ! भगवान्‌का दर्शन करने जा रहे हैं—यदि कष्ट उठानेका अवसर

आवे तो आप अवश्य तीर्थयात्रा कीजिये और थोड़े दिनोंके लिए घरके भगवान्‌की पूजा, घरके दूसरे सदस्योंको या पुजारीको सौंप दीजिये या फिर भगवान्‌को भी साथ लेते जाइये, वे भी घूम आयेंगे आपके साथ—उनको भी यात्रा करनेका शौक तो है ही।

यह तीर्थयात्रा बहुत अच्छी वस्तु है। पर, अब जिनको 'एयर-कण्डीशन' छोड़नेका ख्याल ही नहीं है, वे तो तीर्थयात्रा कहाँसे करेंगे? अच्छा, आपको बताते हैं कि बिरला-परिवारके छोटे-छोटे बच्चे, १०-१०, १२-१२ वर्षके बच्चे एक दिनमें गिरिराजकी १४ कोसकी परिक्रमा कर लेते हैं—नङ्गे-पाँव! भला बताओ, बच्चोंको परिक्रमा करनेकी क्या जरूरत है? आप अपने घरके भगवान्‌की ही परिक्रमा कर लो ना! नहीं, जीवनको सब परिस्थितियोंके लिए तैयार रखना चाहिए। नदीमें स्नान करना चाहिए। सरोवरमें स्नान करना चाहिए। पाँवसे यात्रा करनी चाहिए। रूखा-सूखा जैसा मिले, खानेकी आदत होनी चाहिए। धरतीमें सोनेकी आदत होनी चाहिए।

घरके भगवान् यदि आपको आलसी बना रहे हों तो आप थोड़े दिन उनको छोड़कर आलस छोड़िये और अपने जीवनमें उत्साह, परिश्रम, पौरुषका सञ्चार कीजिये, तीर्थयात्रा कीजिये। आपको एक बात सुनाता हूँ—आपके कामकी तो नहीं है, पर सुनाये देता हूँ—कुछ-न-कुछ संस्कार तो मिलेगा ही। वृन्दावनमें एक सनातन गोस्वामी हुए थे। असलमें, वृन्दावनका पता भी इन्होंने ही लगाया था। इसके पहले वृन्दावन कहाँ है यमुना-तटपर, इसका पता लोगोंको नहीं था। मुसलमानोंके जमानेमें तब उस गाँवका नाम फकीराबाद था। तब सनातन गोस्वामी-जीने ही सब पता लगाया। यहाँ कालिय-दमन हुआ है, यहाँ चीर-हरण हुआ है, यहाँ रास-लीला हुई है, यहाँ माखन-चोरी हुई है, आदि-आदि। सनातन गोस्वामीजी ठाकुरजीकी सेवा-पूजा किया करते थे। उनके ठाकुरजीका नाम मदनमोहन था।

तो वे उनकी पूजा करते और रोज तीन लाख भगवन्नामका जप करते और शामको गाँवमें जाते और व्रजवासियोंके घरसे रूखी-सूखी रोटी माँगकर लाते और भगवान्‌को भोग लगाकर, प्रसाद पाते। इसमें कभी चार बज जाते, तो कभी पाँच भी बज जाते। ठाकुरजीसे उनकी बात भी होती थी।

एक दिन मदनमोहनजीने सनातनजीसे कहा कि यह बिलकुल सूखी रोटी मेरे गलेमें गड़ती है; थोड़ा-सा नमक इसपर रख दिया करो, जिससे हमको खानेमें सुविधा हो जायेगी। सनातन गोस्वामी इस बातसे उनसे बहुत नाराज हुए। बोले, चटोरा हो गया है, आज नमक माँगता है, क्या भरोसा कल फिर खीर माँगेगा, हलुआ-पूड़ी माँगेगा—तो मैं कहाँसे लाऊँगा यह सब !' और एक चाँटा मारा उनको। अब उसी समय सेठकी नमकसे भरी एक नाव यमुनाजीमें जा रही थी, वह डूबने लगी। तब यमुनाजी ऐसी छिछली नहीं थीं, यह तो नहर निकाल-निकालकर ऐसी कर दी, नहीं तो पहले बड़ी गहरी धारा थी। तो जब नाव डूबने लगी, तब उसका सेठ चिल्लाया। सेठको तैरना तो आता नहीं था। चिल्लाया कि यदि यहाँ कोई महात्मा होगा या कोई मन्दिर होगा तो मैं नमक (सारा-का-सारा) यहाँ डाल दूँगा, हमारी जान बच जाये। अब जान बच गयी, तो उसने सारा नमक सनातन गोस्वामीकी झोपड़ीके बाहर डाल दिया।

सनातन गोस्वामीने ठाकुरजीको हाथ जोड़ दिये और उन्हींके सम्प्रदायके एक बहुत बड़े विद्वान् महात्मा थे, जिन्होंने चैतन्य-चरितामृत और गोविन्द-लीलामृत लिखा था, उनसे कहा कि भैया, अब तुम इन मदनमोहनजीको सम्हालो, मैं अब इन्हें नहीं सम्हाल सकता, क्योंकि आज इनको नमक चाहिए था, कल इनको हलुआ-पूड़ी चाहियेगा और कभी ये रहनेको बढ़िया मकान चाहेंगे ! तो तुम इनको सम्हालो और मैं भजन करनेके लिए जाता हूँ और चले गये वनमें।

उसके बाद मदनमोहनजीका खूब वैभव बढ़ा। लाल पत्थरके दो मन्दिर बने। मन्दिर तो अब भी हैं। पर अब उसमें कोई ठाकुरजी भी नहीं हैं और कोई शिखर भी नहीं है। इन्हींको 'धन-धन माठ गाँवके चोर' बोलते हैं।

जो एकादशी-व्रत नहीं रह सकता, जो रामनवमीके दिन दोपहरतक भूखा नहीं रह सकता, जो जन्माष्टमीका आदर नहीं करता, वह अपने जीवनमें कष्ट तो सह ही नहीं सकता। वह तो हर समय हाय-हाय ही करता रहेगा। पाँच रुपया जायेगा, तो हाय-हाय करेगा; घरवाली चार बात सुना देगी तो हाय-हाय करेगा ! अरे बाबा, भगवान्‌के लिए हाय-हाय कर लिया करो, तो दुनियामें किसीके लिए भी हाय-हाय नहीं करना पड़ेगा ! ●

सुखी रहनेकी युक्ति

प्रश्न : आप हमेशा कहते हैं कि सुखी रहो और सुखी रखो—इसकी युक्ति क्या है ? कृपया बतलायें।

उत्तर : सुख देना ही सुखी रहनेकी युक्ति है। अपनी ओरसे जितना बने, दूसरोंको उतना सुख दो। जिस तरह कुएँमें-से जितना-जितना पानी हम निकालते जाते हैं, उतना-ही-उतना पानी उसमें और आता-जाता है, उसी तरह आप अपने हृदयमें-से जितना सुख निकालेंगे और बाहर बाँटेंगे, उतना ही सुख आपके हृदयमें और-और प्रकट होता जायेगा। 'सुखमख्यात् मनोरूपम्'—असलमें, अपने आत्माका स्वरूप ही सुख है। वह कभी घटेगा नहीं। उसका नया-नया रूप अन्तःकरणमें प्रकट होता जायेगा। सुख देना ही सुखी होनेका उपाय है।

अब देखो, सुख माने क्या ? सुख माने—हृदयाकाशकी सुन्दरता—'सुष्टुखं यस्मात्'—अपना हृदयाकाश जिससे निर्मल रहे। जैसे, जब आकाशमें बादल छाये रहते हैं, आँधी आती है, गर्मी पड़ती है तो आकाश कैसा गँदला-गँदला मालूम पड़ता है और जब आकाशमें न बादल होते हैं, न आँधी होती है और न गर्मी होती है तो आकाश कैसा स्वच्छ, निर्मल होता है। ऐसे ही, हमारा हृदयाकाश भी स्वच्छ रहे, निर्मल रहे और उसमें किसीके प्रति चिढ़न न हो, कुढ़न न हो; किसीके प्रति नफरत-द्वेष न हो, किसीके प्रति आसक्ति-राग न हो। जैसे हम शरीरको 'नॉर्मल' रखना पसन्द करते हैं, वेसे ही हमारा हृदय भी 'नॉर्मल' रहे और न यह दायें झुके, न बायें झुके। बस, सीधा-सीधा भगवान्‌के साथ जुड़ा रहे और जो भगवान्‌की ओरसे आये, उसको सिर झुकाकर स्वीकार करता जाये। होनेमें भी प्रसन्न और न होनेमें भी प्रसन्न और जो करना है उसमें सावधान रहें !

श्रीहरिबाबाजी महाराज कहा करते थे कि जब हमारे मनका होता है, हमारी इच्छा पूरी होती है, तब तो यह शंका रहती है कि यह भगवान्‌के मनसे हुआ है या नहीं। कहीं हमारी ही वासनाका विलास तो

नहीं है। परन्तु, जब हमारे मनका नहीं होता है, तब तो निश्चय ही भगवान्‌के मनका होता है। उस समय हमें सोचना चाहिए कि भगवान् हमें इतना प्यार करते हैं कि हमारी जिद् न मानकर, हमारे मनकी न मानकर, अपने मनका करते हैं। उस समय ही मनुष्यको अपनेको तौलना चाहिए। अपने मनका होनेपर जितना सुखी होते हैं उससे अधिक सुखी अपने प्यारेके मनका होनेसे होना चाहिए।

इस तरह आप अपने मनका होनेसे तो सुखी रहेंगे ही, अपने मनके विपरीत होनेपर भी सुखी रहेंगे।

अब आप स्वयं सुखी रहिये, दूसरेको सुखी रखिये, सुखी कीजिये! आपके घरमें आपसे दुश्मनी करनेवाला भी आजाये तो आप उठकर खड़े हो जाइये। हाथ जोड़कर उसका आदर कीजिये। मुस्कुराकर प्रेमसे उसकी ओर देखिये। अपनेसे ऊँचे आसनपर उसको बैठाइये। आसन न हो तो धरती ही हाथसे साफ कर बैठाइये—आइये-आइये, यहाँ बैठिये और घरमें और कुछ न हो तो जल ही पिला दीजिये और जल भी न हो तो मीठी वाणीसे ही उसका सम्मान कीजिये। यह तो हर समय सबके साथ हरती है।

एक सेठ था। अच्छा था। उसको एक रात स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा कि मैं कल तुम्हारे घर आऊँगा। सेठ जगा, बहुत खुश था—आज हमारे घर भगवान् आयेंगे। उसने सबेरे ही लिपाई-पोताई करायी, फूल मँगवाये, सजावट की, फल मँगवाये, तराशा, सब तैयारी की—भगवान् आयेंगे! इतनेमें एक नङ्गा, काला-सा बालक आया—'सेठजी भूख लगी है।' सेठने कहा—'भाग जा यहाँसे, हमारे यहाँ भगवान् आनेवाले हैं!' चला गया बेचारा। कुछ देर बाद एक बुढ़िया आयी—थर-थर काँपती हुई। 'सेठजी, ठण्ड लग रही है।' सेठने कहा—'भाग-भाग यहाँसे, हमारे बरामदेमें मत बैठ, हमारे यहाँ भगवान् आनेवाले हैं!' चली गयी वह भी। एक बुड्ढा आया, बोला—'हमारे सिरमें दर्द है, कोई दवा दिलवा दो सेठ!' सेठ बोले—'चला जा यहाँसे, हमारे घरमें भगवान् आनेवाले हैं!' वह भी चला गया।

अब दिन भर सेठजी इन्तजार करते रहे—भगवान् तो आये नहीं। रातमें जब निराश होकर सेठजी सो गये तब फिर स्वप्न आया—सेठ, उस बालकके रूपमें भूखा-प्यासा मैं ही आया था; उस बुढ़ियाके रूपमें

ज्वर-ग्रस्त होकर भी मैं ही आया था। उस बुड्ढेके रूपमें भी मैं ही आया था। मैंने यह कहा था कि मैं आऊँगा, यह कब कहा कि किस रूपमें आऊँगा ! तो, इसी तरह हमारा प्यारा भी, हमारे भगवान् भी किसी रूपमें आ सकते हैं, इसलिए हमें सभीसे प्यार करना चाहिए—

रहिमन या जग आइके सबसे मिलिए धाय।
ना जाने किस वेषमें नारायण आ जाय॥

और सुनो, एक सेठका नियम था कि पहले एक साधुको भोजन करा लेता तब स्वयं भोजन करता। बर्षोंसे उसका यह नियम चलता था। अब एक दिन कोई साधु नहीं मिला। एक बज गये, दो बज गये, फिर नौकर-चाकर ढूँढ़नेके लिए निकले। एक साधुको ले आये। साधु देखनेमें स्वस्थ था, सुन्दर था, प्रसन्न था और बड़ी उम्रका था। जब भोजनकी थाली उसके सामने रख दी गयी तो उसने खानेके लिए हाथमें कौर उठा लिया। न हाथमें पहले जल लिया, न प्राणाहुति दी, न 'नाभ्यासीत' किया, बस खानेको तैयार हो गया। इसपर, सेठने पूछा—'महाराज, आप भगवान्‌को भोग लगाये बिना ही खाते हैं ?' साधु बोला—'मैं तो ईश्वरको मानता ही नहीं हूँ सेठ !' 'अरे ! आप ईश्वरको नहीं मानते ?' 'नहीं।' 'तो नास्तिक हैं ?' 'हाँ, नास्तिक हूँ।' 'तब, हमारा दुर्भाग्य है कि आप हमारे घर भोजन करनेके लिए आये !'

साधुने कहा—'तेरा मन नहीं है तो सेठ, हम बिना खाये ही चले जाते हैं, इसमें क्या है ?' चला गया। रातमें सेठको स्वप्न आया। भगवान्‌ने पूछा—'क्यों सेठ, साधुकी उम्र कितनी होगी ?' '७०-७५ वर्ष।' देखनेमें कैसा था ? खाने-पीनेवाला लगता था या नहीं ?' 'बड़ा सुन्दर, स्वस्थ था। खाने-पीनेवाला भी लगता था।' तो बोले भगवान्—'मैंने ७० वर्षतक जिसे रोज खाना दिया, पानी दिया, कपड़ा दिया, अपनी गोदमें सुलाया, अपनी आँख (सूर्य-चन्द्रमा) से जिसे रोशनी दी, अपनी साँस (वायु) से जिसे प्राण दिया, अपनी धरतीपर जिसे रखा और जिसके हृदयमें मैं ७० वर्षतक बैठा रहा, उसको तुम एक वक्तका खाना नहीं दे सके ? तुम कैसे मेरे भक्त हो ? लानत है तुमपर !'

तो भाई मेरे, सुखी रहनेका उपाय यही है कि अपने हृदयमें जो दोष-दुर्गुण हैं, उनको यथाशक्ति निकालते चलो और बुराईसे बचो और अच्छाईको बाँटो—तुम्हारे जीवनमें सुख-ही-सुख आ जायेगा ! ●

: ७२ :

काम-निवृत्तिका उपाय

प्रश्न : कामके प्रति आकर्षण कैसे कम हो ? कृपया समझायें !

उत्तर : इस बातपर आप ध्यान दें कि काम मिटानेकी इच्छा आपके मनमें कितनी देरतक रहती है। जितनी देरतक आपके मनमें कामको मिटानेकी इच्छा रहेगी उतनी देरतक काम आपके मनमें नहीं आयेगा। क्योंकि, काम मिटानेकी इच्छा भी काम ही है। तो एक साथ काम मिटानेकी इच्छा और काम पूरी करनेकी इच्छा—ये दोनों एक अन्तः-करणमें नहीं रह सकती हैं। इसलिए, यदि काम मिटानेकी इच्छा आपके अन्तःकरणमें आगयी, तो काम दूरसे झाँकेगा—अरे इसके मनमें तो मुझे मटियामेट कर देनेकी इच्छा पैदा हो गयी है; तो भाई, इसके अन्दर जाओ ही मत और वह आपके मनमें नहीं आयेगा !

दूसरी बात यह है कि मनुष्यको अपने अन्दर जिस चीजकी कमी दीखती है, उसको वह चाहता है। जैसे—स्त्रीको अपनेमें पुरुष नहीं दीखता है, वह सोचती है कि न जाने पुरुषमें क्या विशेषता होगी—इसलिए वह उसे चाहती है और पुरुष सोचता है—मैं स्त्री नहीं हूँ, पुरुष हूँ, तो न जाने स्त्रीमें क्या विशेषता होगी, तो वह स्त्रीको चाहता है। अर्थात् जिसे जिस वस्तुका अभाव अपनेमें अनुभव होता है, वह वस्तु चाहता है। गरीब धन चाहता है, स्त्री पुरुष चाहती है, पुरुष स्त्री चाहता है। विद्यार्थी लोग स्त्री चाहते हैं। यहाँ तक कि ये साधु लोग जो हैं वे भी स्त्रियोंसे ही बात करना ज्यादा पसन्द करते हैं और स्त्रियाँ भी साधुओंके पास बैठना ज्यादा चाहती हैं, क्योंकि उनको यह जाननेकी

उत्सुकता रहती है कि साधुमें ऐसी क्या विशेषता है ! सावधान, भाई साधु, सावधान !

आप ध्यान दीजिये इस बातपर कि यह जो चिपकनेका मन होता है, पहले सोचते हैं—देखनेमें क्या पाप है; फिर लगता है—छूनेमें क्या पाप है; फिर लगता है—एक साथ खानेमें क्या पाप है ? और फिर उसके बाद कोई भी रोक-टोक नहीं रहती है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही अपने आपको सावधान कर लेना चाहिए !

यदि आप किसी प्रकारसे ईश्वरसे प्रेम करने लगें, तो ईश्वरमें धन भी है, स्त्री भी है, पुरुष भी है, विद्या भी है, सब कुछ है। यदि आपको सुन्दरता चाहिए, तो भगवान्‌में सुन्दरता भी भरपूर है। आप उनकी सुन्दरताका ध्यान तो कीजिये ! श्रीरंगक्षेत्रमें भगवान् रामानुजाचार्यजीने देखा कि एक पुरुष, एक स्त्रीको छाता लगाये-लगाये पीछेकी ओर चल रहा है। माने ज्यों-ज्यों स्त्री आगे बढ़ती जाती है, वह पीछे हटता जाता है और उसको देखता जाता है ! सोचा उन्होंने, ओहो ! यह तो इसका बड़ाभारी प्रेमी लगता है ! खबर भेजी उसके पास। वह जानेको तैयार ही न हो—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

पापीका सहज स्वभाव होता है कि वह सत्संगमें जानेसे डरता है। कदाचित् चला भी जाता है तो सन्तके निकट नहीं जाता—

जो पै दुष्ट हृदय कोइ होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥

हृदयमें छल-कपट होगा, तो वह सन्तके सामने जायेगा कैसे ? श्रीरामानुजजीने तो उसे बुलाया, पर वह जाना ही नहीं चाहे। तब, उस वेश्याने कहा—बहुत सुन्दर, विश्व-सुन्दरीने उससे कहा—जाओ, नहीं तो बाबाजी कहीं शाप न दे दें। डरके मारे वह गया। रामानुजजीने कहा—'तुम तो बड़े प्रेमी हो। पर, यह तो बताओ कि उस स्त्रीमें ऐसा क्या है जो तुम उसकी इतनी सेवा करते हो ? निहारते ही चलते हो। छाता लगाये ही चलते हो—

लाग लगाव न न मानहिं, अँखियाँ मो बस नाहिं।
ये मुंह जोर कुरङ्ग सम ऐंचत हूँ चलि जाय॥

बताओ, क्या बात है ?' बोला—बहुत सुन्दर है महाराज ! मैं तो देखकर दङ्ग रह जाता हूँ, आश्चर्यचकित हो जाता हूँ। रामानुज बोले—

'अच्छा ! पर यदि उससे सुन्दर कोई दूसरा दीख जाये तो ?' तो बोला—फिर उसीसे प्रेम करेंगे, इसको छोड़ देंगे। सो, शामका समय था, उन्होंने आरती सँजोयी और जो भगवान्‌की आरती उतारी—जैसे तुम लोग करते हो वैसे नहीं, आरतीका भी एक नियम होता है, कितनी बार मुँहके सामने, कितनी बार छातीके सामने, कितनी बार पाँवके सामने—माने ऐसी आरती उतारी उन्होंने और उससे ऐसी दिव्य भगवान्‌की छबि-छटा छलकी कि बस, वह तो वहीं मुग्ध हो गया और बोला कि महाराज, अब हम कहीं नहीं जायेंगे। सिर्फ इनकी ही सुन्दरता निहारेंगे और वहीं रह गया। बादमें श्रीरामानुजजी महाराजने उसको दीक्षा दी और उसका नाम धनुर्दास हुआ।

तो भाई, भगवान्‌की सुन्दरताका चिन्तन करोगे तो संसारका आकर्षण छूट जायेगा। और यदि, फिर भी आकर्षण मालूम पड़े तो भगवान्‌का नाम लो, उपनिषद्—सद्‌शास्त्रका पाठ करो, वहाँसे हट जाओ। इससे आपकी सब कामना मिट जायेगी और आप सुखी हो जायेंगे। कामनाकी निवृत्तिके सम्बन्धमें सेठ जयदयालजी गोयनकाकी पुस्तकें जो हैं—वे बड़ी सहायक हैं। श्रीस्वामी शिवानन्दजीकी भी एक पुस्तक है—'मनके रहस्य और उनका नियन्त्रण'—यह भी बहुत उत्तम पुस्तक है। स्वामी शिवानन्दजीकी ही एक दूसरी पुस्तक है—'ब्रह्मचर्य ही जीवन है'—यह भी बहुत उपयोगी है।

जब कामका नशा होता है तब जैसे शराबी आदमीको अपने धर्मका ध्यान नहीं होता है, वह अपने स्वरूपको भूल जाता है, वैसे ही जब किसी स्त्रीका किसी पुरुषके प्रति अथवा किसी पुरुषका किसी स्त्रीके प्रति आकर्षण हो जाता है तो वह बिल्कुल पागल हो जाता है। यह काम आदमीको पागल बना देता है—

पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः।

यह बेवकूफीका लक्षण है कि बाहरकी वस्तुओंको देखकर आदमी मुग्ध हो जाता है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः,
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

यदि मनुष्य चाहे तो इसी जीवनमें सारी कामनाओंका नाश हो सकता है और इसके लिए उसे अपनेमें अपनी पूर्णताका अनुभव होना

चाहिए; भगवान्‌के सौन्दर्यका चिन्तन करना चाहिए और बाह्य विषयोंमें नहीं फँसना चाहिए।

एक विश्व-सुन्दरी थी, महात्मा बुद्धके समयमें। उसे अपने सौन्दर्यका इतना अभिमान था कि किसीको कुछ गिनती ही नहीं थी। बड़े-बड़े राजा-महाराजाने उसके पास प्रस्ताव भेजा, सबको उसने ठुकरा दिया—मेरे बराबर कौन है? लोग उसके भौंरे हो गये—बड़ी सुन्दर! महात्मा बुद्धने उसके पास समाचार भेजा—मेरे पास आओ। गयी बेचारी विश्व-सुन्दरी। १६-१७ वर्षकी उमर होगी। सामने गयी, तब बुद्धने कहा—'खड़ी रहो!' खड़ी हो गयी। कुछ मिनट बाद उसको लगा कि मैं १६ वर्षकी नहीं २५ वर्षकी हूँ; फिर लगा कि मैं ३५-४० वर्षकी हो गयी हूँ, फिर लगा कि ५०-५५ वर्षकी हो गयी हूँ और मेरे बाल पकने लगे हैं, दाँत टूटने लगे हैं और फिर लगा कि मैं ७०-७५ वर्षकी बुढ़िया हो गयी हूँ, मेरी कमर लटक गयी है और मैं लठिया लेकर चल रही हूँ। वह चिल्लायी—महात्माजी, यह क्या हो रहा है? बुद्ध बोले—हो कुछ नहीं रहा है, जो होनेवाला है, सो दीख रहा है। जरा अपनेको देखो! अन्तमें यही होनेवाला है। इसलिए इतराओ मत और अपने सौन्दर्यका अभिमान मत करो। यह एक दिन नष्ट होनेवाला है और जब यह नष्ट होनेवाला ही है तब इसको पाकर पाप मत करो, बुराई मत करो।

एक बम्बईके सेठ हैं। उम्र तो बड़ी हो गयी है पर, ईश्वर-कृपासे अभी जिन्दा हैं। वे एक बार कर्णवास गये—श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास। उनसे उन्होंने एकान्तमें बात की। एकान्तमें बात करनेवाले लोग प्रायः अच्छी बात नहीं करते हैं। इसका अनुभव आपको तो इतना हो कि न हो, हमको इसका बड़ा भारी अनुभव है। मामले-मुकदमेकी बात करेंगे, स्त्री-पुरुषकी बात करेंगे, कुछ माँगेंगे—ईश्वरकी बात तो बहुत कम लोग अकेलेमें करते हैं। सेठजीने कहा कि महाराज, सुन्दर स्त्रीको देखकर मेरे मनमें काम-वासनाका उदय हो जाता है, मुझे क्या करना चाहिए, कृपया बतायें!

बाबा बोले—'बस, चाम हटा दो—पुरुषके शरीरका भी और स्त्रीके शरीरका भी। और शरीरपर चाम नहीं होगा तो जानते हैं क्या होगा? घृणा हो जायेगी और सारी वासना खत्म हो जायेगी।' यह तो सिर्फ बाहरी सुन्दरताको ही देखकर कमजोर आदमी कामान्ध हो जाता है।

चामके अन्दर क्या होता है? खून छलकता है, पीप होता है, हड्डी है, मांस-मेदा होता है, मल-मूत्र होता है, थूँक होता है और जब मनुष्य कामान्ध होता है तब यह काम उसको कितना पागल, कितना अन्धा बना देता है कि तब वह थूँकसे प्रेम करता है, मल-मूत्रसे प्रेम करता है—उसको कुछ भी ख्याल नहीं रहता। तो, इस अवस्थासे बचनेके लिए आप कामके जो दोष हैं, उनका चिन्तन कीजिये और शंकरजीका ध्यान कीजिये—जिन्होंने एक नजरमें ही कामका नाश कर दिया!

अरे ओ काम, तूँ मेरे सामने धनुष-वाण चढ़ाता है! देख—

मेरे हृदयमें चन्द्रचूड़—जो चन्द्रमाका तिलक लगाये हुए हैं और जो गंगाजीको अपने सिरपर लिये हुए हैं और जिनके शरीरमें साँप हैं—वे शंकरजी बैठे हुए हैं, मेरे पास आनेका नाम भी मत ले!

आप ध्यान कीजिये उस समयका, जब प्रह्लादकी रक्षा करनेके लिए और हिरण्यकशिपुको मारनेके लिए भगवान् खम्भेको फाड़कर हा-हा-हा करके, लकड़ीके बेटे बनकर निकले और अपने पञ्जोंसे हिरण्यकशिपुको मारनेके लिए दौड़े—आपका काम तुरत भाग जायेगा!

और, सबेरे उठकर प्रार्थना कीजिये कि मेरे मनमें कामका आकर्षण न आवे; प्रतिज्ञा कीजिये—आज हम उसके वशमें नहीं होंगे और शामको निरीक्षण कर लीजिये कि उसके वशमें हुए तो नहीं, काम मिट जायेगा।

देखो, गीतामें तो यहाँतक कह दिया—'प्राक् शरीरविमोक्षणात्'—माने शरीर छूटनेके बाद जैसी निर्विकारता शरीरमें रहती है वैसी निर्विकारता शरीर छूटनेसे पहले आ जानी चाहिए। तो—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।

महाभारतमें एक कथा आयी है—एक महात्मा थे। उनके मनमें वैराग्य जरा ढीला पड़ा और कर्तव्य-भावका उदय हुआ—हम भिक्षा माँगकर खाते हैं। तब? अपने हाथसे खेती करके अन्न पैदा करेंगे और और तब खायेंगे! खेती करनेके लिए दो बैल खरीद कर ले आये। उनको जोड़कर छोड़ दिया—घास चरने। घास चरते-चरते दोनों बैल एक जगह बैठ गये। इतनेमें कहींसे एक ऊँट दौड़ता हुआ आया और दोनों बैलोंके बीचसे निकला और उसने अपनी गर्दनसे वह रस्सी उठा ली—जिससे दोनों बैल जुड़े हुए थे। अब दोनों बैल ऊँटके कन्धेसे लटक गये—एक ऊँटके दाहिनी ओर और एक ऊँटके बायीं ओर। ऊँट बड़ा ऊँचा और बैल छोटे-छोटे। अब महात्माजी बोले—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

ऊँटके शरीरपर जैसे दो हीरे लटका दिये गये हों—दो सफेद बैल उन्हें दो हीरे जैसे लग रहे थे—महात्माजी, अब दुःखी हो रहे हैं—मेरे प्यारे बैल; तुम लोगोंकी यह गति !—अब करो खेती ! पाँच मिनटकी कामना-पूर्तिके लिए आपको तेइस घण्टेकी गुलामी करनी पड़ेगी। करो बेटा !

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।

अरे ओ काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ, मैं तुझे उखाड़ फेकूँगा। 'न त्वां संकल्पयिष्यामि'—जब तुम किसी स्त्रीको, किसी पुरुषको सुखदायी समझते हो, बढ़िया समझते हो तब ना मेरे मनमें आते हो !! मैं अपने मनमें कभी ऐसी कल्पना करूँगा ही नहीं—

तेन मे न भविष्यसि।

एक बड़े प्रसिद्ध उपदेशक हैं—उनका एक स्त्रीसे प्रेम हो गया। गृहस्थकी स्त्री थी पर हो गया प्रेम। वृन्दावनकी बात है। श्रीउड़िया-बाबाजीका शरीर तो पूरा हो गया था—अतः बात श्रीहरिबाबाजीके पास गयी। हरिबाबाने उपदेशकजीको बुलवाया और कहा—'देख, अगर सचमुच उससे तेरा प्रेम है और तुममें हिम्मत है तो तू उससे ब्याह कर ले, और ब्याह करनेके बाद भी हम तुम्हें आश्रममें ही रखेंगे, निकालेंगे नहीं और ऐसे ही तुम्हारा आदर करेंगे, कथा सुनेंगे, जैसे अब सुनते हैं। पर सच्चाईके साथ, हिम्मतके साथ, कह तो !' बस, फिर छूट गया !

तो, यह जो काम है—इसमें बड़ा सुख है, इसमें बड़ा सुख है यह सोच-सोचकर और इससे मिलनेमें मजा आता है, इससे बात करनेमें मजा आता है, इसको देखनेमें मजा आता है, ऐसा समझ-समझकर ही उत्पन्न होता है। आजका स्वच्छन्द जमाना और अकेले सब जगह जाना, यात्रा करना, होटल-होस्टलमें रहना, अनजान लोगोंसे मिलना-जुलना—जीवनको अस्त-व्यस्त-त्रस्त कर देता है। कदाचित् चरित्रके प्रति पहले जो आदर-भाव था, नैतिकताके प्रति जो आदर-भाव था—वह बना रहता तो काम आनेपर भी आपका जीवन व्यवस्थित रहता। पर, यह जो अव्यवस्था आ गयी—यह दुःखद है। सावधान रहकर इससे बचना चाहिए और बन सके उतना सदाचारी लोगोंके साथ (सत्सङ्गमें) रहना चाहिए। ●

: ७३ :

बुद्धियोग और कर्मयोगका विवेक

प्रश्न : योग किसे कहते हैं और वर्तमान युगमें कर्मयोग एवं बुद्धियोगमें कौन-सा विशेष महत्त्वपूर्ण है और उनका क्या-क्या योगदान है—कृपया समझायें !

उत्तर : 'योग' शब्दका प्रयोग जुड़नेके अर्थमें होता है। माने दो चीजें जब आपसमें जुड़ जाती है तब उसको 'योग' कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्रमें वैद्य लोग अनेक औषधियोंको एकमें मिलानेको 'योग' कहते हैं। जैसे—'मिक्सचर'। तो 'मिक्सचर' माने कई औषधियोंका योग। पर 'योग' शब्दका यह अर्थ संयोगके अर्थमें हुआ और 'योग' शब्दका दूसरा अर्थ होता है—समाधिके अर्थमें—अर्थात् जब समस्त चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयके भेदको नहीं दिखाती हैं—माने ज्ञाता ज्ञेयसे एक हो जाता है अथवा ज्ञेय ज्ञातासे एक हो जाता है अथवा ज्ञाता, ज्ञेय दोनों ज्ञानसे एक हो जाते हैं—और तब इसको ग्राह्य-समापत्ति, ग्रहण-समापत्ति आर गृहीत-समापत्ति बोलते हैं।

अब, जैसे आप अपने माता-पिताकी भक्ति करते हैं अथवा देशकी भक्ति करते हैं तो उसको मातृ-पितृ भक्तियोग अथवा देश-भक्तियोग नहीं कहा जायेगा, उसको मातृ-पितृ-भक्ति कहा जायेगा अथवा देश-भक्ति कहा जायेगा। क्योंकि हमारे शास्त्रानुसार योग शब्दका प्रयोग तभी किया जाता है जब वह भगवान्‌के लिए होता है। जैसे यदि आप भगवान्‌की भक्ति करोगे तो वह भक्तियोग कहा जायेगा और भगवान्‌के लिए कर्म करोगे तो वह आपका कर्मयोग होगा और यदि आप भगवान्‌के साथ अपनी बुद्धि जोड़ोगे तो वह बुद्धियोग कहा जायेगा।

गीतामें बुद्धियोग और कर्मयोग इन दोनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है। जो बुद्धियोग है सो ही वहाँ कर्मयोग है और जो कर्मयोग

है सो ही बुद्धियोग है। क्योंकि बुद्धि ही कर्ता है और बुद्धि ही सब करती है। विज्ञानमय कोषमें स्थित होकर बुद्धि कर्ताका रूप ग्रहण करती है और वही कर्म भी करती है। जिसकी जैसी बुद्धि है, उसके अनुसार बुद्धि कर्म करती है। परन्तु, सब कर्मोंको योग नहीं कहा जाता—जैसे कोई निद्रा-कर्म करे—माने सो जाये या आलस्य करे या प्रमाद करे तो उनको निद्रायोग, तन्द्रायोग या प्रमादयोग नहीं कहेंगे—यह तो निकम्मे-पनकी बात है। यदि कोई निषिद्ध कर्म करे, व्यभिचार करे तो उसका नाम भी व्यभिचार-योग नहीं होगा। चोरी करे अथवा हिंसा करे तो उसे भी चोरी-योग या हिंसा-योग नहीं कहेंगे। माने कर्ममात्रका नाम योग नहीं होता है—माता-पिताकी सेवा, ऋषिकी सेवा, देवताकी सेवा, गुरुकी सेवा, अपने स्वाध्यायकी सेवा प्राणी मात्रकी सेवा—इन सब सेवाका नाम योग होता है। पर, इसमें भी एक प्रश्न है—यह सब किसलिए करते हो? इस सम्बन्धमें एक घटना आपको सुना देता हूँ।

एक बारकी बात है, नागपुरके एक सज्जन मुझसे मिलनेके लिए आये। उन्होंने साढ़े तीन करोड़ 'हरे राम' मन्त्रका जप किया था। आये, बैठे फिर मुझसे पूछा—'स्वामीजी, मैंने भगवान्‌के नामका इतना जप किया, पर मुझे तो भगवान्‌का दर्शन हुआ ही नहीं।' अब आप देखें—पहली बात इसमें यह है कि कहीं भी उपनिषद्‌में यह नहीं लिखा है कि साढ़े तीन करोड़ 'हरे राम'के जपसे भगवान्‌का दर्शन होता है। उसमें लिखा है कि इतना जप करनेसे मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है—तो यह बात वैसे कट गयी और दूसरी बात मैंने उनसे पूछी कि कितने वर्षमें आपने इतना नाम जप पूरा किया और इस बीचमें आपने इस मन्त्र-जपके फलस्वरूप भगवान्‌से कुछ माँगा कि नहीं! भगवान् मेरे बेटेका रोग दूर हो जाये, उसे अच्छा काम मिल जाये, मेरा स्वास्थ्य ठीक रहे, मेरी आमदनी बढ़ जाये? तो बोले—'बीच-बीचमें माँगते तो रहे!' तब फिर बताओ भला, 'हरे राम',—मन्त्र भला अपना फल बार-बार कहाँसे देगा!

देखो, हम विस्तार नहीं करते हैं। आपसे पूछते हैं कि आप कर्म किसलिए करते हैं? अपने कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए कि हमारा कर्त्तव्य है या कि कुछ पानेके लिए? जैसे एक नौकर है अथवा मुनीम है—वह अपने मालिककी सेवा करता है, परन्तु वह सेवा करता है—

तनख्वाह पानेके लिए और एक पत्नी है या एक बेटा है, वह अपने पतिकी या अपने पिताकी सेवा करता है, अपना कर्त्तव्य समझकर। तो नौकर और मुनीमका कर्म (सेवा) सकाम हुआ और पत्नी व बेटेका कर्म (सेवा) निष्काम हुआ। जरा जाँचिये कि आप जो कर्म करते हैं, वह सकाम है कि निष्काम है ? यदि सकाम है तो भी उसको वैदिक दृष्टिसे कर्मयोग कह तो सकते हैं, क्योंकि उसमें निषिद्ध-कर्मोंका परित्याग है, लेकिन वह पूर्ण कर्मयोग होता नहीं है। अच्छा, आप कहें—आप अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्म करते हैं—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

तो वह योग हो गया। क्योंकि व्यवहारमें जब आप कर्म करते हैं तब उसका नाम भी योग होता है। पर, कैसे होता है ? बताया कि, 'कर्मसु कौशलम्'—बड़ी बुद्धिमानीसे कर्म कीजिये—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

आप अपना कर्म कीजिये, परन्तु फलकी ओर दृष्टि मत रखिये। कर्त्तापनका अभिमान मत कीजिये और कामना मत कीजिये। जब हम कर्मके फलका इन्तजार करने लगते हैं, उसको चाहने लगते हैं, तब कर्म उस दो आने पैसेके बराबर हो जाता है जिससे हम बेरका फल खरीदना चाहते हैं—कर्म लो और फल दो। तो बेच दिया ना हमने कर्मको कि इससे हमको यह मिले ! माने कर्म हो गया—रुपया और फल चाहना हो गया—बेर। तो भाई मेरे, बेर खानेके लिए आपको रुपया तो देना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जब हम कर्म करके उसका कोई फल चाहते हैं तो कर्मकी कीमत कम हो जाती है और उससे चाही जानेवाली चीजकी कीमत अधिक हो जाती है, इससे कर्मका अपमान हो जाता है। आप किसीको एक गिलास पानी पिलाकर खुश नहीं होते हैं, उसको 'टिप' चाहते हैं तो आप होटलसे बैरा हो गये ना ! तो केवल कर्म करना ही आपके लिए सर्वस्व नहीं होना चाहिए, कर्म करके कर्मके फलकी चाह भी नहीं करनी चाहिए।

कर्ममें तीन बात नहीं होनी चाहिए—(i) कर्त्तापनका अभिमान न हो; (ii) कर्मके साथ-साथ कामना न हो और (iii) कर्मके पश्चात् उसके

फलकी आकांक्षा न हो, तो कर्म, कर्मयोग हो जाता है और कर्मयोगसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं होती है, आत्माके रूपमें परमात्माका साक्षात्कार तक हो जाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

माने—कर्मयोगके द्वारा भी परमात्माका साक्षात्कार होता है, यदि वह बिल्कुल ठीक-ठाक किया जाये। इसमें वेदान्तियोंका विवेक यह है कि कर्मयोगके द्वारा सगुण-ईश्वरका साक्षात्कार होगा और ज्ञानयोगके द्वारा निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार होगा।

अब आप बुद्धियोगकी बात सुनें—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

जो स्वर्गके लिए कर्म करते हैं, उनकी बुद्धि तो व्यवसायात्मिका है ही नहीं। उनकी बुद्धि तो—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

बहुशाखा है और उनका अन्त नहीं है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

और यहाँ एक व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। जो व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है, इसके लिए भगवान्‌ने कहा—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।' आप बुद्धियोगकी शरण ग्रहण कीजिये। जो कृपण हैं, वे फल पानेके लिए कर्म करते हैं। माने वह मजदूर है और मजदूरी पानेके लिए कर्म करता है। पर, जो निष्काम कर्म करता है—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

वह मालिककी मौज है, उसके लिए करता है। एक दूसरे और भी हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

जो भगवान्‌में मन लगाते हैं, उनको भगवान् बुद्धियोग देते हैं। बुद्धियोगका आश्रय लेकर मन भगवान्‌में लगाया गया और भगवान् प्रसन्न हुए तो उन्होंने बुद्धियोग दिया। माने—बुद्धियोगसे भगवान्‌में मन लगता

हैं और भगवान्‌की प्रसन्नतासे बुद्धियोग होता है। अब आप देखिये इस बुद्धियोगकी महिमा—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

जो बुद्धियोगी है, वह ऐसी कुशलतासे काम करता है कि उसको पाप-पुण्य लगता ही नहीं है। 'सुकृत' माने पुण्य और 'दुष्कृत' माने पाप। माने जब बुद्धियोगी कर्म करता है तब पाप-पुण्य यहीं छूट जाते हैं, उसके साथ नहीं लगते। क्योंकि—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

यदि मनुष्य बुद्धियुक्त होकर कर्म करे तो कर्मका जो फल है—सुख-दुःख वह उसको नहीं लगेगा। माने वह पाप-पुण्यसे भी मुक्त हो गया और उसका संचित प्रारब्ध भी कुछ नहीं बनेगा। यह कैसे हुआ? बुद्धि-योग कर्मसे हुआ। अब—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

सुने-सुनायेके चक्करमें मत पड़ो। अपनी बुद्धिको परमात्मामें स्थिर करो। इस तरह हम देखते हैं कि बुद्धियोगकी बहुत महिमा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

निष्काम बुद्धि, सुख-दुःखमें समबुद्धि, शुभाशुभमें अभिनन्दन व द्वेषसे रहित बुद्धि, कछुएके समान बिल्कुल संयममें आयी हुई बुद्धि, परमात्माके साक्षात्कारसे रसमें निहित बुद्धि, काम-क्रोधादि दोषोंसे रहित बुद्धि स्थिर-बुद्धि होती है और उसे स्थितप्रज्ञताकी प्राप्ति होती है। बुद्धियोग और कर्मयोग तो बिल्कुल एक ही हैं। इसमें, आलस्य, निद्रा, प्रमाद न होना स्थूल पदार्थ है, कामना न होना सूक्ष्म पदार्थ है और कर्त्तापनका न होना तो तत्त्वविचारसे होगा। तो—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

प्रकृति कर्म करती है, आत्मा नहीं; गुण कर्म करते हैं, आत्मा नहीं और—'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।' तत्त्वज्ञ सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

गीतामें पाँच बातें स्पष्ट रूपसे कही गयी हैं—(i) निकम्मेपनका त्याग; (ii) निषिद्ध कर्मका त्याग; (iii) कर्ममें-से कामनाका त्याग; (iv) कर्तृत्वका त्याग और—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया॥

(v) ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म करना, वासनाकी प्रेरणासे नहीं।

अब देखिये, तीन तरहके कर्म हो गये। ईश्वरकी प्रेरणासे कभी; शास्त्रानुसार कर्म और वासनानुसार कर्म अथवा कर्म और कर्त्तापर आपकी दृष्टि नहीं है, सहज भावसे जो हो रहा है, सो हो रहा है। तो आप, अपने कर्मको तौलिये। बुद्धिके बिना जो कर्म होगा, वह बिल्कुल यान्त्रिक होगा और कर्मके बिना जो बुद्धि होगी वह केवल ख्याली होगी, कल्पनात्मक होगी। इसलिए, बुद्धियोग और कर्मयोगको एक समझिये और अपने अधिकार और अपनी योग्यताके अनुसार अपने कर्त्तव्य-कर्मका पालन कीजिये। वह कर्म भगवद्-सर्मपित हो जाये अथवा कर्मसे आपका कोई सम्बन्ध न रहे अथवा कर्त्ता, करण और कर्मकी त्रिपुटी हो जाये। आप जिस प्रकारका कर्मयोग करते हैं कीजिये—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

चाहे सिद्धि हो चाहे असिद्धि, गंगाजी आयें कि न आयें, अंशुमान् तो उसके लिए तपस्या करेगा और अंशुमान् जब तपस्या करेगा, तब अगली पीढ़ी भी करेगी, गंगाजी तो आयेंगी ही। लेकिन अंशुमान्‌को इस बातकी परवाह नहीं है कि हमारी तपस्यासे गंगाजी आयेंगी कि नहीं आयेंगी, वह तो तपस्या कर रहा है। यह बुद्धियोग और कर्मयोगका विवेक है।

●

: ७४ :

मानस रोगकी अचूक चिकित्सा : पुराण

प्रश्न : आजकल डॉक्टर सभी बीमारियोंका एकमात्र कारण बताते हैं—मानसिक तनाव। कृपया समझायें कि मानसिक तनाव क्या होता है, क्यों होता है और कैसे दूर किया जा सकता है ?

उत्तर : मानसिक तनाव माने अपने मनका काम नहीं होना—जो हम चाहते हैं सो नहीं होना और जो हम नहीं चाहते हैं सो होना।

अब देखना है कि मानसिक तनाव होता क्यों है ? मानसिक तनाव तब होता है जब हम अपने मनका काम दूसरोंसे करवाना चाहते हैं और वह नहीं होता है। जैसे, बाप चाहता है कि बेटा सब मेरे ही मनका काम करे—मेरे मनके अनुसार कपड़ा पहने, बाल बनावे, काम भी मेरे मनके अनुसार करे, व्याह मेरे मनके अनुसार करे, अपनी पत्नी व बच्चोंसे बात भी मेरे मनके अनुसार करे और बेटा नहीं करता तो बापके मनमें तनाव आजाता है।

बेटा चाहता है कि बाप उसके मनके अनुसार करे और वह नहीं करता तो बेटेके मनमें तनाव आजाता है; बहू कहती है—सासजी तीर्थ-

यात्रा करने क्यों जाती हैं? उनके जानेपर घरमें कोई बच्चा खिलानेवाला नहीं रह जाता है और फिर हम घूमने, बाजार नहीं जा पाती हैं—यह बहूके मनका तनाव और सासजी कहती हैं कि बहू हमसे पूछकर कुछ नहीं करती है—तो यह सासके मनका तनाव होता है। अर्थात् अपने मनका न होना ही, मानसिक तनावका एक कारण है।

मानसिक तनावका दूसरा कारण—शक्तिसे अधिक श्रम करना। माने जितनी शक्ति शरीरमें भगवान्‌ने दी है, जब उससे अधिक काम करते हैं, तब पता नहीं लगता कि हमें क्यों उद्वेग हो रहा है, पर बात यही रहती है। बचपनकी एक शक्ति होती है, जवानीकी शक्ति एक होती है, अधेड़पनकी शक्ति और होती है और बुढ़ापेकी और। और होता क्या है कि बूढ़ेलोग तो 'रिटायर्ड' होनेका नाम ही नहीं लेते हैं और बच्चोंको आनेसे रोकते हैं।

भाई, नयी सृष्टि आयेगी, पुरानी सृष्टि बदलेगी, अब तुम्हारे जानेका समय आगया, तुम तैयार हो जाओ और नयोंको आने दो। एकके घरमें हमने देखा—बीस-बीस वर्षकी आयी हुई बहुएँ हैं—दो-दो, तीन-तीन, चार-चार उनके बच्चे, पर ससुर लोग शक्कर, घी, चावलकी चाभी भी अपने हाथमें रखते हैं और रसोई बनानेके लिए अपने सामने तौलवाकर देते हैं। बाप है साठ वर्षका और बेटा हो गया चालीस वर्षका—न उसको व्यापारका गुर बताते हैं और न तिजोरीकी चाभी देते हैं और स्वयं मालिक बने बैठे हैं—तो बच्चे बात नहीं मानते और इससे मानसिक तनाव होता है।

इसके सिवाय शरीरमें वात, कफ और पित्तका साम्य चाहिए। थोड़ी घट-बढ़ तो इनमें चल सकती है—पर अधिक नहीं। ज्यादा घट-बढ़ होनेसे, खानेमें असंयम होनेसे, पूर्ण विश्राम नहीं करनेसे और भोग-विलासमें अधिक रुचि रखनेसे, शरीरमें जो काम-क्रोधादिके विकार आते हैं—वे यदि जवानीमें हों तब ता शरीर उनको सह लेता है, पर यदि काम, क्रोध और लोभ बुढ़ापेमें आवें, बुढ़ापेमें भी पिण्ड न छोड़ें तो शरीरमें अनेक विकार और रोग पैदा हो जाते हैं। बचपनमें और जवानीमें यह मालूम नहीं पड़ता है कि वीर्यपातसे हमारे शरीरमें क्या हानि होती है, पर जब शरीर बुढ़ापेकी ओर अग्रसर होता है तो स्पष्ट बता देता है कि अधिक भोग-विलास करनेमें क्या हानि है। क्रोध करनेमें

क्या हानि है। देखो, जवानको क्रोध आवे तो वह लाठीसे मार दे और बुड्ढेको क्रोध आवे तो उसीका शरीर थर्र-थर्र काँपने लगे, कभी बेहोश होकर भी गिर जाये। इस तरह हम देखते हैं कि काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर जीवन बिताना अविवेकपूर्ण जीवन बिताना है—इसमें हमारे शरीरमें धातुओंकी विषमता उत्पन्न हो जाती है और हम रोग-ग्रस्त हो जाते हैं।

अब, इससे बचनेका उपाय हम आपको बताते हैं—आप पुराणका श्रवण कीजिये, भागवत सुनिये, विष्णु-पुराण सुनिये, वाल्मीकि रामायण सुनिये, महाभारत सुनिये—माने ये जो कथावाले पुराण हैं—इनका श्रवण यदि आप बुढ़ापेमें करेंगे तो आपके मानसिक विकार शान्त हो जायेंगे और शरीरमें कोई रोग नहीं होगा—'मानसस्य प्रियाख्यानैः—मानस-रोगकी चिकित्सा ही यह है कि प्यारे-प्यारे भगवान्‌के उपाख्यान सुननेको मिलें। चुटकुले सुनो, कहानी सुनो, पुराने महात्माओंकी कथाएँ सुनो, अरे बाबा, रामलीला सुनो—आपका बुढ़ापा भी सार्थक हो जायेगा और शरीरमें कोई रोग नहीं होगा। मुट्ठी तो बाँधकर रखते हैं और हाय-हाय करते रहते हैं। देखो, एक कहानी सुनो—एक बच्चेके हाथमें एक गिन्नी आ गयी और वह बैठ गया अब मुट्ठी बाँधकर। खोले ही नहीं, खोले ही नहीं। सब बोले—'हाथ जम गया!' फिर कहा—चलो आपरेशन कराओ। तैयारी होने लगी। तभी एक बुढ़िया आगयी। पूछा उसने—'क्या बात है?' पता चला। गयी लड़केके पास। पूछा उसने—'किसका बेटा है?' बोला—'सुनारका।' 'हाथमें क्या है?' 'गिन्नी।' बुढ़िया उसके बापसे बोली कि एक डॉलर ले आओ। वह ले आया और बुढ़ियाने जैसे ही डॉलर बच्चेको दिखाया कि उसने झट गिन्नी छोड़ दी और डॉलर ले लिया!

तो, आप भी मुट्ठी खोलिये और गिन्नी (दुनियावालोंके सुख-सौभाग्यकी चर्चा) छोड़कर सीता-रामका प्रेम, राधा-कृष्णका प्रेम, रुक्मिणी-वल्लभका विहार, गौरी-शङ्करका विहार—इन सबका श्रवण कीजिये, मनन कीजिये, अध्ययन कीजिये (डालर पकड़िये), आपके मानसिक तनाव दूर हो जायेंगे, शारीरिक रोगोंकी पीड़ा कम हो जायेगी, शारीरिक रोग दूर हो जायेंगे। मानस-रोगकी अचूक चिकित्सा—पुराण है!

●

: ७५ :

विलक्षण माँग

प्रश्न : कुन्तीने जो भागवतमें भगवान् कृष्णकी स्तुति की है—उसका सार-सार समझानेकी कृपा करें !

उत्तर : देखो, स्तुति बहुत बड़ी है और उसके तो एक-दो श्लोकका अर्थ बोलनेमें ही महीना लग जाता है। इसलिए, उस स्तुतिके किसी श्लोकमें आपको कोई शङ्का हो तो, वह पूछ लीजिये और पूरे अध्यायकी कथा सुननी हो तो किसी विद्वान्से सुन लीजिये और हाँ, सुनकर उसको दक्षिणा भी दीजियेगा, भला !

दूसरी बात यह है कि भागवतके प्रथम स्कन्धमें पहली स्त्रीके रूपमें कुन्तीकी पुत्र-वधू द्रौपदीका वर्णन है। वह अग्नि-पुत्री है, पापियोंको भस्म करनेके लिए अग्निकुण्डसे उत्पन्न हुई है, इसलिए, उसपर मनुष्य-धर्मके नियम लागू नहीं होते हैं और उसके जो पाँचों पति हैं—वे भी देवताके पुत्र हैं, इसलिए सभी देवता हैं और उनके ऊपर भी मनुष्य-धर्मके नियम लागू नहीं होते हैं। यह तो उनका लोकानुग्रह है, लोक-संग्रह है कि वे मनुष्योंके लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वैसे, सारे महाभारतकी जड़ द्रौपदी ही है।

अब देखो, द्रौपदीके जीवनमें सङ्कट आता है—उसके पाँचों निरपराध पुत्र सुषुप्ति अवस्थामें मारे जाते हैं। दुःख होता है, परन्तु जब मारनेवाला पकड़कर लाया जाता है और द्रौपदीके सामने प्रस्तुत किया जाता है तब उसके मातृत्वका भी लोप हो जाता है कि मैं उन पुत्रोंकी माँ हूँ जिनको इसने मार दिया है और उसका देवित्व जागृत होता है और वह अपने पति अर्जुनसे कहती है—'मुच्यताम्-मुच्यताम्'—छोड़ दो इसको, छोड़ दो इसको, जल्दी छोड़ दो और उसको प्रणाम करती है और कारण क्या बताती है कि जैसा दुःख मुझे अपने बच्चोंके मरनेपर हुआ वैसा ही दुःख इसकी माँको इसके मरनेपर होगा—'मा रोदीदस्य जननी'। यह होता है—माँका हृदय। तो द्रौपदी कैसी वाणी बोलती है—न्याय, धर्म, करुणा, सत्यसे पूर्ण, निर्भीक और राग-द्वेष और पक्षपातसे रहित—महत् उदार, परम उदार।

दूसरी स्त्री है—उत्तरा। उसके ऊपर भी संकट आया। गर्भमें बालक था—कौरव-पाण्डव वंशका वीर्य—परीक्षित और उसपर चलाया गया—ब्रह्मास्त्र। यदि परीक्षित न हो तो कौरव-पाण्डव वंशका ही लोप हो जाये। जहाँ दुर्योधन वगैरह सौ भाई और युधिष्ठिर वगैरह पाँच भाई, वहाँ वंशमें बच गया केवल एक व्यक्ति वह भी गर्भमें और उसपर भी छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र। ब्रह्मास्त्र, वह होता है जिसकी कोई दवा नहीं होती है—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय—नान्यं गणयतः क्वचित्।

जिसके हाथमें ब्रह्मास्त्र आगया उसे तो किसीसे डरनेकी कोई जरूरत ही नहीं है, क्योंकि वह तो कभी पराजित हो ही नहीं सकता। इसलिए, वह गयी—भगवान्‌की शरणमें। उसने अपनेको प्रस्तुत किया, इस रूपमें—मैं भले ही मर जाऊँ, परन्तु मेरे बालककी रक्षा करें। और भगवान्‌ने उसके गर्भमें प्रवेश करके, उसके द्वितीय पुत्र बनकर, परीक्षितकी, अपने बड़े भाईकी रक्षा की! असलमें माता तो वही है जो भगवान्‌को अपने गर्भमें ले सके। प्रत्येक स्त्रीमें भगवान्‌को अपने गर्भमें धारण करनेकी शक्ति है। असलमें, स्त्री बनायी ही इसलिए गयी है कि अजन्मा भगवान् उसके द्वारा जन्म ग्रहण करें।

तीसरी स्त्री है—कुन्ती जिसके बारेमें पूछा गया है। भागवतके मूलमें यह बात आयी है कि उसने श्रीकृष्णकी बाललीला भी देखी थी

और जिस दिन माता यशोदाने श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँधा था, उस दिन वह गोकुलमें ही थी। कुन्ती कहती है कि कृष्ण, उस दिन जब यशोदा मैयाने तुम्हें बाँध दिया और तुम्हारी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे, तब मैंने अपनी आँखोंसे देखा—तुम उस समय कितना डर रहे थे! स्वयं भय जिससे भयभीत रहता है, वह माँसे भयभीत हो रहा था। तुम माँके पुत्र बने और माताका पुत्र-भाव ऐसा हुआ कि उसने नित्य-मुक्तको बाँध लिया। प्रेममें वह शक्ति है जो नित्य-मुक्तको बाँध ले, अद्वितीयको सद्वितीय बना दे, वैराग्यवान्को रागी कर दे, मरे हुएको जिन्दा कर दे, दूरको निकट कर दे, दूसरेको अपना बना दे। कुन्तीने बताया, मैंने देखा—

या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।

तुम्हारा मुँह लटका हुआ था, आँखोंसे आँसू गिर रहे थे और तुम डर रहे थे। जब उस झाँकीकी याद आती है, तब मैं मुग्ध हो जाती हूँ कि ईश्वर बेटा बनता है तो ऐसा प्रेमके वशमें हो जाता है—यह सब कुन्तीकी स्तुतिमें है।

एक बात कुन्तीकी विलक्षण है—लोग तो कहते हैं कि महाराज, हमको यह नहीं चाहिए, पर कुन्तीकी तो माँग ही वह है—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यात् अपुनर्भवदर्शनम्॥

हे प्रभु, हमारे जीवनमें सदा सर्वदा, लगातार—एकके बाद एक, एकके बाद एक, एकके बाद एक विपत्ति आया करे, माने हमारे जीवनमें ऐसी परिस्थिति आजाये कि कहीं पाँव रखनेको जगह न हो। विपद् पद हलन्त ही है, सब हलन्त ही होते हैं—कहीं पाँव रखनेका ठौर न मिले ऐसी विपत्ति हमारे जीवनमें आवे और लगातार आवे। कहाँ-कहाँ आवे? कहा कि जहाँ-जहाँ हम हों वहाँ-वहाँ आवे—तत्र-तत्र। और लगातार शश्वत् आवे। शश्वत् माने लगातार। 'तस्मिन्-तस्मिन् देशे काले च'—जिस-जिस देशमें हम हों, जिस-जिस कालमें हम हों—वहाँ हमारेपर विपत्ति आवे। कुन्तीका कहना है कि भगवान् विपत्ति भेजते हैं—शिक्षाके लिए। यदि मनुष्यके जीवनमें विपत्ति न आवे तो उसकी सहनशक्ति ही नहीं बढ़े, उसकी सोती हुई शक्तियाँ लुप्त ही रहें—यह बात तो बिलकुल साधारण है।

असाधारण बात क्या है कि सबसे बड़ा सहिष्णु अधिष्ठान है—स्वप्रकाश आत्मा और उसको कोई कर्ता माने, भोक्ता माने, पापी माने, पुण्यात्मा माने, परिच्छिन्न माने। वह तो बिल्कुल एकरस है और उसपर देश-काल-वस्तुका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह मायाको सह ले, अविद्याको सह ले, जाग्रतको सह ले, सुषुप्तिको सह ले, समाधिको सह ले, सब उसमें आते-जाते रहते हैं, परन्तु कोई असर नहीं पड़ता। तो यह जीवनमें सहिष्णुताका, सहन-शक्तिका आविर्भाव है, यह जीवनमें ब्रह्म-भावका आविर्भाव है। यह जो ब्रह्मनिष्ठ सहिष्णुता है—यदि यह व्यक्तिके जीवनमें आगयी तो वह सचमुच ब्रह्मके बहुत निकट पहुँच गया और यदि उसे अपने स्वरूपका बोध हो गया, तब तो कहना ही क्या!

अच्छा जी, तो आप हमेशा विपत्ति ही क्यों चाहती हैं? तो देखो, एक महारानी है—महारानी कहो, सेठानी कहो—बात तो एक ही है—हाँ, तो वह कहती है कि ना महाराज, हम ऐसा वरदान भगवान्‌से नहीं माँगती हैं कि हमारे जीवनमें बार-बार, लगातार विपत्ति आवे—हमें यह वरदान नहीं चाहिए। पर कुन्तीका दृष्टिकोण है—

भवतो दर्शनं यत्स्यात् अपुनर्भवदर्शनम्।

क्योंकि जब विपत्ति है तब आप समझ जाओ कि अब बिगुल बज गया, शहनाई बज गयी। शहनाई कब बजती है? जब पुत्र उत्पन्न होता है, विवाह होता है अथवा और कुछ मङ्गल होता है। तो कुन्तीकी डिक्शनरीमें विपत्ति माने है—शहनाई, बैण्ड-बाजा। तो जब-जब विपत्ति आती है तब-तब कुन्ती कहती है कि अब बैण्ड बज गया—अब इस विपत्तिसे रक्षा करनेके लिए भगवान् आनेवाले हैं और हमें भगवान्‌का दर्शन होनेवाला है। देखो लाक्षागृहमें जलनेपर भगवान्‌का दर्शन हुआ, और द्रौपदीको नङ्गा करनेपर भी भगवान्‌का दर्शन हुआ!

मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो।

युद्ध-भूमिमें जब भीष्मने अर्जुनको व्याकुल कर दिया—रक्तसे लथ-पथ हो गया अर्जुन और भगवान् अर्जुनकी रक्षाके लिए रथका पहिया-चक्र लेकर दौड़े भीष्म-पितामहकी ओर—कुन्तीको यह बात मालूम ही नहीं—यह भी वह अपनी स्तुतिमें बोलती है—तब किसने अर्जुनकी रक्षा की? स्वयं श्रीकृष्ण रक्तसे लथ-पथ हो गये, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़

दी और अर्जुनकी रक्षा की। यह कोई साधारण बात है कि ईश्वर अपना वचन भङ्ग कर दे!

वा पट पीतकी फहरान।
धरि चक्र चरणको धावन, नहिं बिसरति वा आन॥

वह भीष्मकी प्रतिज्ञा, वह अर्जुनकी रक्षा ठीक है। पर, यदि भीष्म अर्जुनको संकटमें नहीं डालते तो आप दुनियाको यह कैसे दिखाते कि अर्जुन आपका इतना बड़ा भक्त है कि उसके लिए आप अपनी प्रतिज्ञा भी भङ्ग कर सकते हैं।

एक चौथी स्त्री है—सुभद्रा। यह ऐसी कि इसके इकलौते पुत्र अभिमन्युकी मृत्यु हो गयी, पर वह न तो रोयी ही और न ही उसने किसीसे कोई शिकवा-शिकायत की—न अर्जुनसे, न युधिष्ठिरसे—कृष्णसे भी नहीं। वह—बस, जो हो रहा है, सो श्रीकृष्णके सामने ही तो हो रहा है, फिर उसमें हमें सोचने व बोलनेकी क्या आवश्यकता है? 'स देवो यदैव कुरुते तदैव मङ्गलाय'—भगवान् जो करते हैं, उसीमें मङ्गल है, बोलनेकी आवश्यकता ही क्या है?

तो, आप बड़े प्रेमसे यह स्तुति पढ़िये और यह भूल जाइये कि यह ५००० वर्ष पुरानी है, अथवा यह कुन्ती कर रही है। मैं ही बोल रही हूँ—ऐसा सोचिये। ऐसा मत सोचिये कि ये कुन्तीके शब्द हैं—शब्द किसीके नहीं होते हैं—शब्द तो अनादि, अनन्त, नित्य होते हैं और आकाशमें बिखरे रहते हैं—उसमें किसीकी ममता जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने हृदयसे उस शब्दका उच्चारण कीजिये, यदि उस शब्दका उच्चारण न भी हो तो कोई बात नहीं, वह भाव हृदयमें आने दीजिये—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्॥
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥

हृदय-रत्नाकरके सीकर

हृदय-रत्नाकरके सीकर

[१]

जब जीवनमें राम आते हैं तब जीवन शान्त और सुखी हो जाता है और जब जीवनमें मार (रामका उल्टा—मार माने काम) आता है तब जीवन अशान्त व दुःखी हो जाता है। राम और मार दोनों एक दूसरेके शत्रु हैं, आपको जो चाहिए, अपना लीजिये।

[२]

दूसरोंके दोष देखनेसे अपनेमें अहंकार आता है। अहंकारसे दूर रहना हो तो दूसरोंके दोष मत देखो।

[३]

ईश्वर जिज्ञासासे जाने (पहचाने) जाते हैं, परीक्षासे नहीं।

[४]

समुद्रके सामने जो सिर उठाकर खड़ा रहता है उसको समुद्रको लहरें उठाकर पटक देती हैं और जो सिर झुकाकर सह लेता है उसको किनारे ला देती हैं। मनुष्यको विनम्र होना चाहिए।

[५]

यह शरीर गलतियोंका पुलिन्दा है। इसकी गलतियाँ देखने लग जाओगे तो सारा जीवन इसीमें समाप्त हो जायेगा। अतः गलतियाँ देखना छोड़कर अपने काममें लगो।

[६]

मनुष्यके जीवनमें कृतज्ञता न हो तो उसका जीवन पशुके जीवन-जैसा हो जाता है।

[७]

हम नहीं माँगें—यह हमारा व्रत होना चाहिए। पर यदि कोई हमसे माँगता है तो उसे यथाशक्ति देना चाहिए। दूसरा नहीं माँगे—यह हम कैसे कह सकते हैं ?

[८]

पहले भगवान्से योग होना चाहिए—योग माने जोड़—और फिर अन्य माने दूसरोंसे योग टूटना चाहिए, तब अनन्य-योग हो जायेगा।

[९]

परिस्थितिका असर नहीं पड़ना चाहिए। अपना काम करते रहना चाहिए। तुम न बेटेको बदल सकते हो, न पतिको। फिर क्यों परेशान होते हो ?

[१०]

समस्या बनानेवाले हम ही होते हैं। जो हो रहा है, वह होने दें तो, समस्या बनेगी ही नहीं।

[११]

बिना श्रद्धाके कोई ज्ञान नहीं होता। श्रद्धा हमारी मनःस्थितिको स्थिर करनेमें सबसे बड़ी सहायक है। श्रद्धा ही हमको स्थिर करती है। असलमें, हमारी आकांक्षामें दृढ़ता ही तब आती है, जब हम श्रद्धा करते हैं।

[१२]

कोई भी चीज पानेके लिए आपको कुछ-न-कुछ छोड़ना पड़ेगा। एक चीज हाथमें रहते हुए दूसरी चीज आप पकड़ेंगे कैसे ?

[१३]

संसारके किसी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आपका मोह नहीं हो तो आप हमेशा मुस्कुराते हुए रह सकते हैं।

[१४]

सत्य सरल होता है और असत्य साँपके समान टेढ़ा-मेढ़ा। सरलताका जीवन ही सत्यका जीवन है।

[१५]

ईश्वरकी बनायी सृष्टिका नाम जगत है और जीवकी बनायी सृष्टिका नाम संसार। पृथिवी, जल, अग्नि आदि ईश्वरकी बनायी सृष्टि है—जगत और मैं-मेरा, तूँ-तेरा जीवकी बनायी सृष्टि है—संसार। ईश्वरकी बनायी सृष्टि किसीको बन्धनमें नहीं डालती, किसीको दुःख नहीं देती; जीवकी बनायी सृष्टि जीवको बन्धनमें डालती है, दुःख देती है!

[१६]

अपनेको महात्मा बनाइये। दूसरेको महात्मा बनानेके लिए मत ढूँढ़िये।

[१७]

धनसे सुख नहीं होता है, धर्मसे सुख होता है। जिसके जीवनमें धर्म नहीं है, उसके चाहे अरबों रुपये हों वह सुखो नहीं हो सकता। सुखी वह होगा—जिसके जीवनमें धर्म होगा, त्याग होगा और संयम होगा।

[१८]

जुआ खेलकर कोई सुखी नहीं हो सकता, शराब पीकर कोई सुखी नहीं हो सकता, पर-स्त्री रखकर कोई सुखो नहीं हो सकता। सुखी यदि काई हो सकता है तो धर्मके आचरणसे ही हो सकता है!

[१९]

आप क्या अपने भोगके लिए कमाते हैं? धर्मके लिए कमाते हैं? परमार्थके लिए कमाते हैं? शराब पीनेके लिए कमाते हैं? जुआ खेलनेके लिए कमाते हैं? बम बनानेके लिए कमाते हैं? नहीं आप अगली पीढ़ीके लिए रखनेको, उनको देनेके लिए कमाते हैं? कमाते हैं और पशु-तुल्य जीवन बिताते हैं! सोचिये तो!

[२०]

लोग महात्माके बताये नाम, रूपपर तो विश्वास करते हैं पर

महात्मापर विश्वास नहीं करते। ईश्वरको बनानेवाला कौन? कि महात्मा। फिर? महात्मा ही भगवान् है।

[२१]

आपके हृदयमें साक्षात् भगवान् निवास करते हैं—कोटि-कोटि कल्प-वृक्ष, कामधेनुको बनानेवाले। आप जो अपने हृदयमें सोचते हैं, सब रेकार्ड होता जाता है, रजिस्टर होता जाता है—वह कभी अवश्य पूरा होगा। आप सावधान रहिये—यदि आप भूतके लिए सोचेंगे तो आपके सामने भूत आयेगा और यदि भगवान्‌के लिए सोचेंगे तो आपके सामने भगवान् आयेंगे। अतः अपना चिन्तन शुद्ध रखिये।

[२२]

मानने न माननेकी बात दूसरी है, यह केवल स्मरणकी ही महिमा—किसी भी प्रकारसे भगवान्‌का स्मरण कीजिये—आपका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा।

[२३]

सेवा अपने जीवनका एक अमूल्य धर्म है, अमूल्य स्वभाव है। हमें अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए ही सेवा करनी चाहिए।

[२४]

मनुष्य, मनुष्य बनकर व्यवहार करे—माँ-बाप, नाना-नानी, दादा-दादी, ननद-भाभी बनकर नहीं, तो जीवन शुद्ध हो जाये।

[२५]

जब मनुष्यके हृदयमें आत्मा है तब कभी-न-कभी उसका प्रकाश अवश्य होगा। इसलिए कभी निराश नहीं होना चाहिए।

[२६]

आनन्द बाँटो, आनन्द बढ़ेगा। जैसे कुएँमें-से जल निकालते हो तो और-और निकलता जाता है, वैसे ही जितना-जितना आनन्द तुम दोगे उतना-उतना आनन्द तुम्हें मिलेगा।

[२७]

प्यारेको एक गिलास पानी पिलाकर जितना सुख होता है, उससे अधिक सुख स्वर्गमें जानेसे नहीं होता।

[२८]

बोलना उतना ही चाहिए जितना जरूरी हो और जो बोलनेसे दूसरेकी हानि न होती हो।

[२९ [

जो अपनी कमाईको सत्कर्ममें लगाता है वह सात्त्विक, जो राग-भोगमें लगाता है वह राजसिक और जो इकट्ठी करनेके लिए ही कमाता है—वह तामसिक प्रकृतिका होता है।

[३०]

तुमने अपने 'मैं'को 'मेरा' रूपी रस्सीके साथ जगह-जगह बाँध रक्खा है और वे सब तुम्हें अपनी-अपनी ओर खींचते रहते हैं और तुम परेशान होते रहते हो। जरा अपनी रस्सीको काट दो, तुम मुक्त हो जाओगे, परमेश्वरसे मिल जाओगे।

[३१]

व्यवहारका सुख थोड़ेमें है, अधिकमें नहीं। विस्तार जितना कम होगा, सुख उतना ही अधिक होगा।

[३२]

इच्छा करो, लेकिन ऐसी कि उसके बाद और इच्छा ही न रहे।

[३३]

जिसके जीवनमें आज्ञा-पालन और प्रतिज्ञा-पालन नहीं है, वह अपनी बुद्धिकी अवज्ञा करेगा और किसी भी चीजका निश्चय नहीं कर सकेगा!

[३४]

इस लोकमें भगवान्‌का नाम ही मनुष्यका एकमात्र सहारा है!

[३५]

चीजका मिलना अपने हाथमें नहीं है पर, चीजकी चाहको छोड़ देना अपने हाथमें है!

[३६]

ऐसा दुनियामें कोई नहीं है जिससे कभी-न-कभी, कोई-न-कोई

अपराध न हुआ हो। सबसे अपराध होता है! तो, जैसे हम अपने अपराधको क्षमा करते हैं, वैसे ही हमें दूसरेके अपराधको भी क्षमा कर देना चाहिए!

[३७]

किसी महात्मासे एक आदमीने कहा—मैं चाहता हूँ कि दुनियामें जितने लोग हैं उन सबका भला हो। महात्माके कुछ बोलनेके पहले ही पास बैठे एक दूसरे व्यक्तिने प्रश्न कर दिया—क्या यह संभव है? महात्मा बोले—यह संभव है या असंभव—यह बात और है, पर, यह बात निश्चित है कि जो यह चाहता है कि सबका भला हो—उसका भला अवश्य होगा!

[३८]

श्रद्धा माने सत्य निश्चय। श्रत् माने सत्य और द्धा माने निश्चय—सत्य निश्चय। श्रद्धाका ही दूसरा नाम विश्वास है और विश्वासमें ही श्वास है। श्वास भले ही चली जाये पर विश्वास न जाये।

[३९]

प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि दूसरेको क्रोध क्यों आता है, प्रश्न यह होना चाहिए कि दूसरेको क्रोध आये तो हम क्या करें? हमें सह लेना चाहिए।

[४०]

चिन्तनपर ध्यान रखना चाहिए। चिन्तन जैसा होता है, मनुष्य वैसा ही होता है। आप यह ध्यान रक्खें कि आप जो चिन्तन करते हैं, वह यदि क्रियान्वित करें तो आप क्या होंगे?

[४१]

किसीने प्रश्न किया—अपनी तरफ देखना कैसे शुरू हो? उत्तर दिया—दूसरोंकी तरफ देखना छोड़ दो।

[४२]

आपकी घड़ी 'वाटरप्रूफ' होती है और कपड़े 'फायरप्रूफ।' सब कुछ-न-कुछ प्रूफ होते हैं। फिर आप अपने अन्तःकरणको 'दुःखप्रूफ' क्यों नहीं

बना लेते ? अपनी 'कम्पनी' अच्छी रखिये, भक्तजनोंका सङ्ग कीजिये आपका अन्तःकरण 'दुःखप्रूफ' हो जायेगा।

[४३]

मौन रखनेसे बहुत आन्तरिक शक्ति मिलती है।

[४४]

जो याद किये बिना ही रहता है वह सच्चा है और जो याद करनेपर रहता है वह झूठा है।

[४५]

मालूम पड़नेके सिवाय दुनिया और कुछ नहीं है।

[४६]

अपने संस्कारों व बन्धनोंसे छूट जाना ही सबसे बड़ी मुक्ति है।

[४७]

जिसके जीवनमें गुरु व शास्त्र नहीं हैं उसका जीवन सूखे पेड़के समान है। जीवनको हरा-भरा रखनेवाले गुरु और शास्त्र ही हैं।

[४८]

'बासना बिसारि डारो, यही बड़ो काम है'—बाबा कहा करते थे।

[४९]

संशय अज्ञानका, मोहका बच्चा है और ज्ञानके द्वारा कटता है। जिसके हृदयमें संशय होता है, वह कभी सुखकी नींद नहीं सो सकता और जिसका संशय एक बार कट जाता है, वह हमेशाके लिए निर्द्वन्द्व हो जाता है।

[५०]

जो क्रम-क्रमसे नहीं चलता, एक साथ आगे बढ़ जाता है, उससे गलती हो जाती है।

[५१]

सदा ईश्वरका नाम लेना चाहिए। यह आपके मनको पवित्र करेगा और शक्ति देगा।

[५२]

हम कल्पवृक्षके नीचे बैठे हैं। दृढ़तासे यदि हम संकल्प करें तो कुछ भी कर सकते हैं—नया ईश्वर भी पैदा कर सकते हैं। दृढ़ता होनी चाहिए।

[५३]

आपके किये पापका भागीदार सृष्टिमें कोई नहीं है, वह आपको स्वयं भोगना पड़ेगा।

[५४]

सबका, चाहे वह कोई भी हो सम्मान करना चाहिए।

[५५]

ईश्वरका आश्रय लेकर चलना चाहिए, सफलता मिलेगी।

[५६]

जिसको हम बदल नहीं सकते, उसके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

[५७]

गुरु कर्णधार है। कर्णधार माने कान पकड़नेवाला। कर्ण माने कान और धार माने, पकड़नेवाला। जिसके जीवनमें कोई कर्णधार, कोई गुरु नहीं, वह असहाय है, अनाथ है।

[५८]

कोई भी काम करते समय यदि हम इसका ध्यान रखें तो कर्म है सो योग हो जायेगा।

१. इससे हमारे गुरु प्रसन्न होंगे या नहीं।

२. भगवान् प्रसन्न होंगे या नहीं।

३. पति प्रसन्न होंगे या नहीं।

[५९]

दुःख मनमें रहता है। मनको भगवान्‌से भर लो, वह चला जायेगा।

[६०]

तुम क्या हो ? पुर्जा-पुर्जा जोड़कर बनायी गयी एक मोटर। मोटर भी नहीं—ट्रक, जो केवल बोझा ढोती है।

[६१]

माँके पेटसे निकले थे तो क्या घड़ी पहनकर, चश्मा पहनकर, हीरा पहनकर निकले ? एक-एक करके सब इकट्ठा करते गये और अब मालिक बनकर दुःखी होते फिरते हो ?

[६२]

सम्पूर्ण अमङ्गलोंकी निवृत्ति भगवान्‌के दर्शनसे होती है। आप अमङ्गलको मत देखिये, भगवान्‌को देखिये—

मङ्गल भवन अमङ्गल हारी।
द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥

[६३]

दूसरोंसे फायदा उठाना चाहते हो तो दूसरोंको फायदा पहुँचाओ।

[६४ [

जो बीत चुका सो बीत चुका। उसके लिए सोचनेसे कुछ फायदा नहीं है। भविष्यमें सावधान रहना चाहिए।

[६५]

कर्मका फल भोगना ही पड़ता है। अच्छे कर्म करो, कर्ताको उसका फल अवश्य मिलता है।

[६६]

प्रेम और सेवा—दोसे ही ईश्वरको जीता जा सकता है।

[६७ [

विधिका विधान कुछ नहीं होता है। पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थसे मनुष्य कुछ भी कर सकता है।

[६८]

हमारे मनकी निर्बलता ही हमें दुःख देती है, वस्तुतः दुःख कहीं नहीं होता। अपने मनको बदलिये, अपनी बुद्धिको बदलिये, दुनियाको आप नहीं बदल सकते।

[६९]

तीन बातोंका ध्यान रखिये :—

१. निकम्मे मत रहिये।

२. बुरे काम मत कीजिये।

३. केवल स्वार्थके काम मत कीजिये।

[७०]

नरकसे डरो मत और स्वर्गमें जानेकी लालसा मत रखो।

[७१]

किसी भी वस्तुकी ऐसी लालसा मत रखो कि वही होना पड़े !

[७२]

आज्ञा बाहर रहती है, इच्छा भीतर ! इच्छा बाहर फेंक देती है और आज्ञा इच्छाको संयमित कर देती है।

[७३]

शरीरका सबसे बड़ा दुश्मन आलस्य है।

[७४]

वह सबसे बड़ा धनी है, जिसको कभी किसी कमीका अनुभव नहीं होता !

[७५]

वह जीते जी मरा है जो भगवान् और भगवान्‌की कथासे वञ्चित है !

कभी-कभी

कभी-कभी

(१)

कोई भी कार्य प्रारम्भ करो—नारायण, नारायण, नारायण, नारायण बोलकर करो।

(२)

कुछ भी करनेसे पहले सोच लो—क्या इससे भगवान् प्रसन्न होंगे ?

(३)

कुछ बोलनेसे पहले सोच लो—क्या यह बोलना आवश्यक है ?

(४)

अपनी ओर देखो, दूसरेकी ओर नहीं।

(५)

कभी लड़ाई नहीं करना।

(६)

पाँच मिनट समय भनवान्के लिए दो !

(७)

पाँच पैसा दान करो !

(८)

पाँच अङ्गुल जगह भगवान्के लिए हो !

(९)

ईश्वरपर भरोसा रखो !

(१०)

विनयी बनकर रहो !

(११)

किवाड़ खट-खटाओ, खुलेगी !

(१२)

अपनी 'कम्पनी' अच्छी रखो !

(१३)

जीवनमें सच्चरित्रता हो !

(१४)

'जो थ्हारी राय, सो म्हारी राय' !

(१५)

बेकारकी गप्प मत हाँको !

(१६)

बुराईको छोड़ दो, अच्छाईको अपना लो !

(१७)

संशय साँप है, इससे बचो !

(१८)

जीभ वशमें हो !

(१९)

अपना निश्चय दृढ़ हो।

(२०)

विस्मृति न हो !

(२१)

सबका आदर करो !

(२२)

हाथसे काम करते रहो, वाणीसे जप !

(२३)

कोई भी काम छोटा नहीं होता !

(२४)

किसीकी निन्दा मत करो !

(२५)

सर्वथा निर्दोष कोई नहीं होता !

(२६)

दु:खको स्वीकृति मत दो !

(२७)

व्यवहारका मूल विश्वास है !

(२८)

चरैवेति-चरैवेति !

(२९)

सुखी रहो, सुखी रखो !

(३०)

निकम्मे मत रहो !

(३१)

खुशी बाँटो !

(३२)

सद्भाव हमेशा बना रहे !

(३३)

सहते चलो, सहते चलो !

(३४)

सेवा करो !

(३५)

प्रेम बाँटो !

(३६)

मीठा बोलो !

(३७)

उत्साह बना रहे !

(३८)

अभिमान न आने पावे।

(३९)

अपनी आदत अच्छी हो !

(४०)

जीवनमें नियम अवश्य हो !

(४१)

जान-बूझकर किसीको कष्ट मत दो !

(४२)

व्यसनी मत बनो !

(४३)

मनुष्य मनुष्य बना रहे !

(४४)

दो घड़ी जीओ, चमककर जीओ !

(४५)

झूठ मत बोलो !

(४६)

हो सके तो सत्य बोलो, वर्ना चुप रहो !

(४७)

सत्य हल्का होता है, झूठ भारी !

(४८)

जिस कर्मको पाप समझते हो वह मत करो ।

(४९)

सुखको अकेले मत भोगो ।

(५०)

दुःखको बाँटो मत, सह लो !

(५१)

'यह भी नहीं रहेगा ।'

(५२)

जरूरतसे ज्यादा इकट्ठा मत करो !

(५३)

प्रेम सबसे बड़ी सेवा है !

(५४)

आलसी मत बनो !

(५५)

सबमें भगवद्भाव हो !

(५६)

सन्तोष रखो !

(५७)

सुख अपने मनमें रहता है, कहीं बाहर नहीं ।

(५८)

आत्मा ही परमात्मा है !

(५९)

श्रवण करो, श्रवण करो !

(६०)

अपने विचार दूसरोंपर मत लादो !

(६१)

मनको आज्ञाकारी बनाओ !

(६२)

अपनेको दूसरेसे बड़ा मत समझो !

(६३)

क्रोध आवे तो मुँह बन्द रखो !

(६४)

शिकायती राम मत बनो !

(६५)

चित्तमें विक्षेप न हो !

(६६)

ओठोंपर मुस्कान और, चितवनमें प्यार हो !

(६७)

जीवन सीधा-सादा सरल हो !

(६८)

छोटी-छोटी बातके लिए किसीसे बिगाड़ो मत !

(६९)

चिन्तन अनुकूल हो !

(७०)

दिलमें दिलदार रहो !

(७१)

इन्द्रियोंपर नियन्त्रण हो !

(७२)

हमेशा सावधान रहो !

(७३)

कड़ुआ मत बोलो !

(७४)

जो बोलो हँसते हुए बोलो !

(७५)

उदास न हो, निराश न हो !

आनन्द कानन प्रेस

